॥ श्री नेमिनाथाय नम ॥

ॐ

प्रद्युम्न चरित्र

(आचार्य श्री सोमकीर्ति जी कृत मूल ग्रंथ का हिन्दी रूपान्तरण)

-: प्रकाशक :-

वीतराग वाणी ट्रस्ट (रजिस्टर्ड)

मुहल्ला सैलसागर, टीकमगढ़ (म.प्र.)

पिन- ४७२००१

श्री प्रद्युम्न चरित्र

(आचार्य श्री सोमकीर्ति जी कृत मूल ग्रथ का हिन्दी रूपान्तरण)

- सम्पादन-
  प्रतिष्ठाचार्य प विमलकुमार जैन सोरया
  प्रधान सम्पादक-वीतराग वाणी 'मासिक'
  सैलसागर, टीकमगढ (म प्र)

- महावीर निर्वाण दिवस . २००२
- द्वितीयावृत्ति १०००
- मूल्य ६५ ०० रुपए

- प्रकाशक-
  वीतराग वाणी ट्रस्ट (रजिस्टर्ड)
  मुहल्ला सैलसागर, टीकमगढ (म प्र)
  पिन- ४७२००१

- मुद्रक-
  वर्द्धमानकुमार जैन सोंरया
  अरिहत आफसैट प्रिंटर्स
  सैलसागर, टीकमगढ (म प्र)
  फोन- *07683-42592*

तीर्थंकर महावीर

नाम	- वर्द्धमान, वीर, अतिवीर, सन्मति, महावीर
जन्मस्थान	- कुण्डग्राम (बिहार प्रान्त)
पिता का नाम	- श्री महाराजा सिद्धार्थ
माता का नाम	- त्रिशला देवी (प्रियकारिणी)
वंश	- नाम वंश (ज्ञातृ वंश 'नाठ' - इति पालि)
गर्भावतरण	- आषाढ शुक्ल षष्ठी, शुक्रवार १७ जून ५९९ ई.पू.
गर्भवास	- नौ माह सात दिन बारह घन्टे
जन्मतिथि	- चैत शुक्ल त्रयोदशी, सोमवार २७ मार्च ५९८ ई.पू.
वर्ण (कान्ति)	- स्वर्णाभ (हेमवर्ण)
चिन्ह	- सिंह
गृहस्थित रूप	- अविवाहित
कुमारकाल	- २८ वर्ष ५ माह १५ दिन
दीक्षातिथि	- मगशिर कृष्ण १० सोमवार २९ दिसम्बर ५६९ ई.पू.
तप	- १२ वर्ष ५ माह १५ दिन
केवलज्ञान	- वैशाख शुक्ल १० रविवार २६ अप्रैल ५५७ ई.पू.
देशना पूर्व मौन	- ६६ दिन
देशना तिथि (प्रथम)	- श्रावण कृष्ण प्रतिपदा शनिवार १ जुलाई ५५७ ई.पू.
निर्वाण तिथि	- कार्तिक कृष्ण अमावस्या मंगलवार १५ अक्टूबर ५२७ ई.पू.
निर्वाण भूमि	- पावा (मध्यमा पावा)
आयु	- ७२ वर्ष (७१ वर्ष ४ माह २५ दिन)

जन्म समय की ज्योतिर्ग्रहा स्थिति :

नक्षत्र	- उत्तरा फाल्गुनि
राशि	- कन्या
महादशा	- बृहस्पति
दशा	- शनि
अन्तर्दशा	- बुध
पूर्व भव	- अच्युतेन्द्र
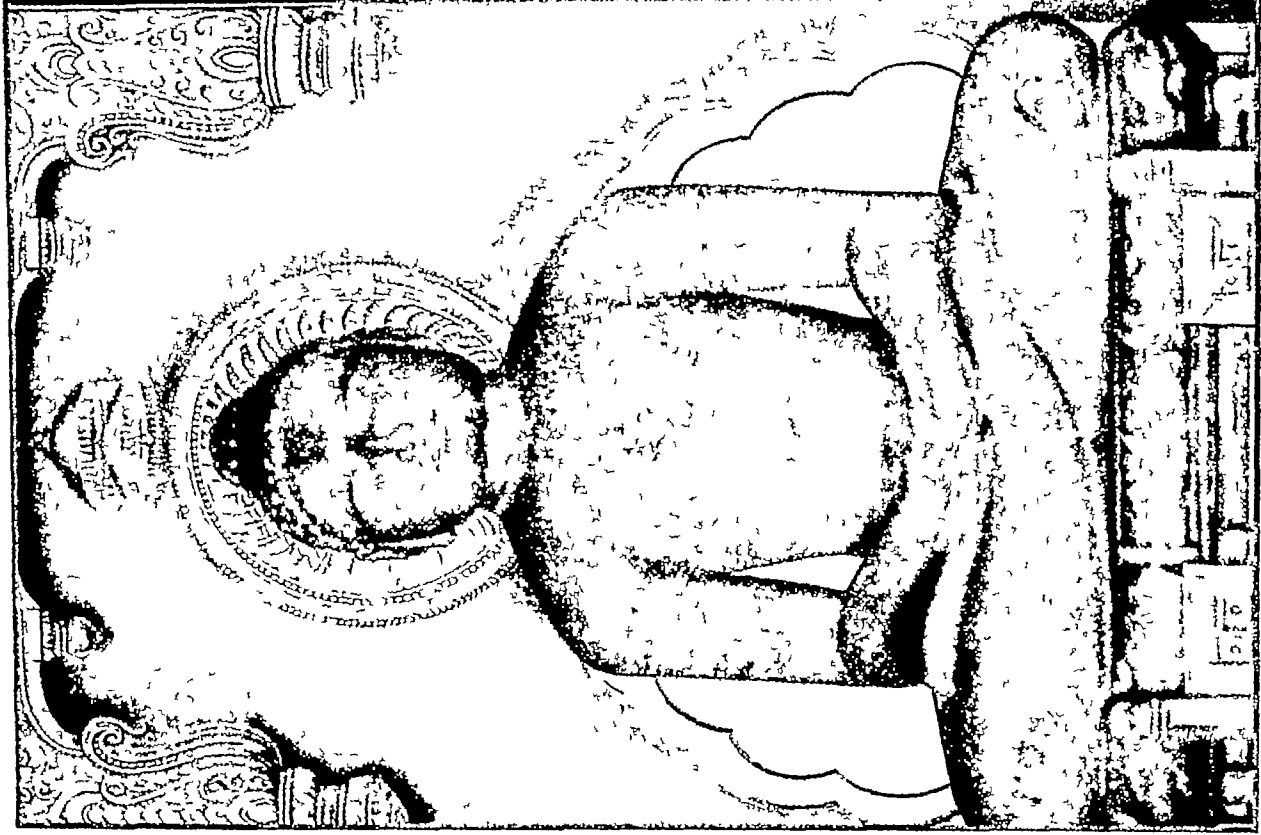
प्राक्कथन

आज से २६०० वर्ष पूर्व इस भूमण्डल पर तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी का अवतरण हुआ था । वह तन और मन दोनो से अद्भुत सुन्दर थे । उनका उन्नत व्यक्तित्व लोक कल्याण की भावना से युक्त था । उन्होने कामनाओं और वासनाओ पर विजय पाकर प्राणीमात्र के कल्याण के लिए उज्जवल मार्ग प्रशस्त किया । वह कर्मयोग की साधना के शिखर थे । उनके व्यक्तित्व मे साहस सहिष्णुता का अपूर्व समावेश था । उन्होंने मानवीय मूल्यो को स्थिरता प्रदान करते हुए, प्राणियो मे निहित शक्ति का उदघाटन कर उन्हे निर्भय बनाया । तथा अज्ञानाधकार को दूर कर सत्य और अनेकान्त के आलोक से जन नेतृत्व किया । उनका सवेदनशील हृदय करुणा से सदा द्रवित रहता था । हिसा, असत्य, शोषण, सचय और कुशील से सत्रस्त मानवता की रक्षा की, तथा वर्वर्तापूर्वक किए जाने वाले जीवो के अत्याचारो को दूर कर अहिसा मैत्री भावना का प्रचार किया ।

उनकी तप साधना विवेक की सीमा मे समाहित थी । अत. सच्चे अर्थों मे वह दिव्य तपस्वी थे । वह प्राणीमात्र का उदय चाहते थे । तथा उनका सिद्धान्त था, कि दूसरो का बुरा चाहकर कोई अपना भला नहीं कर सकता है । कार्य, गुण, परिश्रम, त्याग, सयम ऐसे गुण है जिनकी उपलब्धि से कोई भी व्यक्ति महान बन सकता है । उनका जीवन आत्म कल्याण और लोकहित के लिए बीता । लोक कल्याण ही उनकी दृष्टि और लक्ष्य था । उनका सघर्ष बाह्य शत्रुओ से नहीं अन्तरंग काम क्रोध वासनाओ से था । वह तात्कालीन समाज की कायरता, कदाचार, और पापाचार को दूर करने के लिए कटिवद्ध रहते थे । उनके अपार व्यक्तित्व मे स्वावलम्बन की वृत्ति तथा स्वतत्रता की भावना पूर्णत थी । उन्होने अपने ही पुरुषार्थ से कर्मों का नाश किया । उनका सन्देश था कि जीवन का वास्तविक विकास अहिसा के आलोक मे ही होता है । यह कथन अपने जीवन मे चरितार्थ कर साकार किया । दया प्रेम और विनम्रता ने महावीर की अहिसक साधना को सुसस्कृत किया । उनके क्रान्तिकारी व्यक्तित्व से कोटि कोटि मानव कृतार्थ हो गए ।

भगवान महावीर मे बाहृय और आभ्यातर दोनो ही प्रकार के व्यक्तित्वो का अलौकिक गुण समाविष्ट था । उनके अनन्त ज्ञान, अनत दर्शन, अनत सुख और अनत वीर्य गुणो के समावेश ने उनके आत्म तेज को अलौकिक बना दिया था । उनके व्यक्तित्व मे नि स्वार्थ साधक के समस्त गुण समवेत थे। अहिसा ही उनका साधना सूत्र था । अनत अन्तरग गुण उनके आभ्यातर व्यक्तित्व को आलोकित करते थे । वह विश्व के अद्वितीय क्रान्तिकारी तत्वोपदेशक और जन नेता थे । उनका व्यक्तित्व आद्यन्त क्रान्तिकारी त्याग तपस्या सयम अहिसा आदि से अनुप्रमाणित रहा ।

भगवान महावीर स्वामी द्वारा प्रवोधित द्वादशाग वाणी ही जैनागम है समस्त जैनागम को चार भागो मे विभक्त किया गया है जिन्हे चार अनुयोग भी कहते है इनसे सम्पूर्ण श्रुत का ज्ञान जानना चाहिए । श्रुत विभाजन की आशिक जानकारी निम्नानुसार है -

प्रथमानुयोग- इस अनुयोग अन्तर्गत कथाऐ, चरित्र व पुराण है । यह सम्यक् ज्ञान है । इसमे परमार्थ विषय का अथवा, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप चार पुरुषार्थों का, त्रेसठ शलाका पुरुषो के चरित्र का कथन है । दृष्टिवाद के तीसरे भेद अनुयोग मे पाच हजार पद है । इसके अन्तर्गत अवान्तर भेदो मे त्रेसठ शलाका पुरुषों के चरित्र का वर्णन है । मिथ्यादृष्टि, अव्रती, अल्पज्ञानी व्यक्तियो के उपदेश हेतु यह प्रथमानुयोग मुख्य है ।

करणानुयोग- कर्म सिद्धान्त व लोक अलोक दिमाग को, युगो के परिवर्तन को तथा चारो गतियो को दर्पण के समान प्रगट कराने वाला ही सम्यक्ज्ञान है । इस अनुयोग से उपयोग लगता है । पापवृत्ति छूटती है । धर्म की वृद्धि होती है तथा तत्व ज्ञान की प्राप्ति शीघ्र होती है । जीव के कल्याण मार्ग पर चलने केलिए विशेष रूप से यह करणानुयोग है ।

चरणानुयोग- जीव के आचार विचार को दर्शाने वाला सम्यक्ज्ञान है । यह गृहस्थ और मुनियो के चरित्र की उत्पत्ति, वृद्धि, रक्षा के अगभूत ज्ञान को चरणानुयोग शास्त्र के द्वारा विशेष प्रकार से जाना जाता है । जीव तत्व का ज्ञानी होकर चरणानुयोग का अभ्यास करता है । चरणानुयोग के अभ्यास से जीव का आचरण एक देश या सर्वदेश वीतराग भाव अनुसार आचरण मे प्रवर्तता है ।

द्रव्यानुयोग- इस अनुयोग मे चेतन और अचेतन द्रव्यो का स्वरूप व तत्वो का निर्देश रूँप कथन है । इसमे जीव, अजीव, सुतत्वो को, पुण्य, पाप,

श्री प्रद्युम्न चरित्र

बध, मोक्ष को तथा भाव श्रुत रूपी प्रकाश को विस्तार से प्रस्तुत किया गया है । इस अनुयोग अर्न्तगत शास्त्रो मे मुख्यत शुद्ध-अशुद्ध जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश काल रूप अजीव द्रव्यो का वर्णन है । जिनको तत्व का ज्ञान हो गया है ऐसा भव्य जीव द्रव्यानुयोग का प्रवृत्ति रूप अभ्यास करता है ।

इसके अतिरिक्त वस्तु का कथन करने मे जिन अधिकारो की आवश्यकता होती है । उन्हे अनुयोग द्वार कहते है । इस प्रकार भगवान महावीर स्वामी की परम्परा मे गणधर आदि महान पुरुषो ने द्वादशाग रूप दिव्य वाणी का परियोध इन अनुयोगो के माध्यम से प्रतिपादित किया है । परम्पराचार्यों की वाणी के अनुराधक विद्वत् जनों द्वारा अन्य अन्य विद्याओ के माध्यम से उसे प्रस्तुत किया गया है । जन जन के हितार्थ तथा भव्यो की आत्मा के कल्याणार्थ भगवान महावीर स्वामी के दिव्य २६ सौ वे जन्मोतसव के पावन प्रसग पर वीतराग वाणी ट्रस्ट द्वारा छव्वीस ग्रथों को प्रकाशित करते हुए अपने आपको गौरवशाली अनुभव करता हूँ ।

हम सब अहोभाग्यशाली है कि हम सब के जीवन मे अपने आराध्य परमपिता देवाधिदेव अतिम तीर्थेश भगवान महावीर स्वामी का सन् १९७३ मे पच्चीस सौ वा निर्वाण महोत्सव मनाने का परम सयोग मिला था । और सन् २००१ मे छव्वीस सौ वा जन्मोतसव अहिसा वर्ष के रूप मे मनाने का सुयोग साकार हुआ । इस महामानव के सम्मान मे भारत सरकार ने भी इसे विश्व स्तर पर अहिसा वर्ष के रूप मे चरितार्थ करने का विश्व स्तर पर जो आयोजन साकार किया है वह विश्व जन मानुप को अवश्य अहिसा, सत्य के सिद्धान्त का परिज्ञान तो देगा ही उसकी महत्ता को प्रतिपादित करने तथा भगवान महावीर के पवित्र आदर्शों पर चलने की प्रेरणाऐ भी प्रदान करेगा । जहाँ सपादक ने सन् १९७३ मे भगवान महावीर स्वामी के २५ सौ वे निर्वाण महोत्सव पर एक सौ वर्ष मे देश मे हुए दिगम्बर जैन विद्वानो, साहित्यकारो, कविगणो, पण्डितो के अलावा समस्त दिगम्बर जैन महाव्रती जनो के सचित्र जीवन वृत्त उनके उन्नत कृतित्व और अपार व्यक्तित्व के साथ लिखकर विद्वत् अभिनदन ग्रथ के रूप मे प्रकाशित किया था । आज उन्हीं तीर्थेश भगवान महावीर स्वामी के छव्वीस सौ वें जन्मोतसव पर उनकी पावन स्मृति मे भगवान महावीर स्वामी की परम्परा मे जन्में हमारे परमाराध्य परम्पराचार्यों तथा उनके ही आधार पर लिखित मूर्धन्य विद्वानो द्वारा प्रणीत २६ प्रकार के आगम ग्रथो के मात्र हिन्दी रूपान्तर प्रकाशन के सकल्प को साकार किया है ।

अपने स्वर्गीय पिता श्रीमान् सिघई प गुलजारीलाल जी जैन सोरया एवं माँ स्व श्रीमती काशीवाई जी जैन की पावन स्मृति मे स्थापित वीतराग वाणी ट्रस्ट रजिस्टर्ड टीकमगढ़ (म प्र) के अन्तर्गत इन ग्रथो का प्रकाशन साकार किया गया है । भगवान महावीर स्वामी की परम्परा के महानतम आगम आचार्य भगवत पुष्पदन्ताचार्य, श्रीसकल कीर्ति आचार्य, श्रीवादीभसिह सूरि, श्री शुभचन्द्राचार्य, श्रीरविपेणाचार्य श्री सोमकीर्ति आचार्य, सिद्धान्त चक्रवर्ति श्री नेमिचन्द्राचार्य जैसे जैन वागमय के महान आचार्यों के चरणो मे त्रिकाल नमोस्तु कर कृतज्ञता ज्ञापित करते है जिनके द्वारा रचित प्रथमानुयोग के मूल ग्रथो के आधार पर हमारे सुधी विद्वानों ने हिन्दी टीका करके जनसामान्य के लिए सुलभता प्रदान की है । हम उन हिन्दी टीकाकार महान विद्वानो मे- श्री प भूधरदास जी, श्री पं दौलतरम जी, श्री प परमानद जी मास्टर, श्री प नदलाल जी विशारद, श्री प गजाधरलाल जी, श्री पं लालाराम जी, श्री प श्रीलाल जी काव्यतीर्थ, श्री प्रो डॉ हीरालाल जी एव डॉ प श्री पन्नालाल जी साहित्याचार्य के प्रति कृतज्ञ है जिनकी ज्ञान साधना के श्रम के फल को चखकर अनेको भव्यो ने अपना मोक्ष मार्ग प्रशस्त किया ।

अत मे ट्रस्ट की ग्रथमाला के सहसम्पादक के रूप में युवा प्रतिष्ठाचार्य विद्वान श्री पं वर्द्धमानकुमार जैन सोरया, चिं डॉ सर्वज्ञदेव जैन सोरया टीकमगढ़ एवं श्रीमती सुनीता जैन एम एस-सी , एम ए, विलासपुर को आशीर्वाद देता हूँ जिनके निरन्तर अथक श्रम से इन ग्रथों का शीघ्रता से प्रकाशन सम्भव हो सका । ऐसे अलौकिक समस्त जीवों के उपकारी तीर्थकर महावीर स्वामी के २६ सौ वें जन्म वर्ष की पुनीत स्मृति में उनके ही द्वारा उपदेशित अध्यात्म ज्ञान के अलौकिक ज्ञान पुज २६ ग्रथों के प्रकाशन का सकल्प साकार करते हुए अत्यत प्रमोद का अनुभव कर रहा हूँ । यह ग्रथ अवश्य भावी पीढियों कों आध्यात्म का मार्ग प्रशस्त करते रहेगे । आशा है इससे भावी भव्य जन अपना निरन्तर उपकार करते रहेगे ।

प्रतिष्ठाचार्य प विमलकुमार जैन सोंरया
अध्यक्ष-वीतराग वाणी ट्रस्ट रजि
प्रधान सम्पादक-वीतरागवाणी मासिक

सैलसागर, टीकमगढ़ (म प्र)
''भगवान महावीर निर्वाण दिवस''
४ नवम्बर २००२

श्री प्रद्युम्न चरित्र

श्री प्रद्युम्न चरित्र ग्रंथ के मूल रचयिता भगवंत आचार्य श्री सोमकीर्ति जी का

संक्षिप्त जीवन परिचय

पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रमुख साहित्य सेवियो मे भट्टारक सोमकीर्ति की गणना की गयी है । आत्मसाधना के साथ स्वाध्याय, साहित्यसृजन एव शिष्यो के पठन-पाठन मे ये प्रवृत्त रहते थे । ये काष्ठासघ की नन्दितट-शाखा के भट्टारक थे तथा १० वीं शताब्दी के प्रसिद्ध भट्टारक रामसेन की परम्परा मे होनेवाले भट्टारक थे । इनके दादागुरु का नाम लक्ष्मीसेन और गुरु का नाम भीमसेन था । इन्होने स १५१८ मे रचित एक ऐतिहासिक पट्टावली मे अपने आपको काष्ठासघ का ८७ वाँ भट्टारक लिखा है । साहित्यिक और पट्टावलियो के निर्देश से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि वि स १५१८ मे इन्हे भट्टारकपद प्राप्त हो चुका था । श्रीविद्याधर जोहरापुरकर ने इनका समय वि स १५२६-१५४० बतलाया है । जोहरापुरकर ने लिखा है- "भीमसेन के पट्टशिष्य सोमकीर्ति हुए । आपने सवत् १५३२ मे वीरसेन सूरि के साथ एक शीतलनाथस्वामी की मूर्ति स्थापित की (ले ६५१) । सवत् १५३६ मे गोढिली मे यशोधरचरित की रचना पूरी की (ले ६५२) तथा सवत १५४० मे एक मूर्ति स्थापित की (ले ६५३), आपने सुल्तान पिरोजशाह के राज्यकाल मे पावागढ मे पद्मावती की कृपा से आकाशगमन का चमत्कार दिखलाया था (ले ६५४) ।"

सोमकीर्ति ने 'प्रद्युम्नचरित' और 'सप्तव्यसनकथा' की रचना क्रमश वि स १५३१ तथा १५२६ मे की है । अतएव सोमकीर्ति का समय १५२६ के पूर्व होना चाहिये । जिन मूर्तिलेखो मे इनका नामाकन मिलता हे, वे मूर्तिलेख वि स १५२६ के पश्चात् के हे । इन्होने कुछ प्रतिष्ठाएँ करायी थीं । एक मूर्तिलेख मे आया है-

"सवत् १५२७ वर्षे वैशाख सुदि ५ गुरौ श्रीकाष्ठासघे नदतटगच्छे विद्यागणे भट्टारक श्री सोमकीर्ति आचार्य श्री वीरसेन युगवै प्रतिष्ठिता । नरसिह राज्ञा भार्या सापडिय गोत्रे लाखा भार्या माकू देल्हा भार्या मान् पुत्र बना सा कान्हा देल्हा केन श्री आदिनाथ बिम्ब कारापिता ।" अर्थात् वि स १५२७ वैशाख सुदी पन्चमी को इन्होने वीरसेन के साथ नरसिह एव उसकी भार्या सापड़िया के द्वारा आदिनाथस्वामी की मूर्ति प्रतिष्ठित की थी । वि स १५३२ वीरसेनसूरि के साथ शीतलनाथ स्वामी की मूर्ति प्रतिष्ठित की थी । वि स १५३६ मे अपने शिष्य वीरसेनसूरि के साथ हूँवड़ जातीय श्रावक भूपा भार्या राज के अनुरोध से चौबीसी मूर्ति प्रतिष्ठित की थी । वि स १५४० मे भी इन्होने एक मूर्ति की प्रतिष्ठा करायी थी ।

इन सब तिथियों से स्पष्ट है कि भट्टारक सोमकीर्ति का जन्म वि स १५०० के आस-पास होना चाहिये । ऐतिहासिक पट्टावली के अनुसार वि स १५१८ मे इन्हे भट्टारकपद प्राप्त हो चुका था । इनके कार्यकाल का ज्ञान वि स १५४० के पश्चात् नहीं होता हे । इनकी अवस्था यदि ६० वर्ष की भी रही हो, तो इनका जन्म वि स १४८० के लगभग आता है ।

इनके शिष्यो मे यश कीर्ति, वीरसेन और यशोधर ये तीन प्रधान है । इनकी मृत्यु के पश्चात् यश कीर्ति ही भट्टारक बने । सोमकीर्ति लब्धप्रतिष्ठ विद्वान थे और इनकी वाणी मे अमृत जैसा प्रभाव था ।

रचनाऍ- आचार्य सोमकीर्ति ने सस्कृत एव हिन्दी इन दोनो ही भाषाओ मे ग्रन्थप्रणयन किया हे । उपलब्ध रचनाएँ निम्न प्रकार हे-

संस्कृत रचनाऍ- १ सप्तव्यसनकथा २ प्रद्युम्नचरित ३ यशोधरचरित ।

राजस्थानी रचनाएँ- १ गुर्वावलि २ यशोधररास ३ ऋषभनाथ की धूलि ४ मल्लिगीत ५ आदिनाथविनती । इस प्रकार सोमकीर्ति ने अहिसा, श्रावकाचार, अनेकान्त आदि विषयो का प्रतिपादन किया हे ।

("तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा"
लेखक स्व डॉ नेमिचन्द्र ज्योतिपाचार्य ग्रथ से साभार)

श्री प्र द्यु म्न च रि त्र

विषय सूची

* स्वाध्याय करते समय इसे पढ़ना आवश्यक है ।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

ओंकार बिन्दुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव, ओंकाराय नमो नमः ॥१॥
अविरलशब्दघनौघ प्रक्षालितसकलभूतलकलंका ।
मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥२॥

अज्ञानतिमिरांधानां ज्ञानांजनशलाकया । चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

श्रीपरमगुरवे नमः, परम्पराचार्य श्रीगुरवे नमः ।

सकलकलुषविध्वंसकं श्रेयसां परिवर्धकं धर्म संबंधकं भव्यजीवमनः प्रतिबोध-कारकमिदं शास्त्रं "श्री प्रद्युम्न कुमार चरित्र" नामधेयं, एतन्मूलग्रन्थकर्त्तारः श्रीसर्वज्ञदेवा-स्तदुत्तरग्रंथकर्त्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचोऽनुसारमासाद्य श्री सोमकीर्ति आचार्येण विरचितम् ।

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी ।
मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो जैन धर्मोऽस्तु मंगलम् ॥
सर्व मंगल्य मांगल्यं सर्व कल्याण कारकं ।
प्रधानं सर्व धर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥

सर्वे श्रोतारः सावधानतया श्रृण्वन्तु ॥

॥ श्री नेमिनाथाय नम ॥।

प्रद्युम्न चरित्र

प्रथम सर्ग

मंगलाचरण

श्रीमत सन्मति नत्वा नेमिनाथ जिनेश्वरम् । मदन विश्वजेतापि वाधतु नो शशाकयम् ॥
वर्द्धमान जिन नत्वा वर्द्धमान सतामिह । यद्दु पदर्शनाज्जात. सहस्र नयनो हरि ॥
प्रणम्य भारती देवीं जिनेन्द्र वचनोद्‌गताम् । चरित्र कृष्ण पुत्रस्य वक्ष्ये सूत्रानुसारत· ॥

भावार्थ- समवशरणादि स्वरूप अन्तरंग एवं बहिरंग वैभव-लक्ष्मी से युक्त श्री महावीर स्वामी तथा विश्वविजयी कामदेव की बाधा से रहित भगवान नेमिनाथ को हम नमस्कार करते हैं । जिनके दर्शन मात्र से सौधर्म इन्द्र सहस्त्राक्ष हुए थे, ऐसे वर्द्धमान स्वामी को एवं पवित्र जिनवाणी के प्रकाशक जिन भगवान को नमस्कार कर पूर्वाचार्यो के कथनानुसार श्रीकृष्ण नारायण के पुत्र श्री प्रद्युम्नकुमार का चरित्र लिखना प्रारम्भ किया जाता है ।

यद्यपि जिस चरित्र का वर्णन महासेनादि आचार्यो ने किया है, हम उस निर्मल चरित्र को कैसे लिख सकते है ? फिर भी उनके चरणों की जो कृपा प्राप्त हुई है, उससे विश्वास है कि प्रद्युम्न चरित्र लिखने मे हमे कठिनाई न होगी । आरम्भ मे ही हम संसार के समस्त उपकारी महानुभावों को नमस्कार करते हैं

श्री प्रद्युम्न चरित्र

एव साथ ही दुर्जनो को भी धन्यवाद देते है, क्योकि उनके प्रसाद से भी हमे शिक्षा प्राप्त होती है । हम स्वीकार करते हैं कि कहॉ हमारी मन्द बुद्धि तथा कहॉ यशस्वी प्रद्युम्न (अपने युग के कामदेव) का प्रशस्त निर्मल चरित्र ? यद्यपि हमारा यह प्रयत्न उपहास योग्य ही है, फिर भी हम आशा करते है कि उसमे सफलता प्राप्त होगी । यह शुभ चरित्र पापों का विनाशक है, पुण्य प्राप्त कराने वाला है । इसके श्रवण तथा मनन से सत्पुरुषो की ज्ञान-वृद्धि होगी एव बालकों की बुद्धि तीव्र होगी ।

इस भूमण्डल पर जम्बू-वृक्षों के आकार से सुशोभित जम्बू नामक एक द्वीप है । श्री बाहिनीनाथ माण्ड़लीक इसकी रक्षा करते है । जम्बू द्वीप सुवृत्त एवं गोलाकार है । इसी द्वीप का एक भाग भरतक्षेत्र है, जो तीर्थंकरों के पचकल्याणक स्थानों से युक्त पवित्र तीर्थ है । इस क्षेत्र में मगध नामक देश अपनी मनोरम सुन्दरता के लिए विश्व-विख्यात है । उस मगध के राजगृह नगर का भला कौन वर्णन करे, जो अपने भव्य जिन-मन्दिरो के कारण स्वर्ग की अलकापुरी को भी पराजित कर रहा था । एक समय इसी प्रसिद्ध नगर का राजा श्रेणिक था, जिसकी वीरता एवं सच्चरित्रता अखिल विश्व में प्रसिद्ध थी । वह सत्पुरुषों की रक्षा मे लीन, आचार-धर्म का पालक तथा सम्यक्त्व से सुशोभित था । राजा श्रेणिक की प्रिय पत्नी चेलना महान पतिव्रता थी । उसकी सुन्दरता के समक्ष देवांगनायें भी लज्जित होती थीं । वह पवित्र हृदय, सम्यक्त्व में आस्थावान् निर्मल चरित्र तथा परम धार्मिक थी । महाराज श्रेणिक ने दीर्घ काल तक उसके साथ सुख से आनन्द-विहार किया ।

नाना प्रकार के मनोहर उद्यानों से सुशोभित विपुलाचल पर्वत पर एक समय श्री महावीर स्वामी का समवशरण आया । जिनेन्द्र भगवान के अतिशय के प्रभाव से वहॉ फल-पुष्पों की परिपूर्णता हो गयी । हिंसक जन्तुओं में पारस्परिक बैर-भाव विस्मृत हो गया । उद्यान की ऐसी मनोरमता देख कर वहॉ का माली बडा आश्चर्यचकित हुआ। कारण ढूँढने के लिए वह प्रयत्न करने लगा । जब उसे भगवान का समवशरण दिखलाई पड़ा, तो उसकी प्रसन्नता की सीमा न रही ।

माली ने राजोद्यान में एक संग खिल आए सभी ऋतुओं के सुगन्धित पुष्प तोडे तथा उन्हे लेकर वह राजा श्रेणिक की सभा में गया । उसने महाराज को पुष्प भेंट किये तथा प्रार्थना पूर्वक निवेदन किया- 'हे राजन् ! हमारे नगर के निकट विपुलाचल पर्वत पर केवलज्ञान के धारक चरम तीर्थंकर श्री वर्द्धमान स्वामी

श्री प्रद्युम्न चरित्र

का आगमन हुआ है। उनकी कृपा से आपकी आयु-वृद्धि हो एवं आप सर्वगुण सम्पन्न बनें । तीर्थंकर भगवान के आगमन का सुसम्वाद सुनते ही राजा श्रेणिक सिंहासन से उठ कर खड़ा हो गया तथा उसने सात कदम सम्मुख चल कर भगवान को प्रणाम किया । सत्य है, परोक्ष का विनय ही सज्जनों का लक्षण होता है । राजा श्रेणिक ने अपने धारण किये हुए सोलहों प्रकार के वस्त्राभूषण उतार कर माली को पुरस्कार में दे दिये, तत्पश्चात् आनन्द-भेरी बजवा नागरिकों को एकत्रित कर परिवार के साथ भगवान की वन्दना के लिए चला । जिस समय राजा श्रेणिक को समवशरण दृष्टिगोचर हुआ, तो वह गजराज से उतर पड़ा तथा अपने राज-वेश का परित्याग कर दिया । समवशरण में पहुँचते ही मानस्तम्भ के प्रभाव से उसका समस्त गर्व चूर्ण हो गया । उसे हृदय में अपूर्व भक्ति उत्पन्न हुई । उसने महावीर स्वामी की करबद्ध तीन प्रदक्षिणाएँ दीं तथा प्रसन्न होकर निम्न प्रकार स्तवन किया-

'हे प्रभो ! आप तीनों लोक के स्वामी हैं । सत्पुरुष आपकी वन्दना करते हैं । आप कामविजयी तथा संसाररूपी समुद्र में पोत तुल्य हैं । आप मोह सदृश विकट सुभट के विनाशक, चिन्तामणि प्रदायक तथा केवलज्ञान की प्रतिमूर्ति हैं । आदिपुरुष, तेजस्वी, स्वयम्भू तथा स्वयंबुद्ध आप ही हैं । हे स्वाभाविक आनन्द की प्रतिमूर्ति दुःख-शोकादि विनाशक, जरा-मरणादि से रहित सम्यक् रत्नत्रय से मण्डित, मान-माया से विमुक्त, प्रथमानुयोग-करुणानुयोग-चरणानुयोग एवं द्रव्यानुयोग अर्थात् चारों शास्त्रों (वेदों) में आपकी ही महिमा गायी गयी है । अपने अपूर्व तेज से आप कोटि सूर्यों के सदृश दैदीप्यमान हैं । कोटि चन्द्रमाओं के सदृश आपकी कान्ति विश्व को प्रकाशित करती है । इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं कि आपके दर्शन मात्र से पाप समूल नष्ट हो जाते हैं । आपका ज्ञान तीनों लोकों में व्याप्त है । अतः आप ही विष्णु, महेश तथा ब्रह्मा हैं । आप संसार-बन्धन से सर्वथा मुक्त, सत्पुरुषों के तारक तथा धर्म-चक्र के चालक हैं । आप भव्य-जीवों की सुख परम्परा की वृद्धि करते हैं । आप जिन ईश्वर अर्थात् जिनेश्वर हैं ।' तत्पश्चात् राजा श्रेणिक ने जगद्गुरु श्री महावीर स्वामी का स्तवन कर अष्टांग नमस्कार किया । जल-गंधादि अष्ट द्रव्यों से उसने भगवान की पूजा की तथा वहाँ की बारह सभाओं में जो मनुष्यों के लिए कक्ष (स्थान) नियत था, वहाँ आसीन हो गया ।

इसके पश्चात् भगवान महावीर का धर्मोपदेश प्रारम्भ हुआ । उन्होंने बतलाया कि धर्म के दो मार्ग हैं-

एक सागार तथा दूसरा अनागार । गृहस्थ के लिए सागार धर्म का विधान है तथा यतियों के लिए अनागार
धर्म का । गृहस्थ-धर्म से स्वर्ग की प्राप्ति होती है तथा यति-धर्म से मोक्ष की । उक्त धर्मों के तेरह भेद
है । पंच महाव्रत- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं परिग्रह । पंच समिति- ईर्या, भाषा, एषणा, आदान
तथा निक्षेपण । तीन गुप्ति- मनोगुप्ति, वचनगुप्ति एवं कायगुप्ति । इसके अतिरिक्त यतियों के लिए
अट्ठाईस मूलगुण तथा असख्य उत्तर गुण भी मोक्ष के साधक बतलाये गये हैं । गृहस्थों के लिए भी बारह
व्रत कहे गये हैं- पंच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, (दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्ड त्याग) तथा चार शिक्षाव्रत
(देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास, वैयावृत्त) पुनः श्रावकों के अष्ट मूलगुणो का अर्थात् ऊम्बर,
कठूम्बर, बड़, पीपर, पाकर इन पंच उदम्बरों का एवं मद्य, मॉस तथा मधु इन तीन मकारों के त्याग का
वर्णन है । यह गृहस्थ-धर्म स्वर्गादि सुखों का देनेवाला है एवं परम्परा के अनुसार मोक्ष का साधन है ।
अतएव सत्पुरुषों को चाहिये कि वे सर्वप्रथम गृहस्थ-धर्म का ही पालन करें ।'

इस प्रकार धर्म का स्वरूप सुनकर श्रेणिक को बड़ी प्रसन्नता हुई । सो उचित ही है, धर्म-कथा का
श्रवण कर सत्पुरुषों को सन्तोष होता ही है । तदनन्तर निवेदन करने का योग्य अवसर देखकर राजा
श्रेणिक ने प्रार्थना की-'हे भगवन् ! मेरी अभिलाषा है कि श्रीकृष्ण नारायण के पुत्र प्रद्युम्न का चरित्र सुनूँ।
वह कहाँ उत्पन्न हुआ था ? वह कैसे शत्रुओं द्वारा हरण किया गया ? उसने कैसे-कैसे महान् कृत्य सम्पन्न
किये ? उसे कैसी विभूतियाँ प्राप्त हुई ? वह किस प्रकार पराक्रमी तथा शक्ति-सम्पन्न हुआ ? यह समग्र
कथानक आपसे सुनना चाहता हूँ, क्योंकि आप सन्देहरूपी अंधकार को दूर करने में सूर्यवत् समर्थ हैं ।
अतएव आप कृपा करें, जिससे मेरा संशय-संदेह दूर हो ।'

उत्तर में वीरनाथ भगवान ने कहा- 'हे राजन् ! तुम्हारा प्रश्न बड़ा ही उत्तम है । प्रद्युम्न कुमार का
पवित्र चरित्र पापो का क्षय करने वाला है । बडे पुण्य से ऐसे चरित्र सुनने की अभिलाषा चित्त में उत्पन्न
होती है । सत्पुरुष ही इस निर्मल चरित्र को सुनते हैं, अन्य नहीं । इसलिये हे देवानाप्रिय महाभाग ! दत्तचित्त
होकर श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न का चरित्र सुनो ।' भगवान की ऐसी पवित्र वाणी सुनकर बारहों सभा के
समस्त प्राणी स्थिर चित्त होकर बैठ गये। उनमें भी ऐसे उत्तम चरित्र को सुनने की उत्कण्ठा उत्पन्न हो
गई ।

जिस अलौकिक चरित्र को सुनने की अभिलाषा महाराज श्रेणिक ने प्रकट की, श्रीवीरनाथ भगवान ने जिसका वर्णन आरम्भ किया, उस चरित्र का श्रवण करने से उत्तम पद प्राप्त होते हैं । अतएव सत्पुरुषों को चाहिये कि वे दत्तचित्त होकर इस चरित्र को सुनें ।

द्वितीय सर्ग

इस लोक में जम्बूद्वीप नाम का एक प्रसिद्ध द्वीप है, जो स्वयंभूरमण समुद्र पर्यन्त विस्तृत है उसके दक्षिण में भरतक्षेत्र सुशोभित है । तीर्थंकरों के पंचकल्याणक स्थानों के होने के कारण वह तीर्थ-स्वरूप है । वहॉ जिनकल्याणक की रचना करने वाले देवों का सर्वदा आगमन होता रहता है । अतः वह पापनाशक पवित्र स्थान है ।

उसी भरतक्षेत्र में पुण्यमय एवं देवोपम सौराष्ट्र नामक एक देश है । वहॉ के उद्यानों के गन्ने भूमि पर नहीं गिरते । उन्हें भय रहता है कि हम नीच पुरुषों के द्वारा बॉधे जायेंगे । सरोवरों में कमल-पुष्पों की शोभा एवं राजहंसों का कलरव सदा चित्त को आकर्षित करता रहता है । निर्मल जल से परिपूर्ण वहॉ की सदानीरा नदियों के तट पर पुष्पों की अपूर्व शोभा एवं चक्रवाक के शब्दों से ज्ञात होता है कि मानो वे प्रवासियों का स्वागत कर रहे हैं । वहॉ के मनोहर जलाशय एवं दानशालायें नगर की महत्ता बतला रही हैं । ग्राम इतने समीप हैं कि एक ग्राम का कुक्कट उड़कर अन्य ग्राम में सरलता से जा सकता है । उद्यानों की कतारें ऐसी हैं, मानो प्रकृति ने स्वर्गलोक की रचना कर दी हो । धान्य के पौधे परिपक्व होकर इस प्रकार नीचे झुके हैं, मानो वे जल को पीने के लिए नीचे झुके हों । वहाँ कभी दुर्भिक्ष की आशंका नहीं रहती । नगर की बाह्यवर्ती भूमि शस्य-श्यामला दिखलाई देती है तथा वह गायों के चरने के लिए छोड़ दी गयी है । वहॉ के वन-प्रान्तर में नागबेलें सुपारी के वृक्षों से लिपटी हैं, अतः ताम्बूल सेवन करने वाले केवल चूना लेकर ही वहॉ जाते हैं । स्थान-स्थान पर कदली, केला, ताड़ तथा दाख (अंगूर) की लतायें शोभा दे रही हैं, अतः वहॉ के निवासी बिना कलेवा लिए ही यात्रा करते हैं ।

ऐसे सौराष्ट्र देश में स्वर्गपुरी सदृश द्वारिका नगरी है । वहॉ की अन्तरंग एवं बहिरंग दोनों शोभायें इन्द्र की अलकापुरी की समता करती हैं । वापिका, कूप, सरोवर, वन वाटिका आदि देख कर अपूर्व मनोरमता

का भान होता है । उस नगरी में सुवर्ण भीतों एवं मणिमुक्ताओं से खचित सात-सात, आठ-आठ खण्ड के भव्य प्रासाद (महल) हैं । श्वेत प्रासाद के गवाक्ष मे बैठी हुई नारियों को देखकर सहसा शुक्ल पक्ष की आशंका होती है । नगर में स्थान-स्थान पर जलाशय तथा जिन-मन्दिर निर्मित है, भव्य प्राणी धार्मिक उत्सव सम्पन्न कराते रहते हैं । सीमा पर उत्तुंग कोट है एवं समुद्र की प्राकृतिक खाई से घिरा नगर अपनी सुन्दरता में अत्यधिक रमणीय दिखता है । यहाँ देश-देशान्तर से मनुष्य आकर निवास करते हैं । समुद्र के मध्य में होने से ऐसा प्रतीत होता है कि यह घेरा इसलिये है कि रत्नों को लिए हुए कोई पलायन न कर जाय । रत्नजड़ित स्वर्ण-महलों से उस द्वारावती (द्वारिका नगरी) की शोभा अपूर्व दिखाई देती है । पण्यों (बाजारों) में रत्नो के ढेर लगे हैं । लगातार गजराजों के आवागमन से राजमार्ग कीचड़-युक्त हो रहे हैं। क्योंकि वहाँ के प्रतापी राजा सदैव वही स्थायी निवास करते थे, अतः द्वारावती संसार की प्रमुख राजधानी बन रही थी । वहाँ की नारियों का लावण्य देवांगनाओं को भी लज्जित करता था । वह नगरी ऐसी मोहक प्रतीत होती थी, मानो तीनों लोक के सार पदार्थों का संग्रह कर उसकी रचना की गई हो ।

हमारे कथा-काल में इसी द्वारावती नगरी में श्रीकृष्ण नारायण नामक राजा राज्य करते थे । उस काल में न तो कोई वैसा ज्ञानी था, न दाता, न भोक्ता एवं न विवेकी । वस्तुतः वह अपनी प्रजा को पुत्र के तुल्य समझते थे । उन्होंने बाल्यावस्था में ही कंसादिक सदृश प्रबल शत्रुओं का विनाश किया एवं गोवर्धन पर्वत उठाकर गौओं की रक्षा की । यमुना नदी में कालिया नाग को नाश कर उन्होंने नागसज्जा, धनुष एवं शंख प्राप्त किये थे, उन्होंने जरासंघ के भाई अपराजित को युद्ध में परास्त किया, उनकी शूरता का वर्णन कहाँ तक किया जाय ? उनको समुद्राक्ष नामक देव ने समुद्र को पीछे हटा कर बारह योजन भूमि प्रदान की, उनके अपूर्व बल को देखकर इन्द्र ने द्वारकापुरी की रचना के लिए कुबेर को आज्ञा दी । वे सबके मित्र थे, सबके रक्षक थे । वे याचकों के लिए कल्पवृक्ष सदृश, शत्रुओं के लिए राहु सदृश एवं यादव वंशियों के कुलरूपी समुद्र की वृद्धि हेतु चन्द्रमा के तुल्य थे । उस समय ऐसा कोई अन्य राजा न था, जो उनकी समानता कर सके । उनके पराक्रम को देखकर अन्य राजाओं ने अपनी शूरता का अभिमान त्याग दिया था। उनमें गुण-ही-गुण थे, अवगुण तो थे ही नही । दिग्विजय की ओर आती हुई उनकी सेना के पदाचरण से मार्ग की धूलि से आकाश ऐसा व्याप्त हो जाता था, मानो वह कोई अन्य भूमि हो । उनकी निर्दोष महत्ता

देखकर इन्द्र ने भी ऐश्वर्यादि का ममत्व त्याग दिया था । उनकी स्थिर बुद्धि गम्भीर एवं सज्जनों के पालन मे तत्पर थी । जिसने पर-स्त्रियों को वक्षस्थल, शत्रुओं को पीठ एव याचकों को नकार का वचन कभी नहीं दिया- ऐसे गुणयुक्त, चन्द्र के सदृश मनोहर हरिवश के श्रृंगारवत् श्रीकृष्णनारायण द्वारावती पर शासन करते थे ।

सत्यभामा उनकी पटरानी थी । शीलवती स्त्रियों में उसका अग्रगण्य स्थान था । अपनी सुन्दरता, भावभंगिमा एवं रूप-सम्पदा में वह देवांगनाओं को भी परास्त करती थी । वह कभी-कभी अपने पतिदेव से प्रार्थना करती कि हे स्वामिन् ! आप मुझे लक्ष्मी की उपमा क्यों देते हैं ? कारण लक्ष्मी चंचला है पर मैं कभी चंचला नहीं हो सकती। (सत्यभामा एक विद्याधर की पुत्री थी । चन्द्रमा कलंकी है, किन्तु वह रानी सदा निष्कलंक थी । इसलिए चन्द्रमा की उपमा उससे नहीं दी जा सकती ।) उसने अपनी वेणी से मयूर को, ललाट द्वारा अष्टमी के चन्द्रमा को, नासिका द्वारा तोते की चोंच को एवं नेत्र द्वारा हरिणियों को भी लज्जित कर दिया था । हमारी धारणा है कि उसकी समता न कर पाने से ही हरिणियाँ नगर को त्याग कर वन में रहने लगी थीं । उसने अपनी दन्तावली से कुन्द की कलियों को, अधरों से बिम्बा फल को, कण्ठ से शंख को तथा उरोजों से नारियलों को विजित कर लिया था । वह मालती की माला-सी कोमल, शुभ लक्षणों से युक्त तथा सुन्दर प्रतीत होती थी । उसने कटि की क्षीणता द्वारा सिंहनी को, नितम्बों की स्थूलता द्वारा पर्वत की सघनता एवं जंघाओं की सुचिक्कणता से कदली-स्तम्भ पर विजय पायी थी । उसके दोनों चरणकमल रक्तिम, कोमल एवं शुभ लक्षण की रेखाओं से युक्त थे । उसकी देह-यष्टि कोमल थी, पर गति गजराज के सदृश थी । वह शास्त्रार्थ में साक्षात् सरस्वती की भाँति कुशाग्र थी । महाराज श्रीकृष्ण ने पटरानी सत्यभामा के साथ आनन्द से सुखभोग किया । जैसे शिव को पार्वती तथा इन्द्र को इन्द्राणी प्रिय थीं, वैसे ही श्रीकृष्ण को सत्यभामा ।

महाराज श्रीकृष्ण जिन धर्म में सदैव लीन रहते थे । वे इन्द्र की भाँति जिनेन्द्र की पूजा करते थे । सुपात्रों को दान देना उनका दैनिक कृत्य था । अपनी प्रजा का पालन करते हुए वे सदा जिनेन्द्र वर्णित शास्त्रों का श्रवण करते थे । अपनी स्त्रियों के साथ क्रीड़ा में रत रहते हुए भी सम्यक्त्व की ओर उनकी दृष्टि रहती थी । वे सुख-समुद्र में निमग्न होकर भी संसार को निस्सार समझते हुए अपना समय व्यतीत

श्री प्र द्यु म्न च रि त्र

करते थे । महाराज श्रीकृष्ण के 'बलभद्र' नामक एक भ्राता थे, जो अपनी वीरता के लिए विश्व में प्रसिद्ध थे । सहस्रों यादव वीर उनकी आज्ञा का पालन करते थे । महाराज श्रीकृष्ण पटरानी सत्यभामा के साथ विभिन्न मनोरम उद्यानों में क्रीड़ा किया करते थे । उनके यहाँ द्रुतगामी अश्व, मदोन्मत्त गजराज तथा आज्ञाकारी सेवकों की संख्या विपुल थी । इस प्रकार सात विभूतियों से युक्त राज्य का शासन करते हुए उन्होंने दीर्घ काल इस प्रकार व्यतीत किया कि निश्चित रूप से उस (समय बीतने) का भास तक नहीं हुआ । उनके राज्य में प्रजा निर्भय होकर रहती थी । उनका राज्य प्रजा-हित के लिए था । यद्यपि महाराज श्रीकृष्ण ने अपनी कुलभूमि (मथुरा) का परित्याग कर विदेश में राज्य-लक्ष्मी का उपभोग किया, फिर भी अपने धन-धान्य की ऐसी वृद्धि की, जैसे चन्द्रमा समुद्र को बढ़ा देता है । वस्तुतः इस संसार में पूर्व भव के पुण्य से सब कुछ होना सम्भव है ।

तृतीय सर्ग

एक समय की घटना है । महाराज श्रीकृष्ण अपने बन्धुवर्ग के साथ राज-सभा में आसीन थे । उस समय देश तथा राज्य-सम्बन्धी वार्तालाप चल रहा था । अपनी विलक्षण प्रज्ञा से वे समस्त मित्र मण्डली को आनंद प्रदान कर रहे थे । इसी समय आकाश-मार्ग से एक तेज-पुंज आता दिखा । सभा में उपस्थित व्यक्ति आश्चर्यचकित हो गये- 'यह तेज सूर्य का है या अग्निमय ? सूर्य का गमन टेढ़ा होता है एवं अग्नि की ज्वाला ऊपर की ओर, पर यह तो निम्नगामी है ?' इसलिये दर्शकों को महान आश्चर्य उत्पन्न हुआ। जब वह तेज-पुंज नीचे उतरा, तो मनुष्य-सी आकृति प्रतीत हुई । निकट आने पर ज्ञात हुआ कि वह यथार्थ में मनुष्य ही है । वह थे नारद मुनि । उनके शीश पर जटा थी, कोपीन धारण किए हुए थे एवं हाथ में कुशासन था । वे स्वभावतः कलह-प्रिय (झगड़ा कराने वाले), जिन-धर्म में लीन, स्वाभिमानी, निष्पाप, हास्य में आसक्त एवं जिन-वन्दना में सदा निरत थे ।

नारद मुनि को अवलोक कर महाराज श्रीकृष्ण के साथ समस्त सभा अभ्यर्थना में खड़ी हो गयी । श्रीकृष्ण ने करबद्ध प्रणाम किया । उन्होंने मुनि के चरण पखारे, अर्घ प्रदान किया एवं तत्पश्चात् सिंहासन पर विराजमान कर भक्ति-भाव से स्तुति की अर्थात् अतिथि का समुचित सम्मान किया ।

महाराज श्रीकृष्ण ने कहा-'हे मुनिराज ! तप द्वारा आप विशुद्ध हैं । यह हमारा सौभाग्य है कि आपके शुभागमन से मेरा घर पवित्र हुआ है । भाग्यहीन व्यक्ति को स्वप्न में भी यह सौभाग्य प्राप्त नहीं होता । अतः निश्चित है कि मैंने पूर्व भव में विशेष पुण्य संचित किया है । मुझे आशा है कि इस पुण्योदय से मेरे पूर्व पाप नष्ट हो जायेंगे । वस्तुतः आपने मुझे भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान में योग्य पात्र बनाया । यदि ऐसा न होता तो आपका यहाँ आना सम्भव नहीं था । वे धन्य हैं, जिन्हें आप जैसे महानुभावों के दर्शन एवं स्वगृह पर आगमन का सौभाग्य प्राप्त होता है ।' महाराज श्रीकृष्ण ने नारद की प्रशंसा करते हुए अपने सौभाग्य की सराहना की । पुनः मुनि की आज्ञा पाकर वे सिंहासन पर आरूढ़ हुए । नारद ने कहा-'हे राजन्! आप ध्यान देकर सुनें । मैं आपसे मिलने के लिए आया हूँ । यदि आप जैसे सत्पुरुषों के दर्शन से वंचित रहूँ, तो मेरे जीवन की आवश्यकता ही क्या ? जिनेन्द्र, बलदेव, नारायण, पुरुषोत्तम-ये सभी आराध्य होते हैं । इनके दर्शन के बिना जन्म निष्फल है ।' इस प्रकार वार्तालाप होने के उपरान्त नारद मुनि ने देश-देशान्तरों के सम्वाद सुनाये तथा अनेक तीर्थों से प्राप्त आशीषें उन्हें दीं ।

सौभाग्य से नारद मुनि तथा महाराज श्रीकृष्ण ने सम्वाद के समय ही श्री नेमिनाथ कुमार का आगमन हुआ । भावी जिनेश्वर को देखकर सारी सभा सम्मान में खड़ी हो गयी । स्वयं नारदजी ने उन्हें योग्य उत्तम सिंहासन पर विराजमान कर भक्तिपूर्वक उनकी स्तुति प्रारम्भ की- 'हे जिनेश्वर ! आप विजयी हों । हे पापनाशक ! आपकी सदा जय होती रहे । आप जरा-मरण के दुःखों से मुक्त करने वाले हैं । आप जिनागम के प्रकाशक, भव्य कमलों की प्रफुल्लित करने वाले सूर्य हैं, अन्धकार के विनाशक चन्द्र हैं । देवों द्वारा पूजित हे त्रिभुवनपति ! आप को नमस्कार है । हे कल्याणकर्ता गणधरादि के नाथ ! आपको नमस्कार है। आप कामरूपी गज के लिए सिंह के समान हैं । आप मोहरूपी सर्प के लिए गरुड़ हैं । हे जरा-मरण विनाशक ! आपको बारम्बार नमस्कार !' ऐसे वन्दना-स्तुति कर नारद मुनि अपने योग्य एक सिंहासन पर बैठ गये । परस्पर कुशल प्रश्नादि के बाद नेमिनाथ, श्रीकृष्ण, बलभद्र सब को अतीव आनन्द हुआ । नारदजी की उपस्थिति से सबको प्रसन्नता का अनुभव हो रहा था ।

तदुपरान्त नारद ने महाराज श्रीकृष्ण से कहा-'आप मेरा कथन ध्यान से सुनें । मैं अनेक देशों में भ्रमण करता हुआ जिन-वन्दना करता रहता हूँ । आप भी मुझे विस्मृत नहीं करते । मेरी सदा यही अभिलाषा रहती

है कि आप सुख से रहें । मुझे आपके सुख-से-सुख तथा दुःख-से-दुःख का अनुभव होता है । इसीलिये मुझ मे अन्तःपुर (रनिवास) में जाकर आपकी रानियों के दर्शन की इच्छा उत्पन्न हुई है । मैं निश्चय करना चाहता हूँ कि क्या आपकी रानियाँ भी अन्य सामान्य नारियों के सदृश हैं अथवा नहीं (अर्थात् आप जैसी उदारता उनमें विद्यमान है अथवा उसका अभाव है) ?' महाराज श्रीकृष्ण की अनुमति लेकर नारद अन्तःपुर की ओर चले । उन्होंने विचार किया कि सर्वप्रथम महाराज श्रीकृष्ण की पटरानी सत्यभामा का दर्शन करना चाहिये । यह विचार कर नारद उसी के महल की ओर गये । उन्होंने दूर से ही सत्यभामा को देखा। वह महाराज श्रीकृष्ण के सिंहासन पर बैठकर अपना श्रृंगार करने में व्यस्त थी । सामने दर्पण था, जिसमें वह अपनी अपूर्व रूपराशि को निहार रही थी । उसकी प्रसन्न आकृति यह दर्शा रही थी कि उसे भान होता है कि उसके रूप-लावण्य से प्रसन्न होकर महाराज श्रीकृष्ण उसे विशेष सम्मान प्रदान करेंगे । वह दर्पण देखने में ऐसी निमग्न थी कि उसे मालूम ही नहीं हुआ कि नारद मुनि का आगमन हुआ है । जब नारद उसके पीछे जाकर सहसा खडे हो गये, तो उसने दर्पण में उनका प्रतिबिम्ब देखा । भस्म-लेपित देह एवं शीश पर जटाजूट होने से आकृति भयंकर प्रतीत हो रही थी । सत्यभामा ने तिरस्कार की दृष्टि से उस आकृति को देखा । उसने विचार किया कि मेरी सुन्दर मुखाकृत के समीप किसी विकृत पुरुष की विकराल छाया कैसी ? नारद को उसकी मनोदशा समझते विलम्ब न लगा । वे ताड़ गये कि सत्यभामा उनका तिरस्कार करती है, उनकी मुखाकृति क्रोध से तमतमा उठी । उन्होंने विचार किया कि जिसका आदर सारा संसार करता है, उसे सत्यभामा तिरस्कार की दृष्टि से देखती है । फलतः उन्हें बड़ी ग्लानि हुई अर्थात् सत्यभामा के महल में आने का बड़ा खेद हुआ । नारद ने सोचा- 'मैंने यह उचित नहीं किया । जिसके स्वभाव का पता नहीं, उसके यहाँ सत्पुरुष नहीं जाते ।' इस प्रकार विभिन्न प्रकार के संकल्प-विकल्प उनके मन में उठने लगे । वे इस घटना-चक्र का कारण सोचते हुए महाराज श्रीकृष्ण के अन्तःपुर से बाहर निकले एवं कैलाश पर्वत की ओर चल पड़े ।

नारद मुनि कैलाश पर बैठकर चिन्तवन करने लगे । वे अशान्त तो थे ही । उनका हृदय बारम्बार कह रहा था । कि मैं तो भक्ति का भूखा हूँ । जो मेरा आदर करता है, उसे मैं हृदय से मानता हूँ एवं जो मेरा तिरस्कार करता है, उस पर मैं क्रोधित हो जाता हूँ । ढ़ाई द्वीप की समग्र भूमि मेरा विचरण स्थान है । वहाँ

के अधिवासी मेरी वन्दना करते हैं । किन्तु सत्यभामा ने मेरा निरादर किया है, अवश्य ही उसका हृदय कलुषित है । अतः मुझे क्या करना चाहिये ? किस प्रकार उसे कठिन दुःख का सामना करना पड़े ? उसका अभिमान अवश्य चूर होना चाहिये । मैं उसे दुःखी देखकर ही शान्त होऊँगा । पहिले तो नारद ने यह विचार किया कि किसी के द्वारा सत्यभामा का अपहरण कराऊँ । इससे उसे हार्दिक सन्ताप होगा । पर तत्काल ही उनकी विचारधारा में परिवर्तन आया । कारण यह था कि नारायण श्रीकृष्ण उनके अन्तरंग सखा थे। सत्यभामा के अपहरण से उन्हें भी घोर दुःख होगा । अतः यह युक्ति उन्हें उचित प्रतीत नहीं हुई । तब उन्होंने अन्य युक्ति सोची--'यदि माया-विशेष से सत्यभामा को पर-पुरुष पर आसक्त दिखा दिया जाये, तो श्रीकृष्ण को उसके प्रति घृणा हो जायेगी । क्योंकि प्राणप्रिया होते हुए भी लोग पर-पुरुषासक्त पत्नी को त्याग देते हैं--अतः यही युक्ति ठीक है ।' फिर भी नारद का विचार स्थिर न रह सका । उन्होंने विचार किया--'सत्यभामा गुणवती एवं कुलवती स्त्री है । वह श्रीकृष्ण की प्राण-वल्लभा है । उसके शील एवं पवित्रता के श्रीकृष्ण कायल हैं । किसी के कहने मात्र पर उन्हें विश्वास न होगा । यदि सत्यभामा के प्रति उनका विश्वास वैसा ही दृढ़ बना रहा, तो मेरे प्रति उनकी अश्रद्धा हो जायेगी । वे स्वप्न में भी मेरा विश्वास न करेंगे । कारण बुद्धिमान लोग असत्यवादी का विश्वास नहीं करते । 'नारद की विचारधारा भँवर-जाल में डूबने-उतराने लगी । उन्होंने निश्चय किया कि यदि मेरा विश्वास उठ गया, तब तो मुझे दोनों ओर से अपयश ही मिलेगा । पुनः वे अन्य युक्ति विचारने में तल्लीन हो गये । थोड़ी देर बाद उन्हें एक उत्तम उपाय सूझ पड़ा । सत्य है, एकाग्र चित्त से विचार करने पर अन्तःज्ञान का प्रकाश होता है, जिससे दुःख की निवृत्ति होती है । नारद ने विचारा--'नारियों के लिए सौत का दुःख ही सबसे बड़ा दुःख होता है । वे वैधव्यावस्था, निपुत्रावस्था एवं दरिद्रता जैसे दुःखों को झेल लेती हैं, किन्तु सौत का दुःख उन्हें असह्य होता है ।' यह धारणा उनके चित्त में दृढ़ हो गयी । वे यही निश्चय कर ढाई द्वीप की अपनी विचरण भूमि में किसी अनन्य रूपसी की खोज में निकल पड़े ।

सर्वप्रथम नारद विजयार्ध पर्वत पर गये । वहाँ विद्याधरों की राजधानी थी । वे विद्याधरों राजाओं से अनुमति लेकर उनके अन्तःपुर (रनिवास) में जा पहुँचे । किंतु उन अन्तःपुरों में कोई ऐसी विवाहिता एवं अविवाहिता नारी न दीख पड़ी, जो सत्यभामा के पग के अँगुष्ठ की अपने सौन्दर्य से समता कर सकती

हो । इस प्रकार विजयार्ध पर्वत की दोनों श्रेणियों की रूपसियों को देखकर वे अत्यन्त निराश हुए । वे तत्काल निश्चित न कर पाये कि क्या करना चाहिये, कहाँ जाना चाहिये ? किन्तु उन्हें तो सत्यभामा का अभिमान भंग करना था, अतः नारद अपने निश्चय पर दृढ़ रहे । उन्होंने विचारा--'जब वैसी सुन्दरी विद्याधरों के महलों में नहीं हैं, तो फिर कहाँ मिलेगी ?' पुनः विचार कर उन्होंने संकल्प कर लिया कि चाहे जो हो, सम्पूर्ण भूतल भर में भ्रमण कर एक सुन्दरी कन्या का सन्धान कर सत्यभामा का अभिमान विचूर्ण करूँगा । तदनन्तर वे भूलोक पर भ्रमण करते हुए भूमिगोचरी राजाओं की राजधानी में गये, पर वहाँ भी सत्यभामा जैसी सुन्दरी न दीख पड़ी । पर दृढ़-निश्चयी नारद खिन्न एवं उदास होने के उपरान्त भी अनवरत भ्रमण करते रहे ।

एक दिन जब नारद आकाश-मार्ग से गमन कर रहे थे, तब संयोगवश कुण्डनपुर नगर में जा पहुँचे। वह समृद्धि का आगार तथा गुणवती-रूपवती कन्याओं का भण्डार था । इस नगर का अधिपति राजा भीष्म था, जो सर्वमान्य, विख्यात, परोपकारी तथा ऐश्वर्यशाली था । उसकी रानी श्रीमती अनुपम रूपवती एवं सद्आचरण वाली थी । नारद के आते ही राजा भीष्म सिंहासन से उठ खड़ा हुआ । उसने भक्तिपूर्वक नमस्कार कर उन्हें अपने राज-सिंहासन पर विराजमान किया एवं स्वयं अन्य सिंहासन पर बैठा । कुशल-प्रश्न पूछने के पश्चात् नारद ने राजकुमार रूप्यकुमार को देखा । उसकी सुन्दरता देख कर उन्होंने विचारा कि इस राजकुमार की भगिनी अवश्य ही परम सुन्दरी होगी । अब मेरी चिन्ता दूर हो सकेगी । ऐसा विचार कर नारद ने राजा भीष्म से जिज्ञासा की कि यह किसका पुत्र है ? उत्तर में भीष्म ने कहा---'हे मुनिराज ! आपके आशीर्वाद से मेरा ही पुत्र है ।' तब नारद ने पूछा--'इसकी माता की कितनी सन्तानें हैं ?' राजा ने उत्तर दिया--'एक पुत्र एवं एक पुत्री ।' नारद ने कहा--'हे राजन् ! अवश्य ही तुम भाग्यशाली हो, पर यह तो बतलाओ कि तुम्हारी कन्या विवाहिता है या अविवाहिता ?' राजा ने कहा--'अभी है तो अविवाहिता, किंतु चेदी नरेश शिशुपाल की वाग्दत्ता हो चुकी है ।' यह सुनकर नारद को जो अपार प्रसन्नता का अनुभव हुआ, वह अपूर्व था । कुछ देर तक दोनों में वार्तालाप होता रहा । इसके उपरान्त नारद उठ कर खड़े हो गये । उन्होंने कहा--'हे राजन् ! मैं आपका अन्तःपुर देखना चाहता हूँ ।' राजा की स्वीकृति लेकर नारद रनिवास देखने लगे । राजा भीष्म की एक बाल-विधवा भगिनी थी । उस

विदुषी ने बाह्य लक्षणों से नारद मुनि को पहिचान लिया । वह हाथ जोड़ कर खड़ी हो गयी तथा यथोचित सत्कार कर उनको योग्य सिंहासन पर आसीन कराकर वह कहने लगी--'हे प्रभो ! आपकी कृपा के लिए मैं कृतज्ञ हूँ । आपके आगमन से हमारा गृह पवित्र हो गया है । मैं अपने को भाग्यवान समझती हूँ अन्यथा बिना पुण्य के आप जैसे महापुरुषों का समागम असम्भव है ।' इतना कह कर उसने भीष्म की रानियों से मुनि के पुण्य-चरणों में नमस्कार करवाया । सब को प्रसन्नतापूर्वक आशीर्वाद प्रदान कर नारद वार्तालाप करने लगे । कुछ काल पश्चात् उन्होंने निकट ही खड़ी हुई युवती को देखा । उन्होंने राजा भीष्म की भगिनी से जिज्ञासा की--'यह अनन्य लावण्यमयी कन्या कौन है ?' तब उसने अपनी भातृ-पुत्री (रुक्मिणी) का परिचय कराते हुए उससे मुनि का चरण-स्पर्श करवाया । नारद ने आशीर्वाद देते हुए कहा--'हे पुत्री ! तू महाराज श्रीकृष्ण की पटरानी बनेगी ।' मुनि की ऐसी भविष्यवाणी सुन कर रुक्मिणी को बड़ा आश्चर्य हुआ । वह अपनी बुआ की ओर देखने लगी । बुआ ने भी मुनि का विस्मयकारी कथन सुना था। अतः उसने जिज्ञासा प्रकट की--'हे प्रभो ! यह आपने कैसा आशीर्वाद दिया ? जिन महाराज श्रीकृष्ण का आप ने नामोच्चार किया है, वे कौन हैं ? उनका निवास, कुल एवं उनकी आयु क्या है ? उनकी रूपाकृति एवं ऋद्धि कैसी है ? आप कृपा कर यह सब बतलायें ।' नारद ने कहा--'तथास्तु ! मैं महाराज श्रीकृष्ण का परिचय देता हूँ, जिसे ध्यान से सुनो-

महाराज श्रीकृष्ण सौराष्ट्र देश की द्वारावती नगरी के अधिपति हैं । वे यादव कुलभूषण, हरिवंश के श्रृंगार-स्वरूप तथा कामदेव सदृश रूपवान हैं । उन्हें विपुल ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त हैं । सहस्रों यादववंशी वीर उनके स्वजन हैं तथा उन्होंने अनेक प्रबल शत्रुओं का विनाश किया है । सैकड़ों राजा उनकी आज्ञा का पालन करते हैं । श्रीकृष्ण ने बचपन में ही महाभयानक पूतना का वध किया था, गोवर्धन पर्वत को अपने अँगुष्ठ पर उठाकर गौओं की रक्षा की थी । उन्होंने यमुना नदी के कालिया नाग को नाथ कर उसका मान-मर्दन किया था । रण-संग्राम में उनके द्वारा कंस तथा उसके प्रबल योद्धा चाणूर का अन्त हुआ । केवल इतना ही नहीं, समुद्र तट पर जाकर उन्होंने देवों को अपने वश में कर द्वारिकापुरी (द्वारावती) बसाई। जिनके भावी जिनेश्वर नेमिनाथ के सदृश भ्राता हों, उनके प्रताप का वर्णन करना स्वयं बृहस्पति के लिए भी कठिन है । तब मेरी वाणी की भला क्या सामर्थ्य है ?' नारद की उक्ति सुनकर राजा भीष्म

श्री प्रद्युम्न चरित्र

की भगिनी ने रुक्मिणी से कहा--'हे पुत्री ! तूने सुना या नहीं ? इनके वचन को ध्रुव सत्य मान ।' तब रुक्मिणी कहने लगी--'हे बुआ ! आप तो मुनिवर के वचनों को सत्य बतलाती हैं, पर किसी अन्य नृपति के संग मेरा वाग्दान हो चुका है । तब मुनिवर के कथन की पुष्टि आप ने किस आधार पर कर दी, यह मुझे समझ में नहीं आ रहा ।' उसकी विदुषी बुआ ने स्पष्ट किया--'हे पुत्री ! मैं जो कहती हूँ, उसे ध्यान देकर सुनो'--कुछ काल पूर्व (पहिले) शास्त्रों में पारंगत अतियुक्त नाम के एक मुनिराज हमारे यहाँ आहार के निमित्त पधारे थे । तेरे पिता (स्वयं मेरे भ्राता) महाराज भीष्म ने नवधा-भक्ति से उन्हें आहारदान दिया। तत्पश्चात् जब वे आसन पर विराजे, तो तेरा अनुपम लावण्य देखकर मुनिराज ने महाराज से जिज्ञासा की कि यह किसकी पुत्री है ? तब महाराज ने स्पष्ट किया कि उनकी ही पुत्री है । कौतूहलवश महाराज ने नम्रतापूर्वक प्रश्न किया कि कृपा कर यह बतलाइये कि यह कन्या किसका वरण करेगी अथवा किसे समर्पित कर मैं सुखी होऊँगा ? तब मुनिवर ने उत्तर दिया--'हे राजन् ! तुम्हारी यह पुत्री बड़ी भाग्यवती है । यदकुल के सूर्य जो पृथ्वी पर उपेन्द्र अर्थात् नारायण के नाम से विख्यात हैं, जिनकी कीर्ति-सम्पदा अतुलनीय है तथा जो दैत्यों के विनाशक हैं, वे ही तुम्हारी इस पुत्री के स्वामी होंगे । ऐसा कहकर उन मुनिराज ने तपस्या के लिए वन की ओर गमन किया । मैंने वह वार्तालाप निकट से सुना था । मुनिराज के वचन कभी मिथ्या नहीं होते, क्योंकि यह निश्चित है कि मुनिगण कभी असत्य सम्भाषण नहीं करते ।'

फिर भी रुक्मिणी ने जिज्ञासा की--'हे बुआ ! जब ऐसी होनहार है, तब राजा शिशुपाल को क्यों वचन दिया गया ?' उसकी बुआ ने उत्तर दिया--'हे बेटी ! दुःखी मत हो । तेरे माता-पिता ने यह वचन नहीं दिया है । तेरा भ्राता रूप्यकुमार किसी कार्यवश शिशुपाल के यहाँ गया था । उसके आतिथ्य से सन्तुष्ट होकर उसने तेरे विवाह की स्वीकृति दी है ।'

किन्तु यह अद्भुत वृत्तान्त सुनकर महाराज श्रेणिक को गहरा सन्देह हुआ । उन्होंने गणधर गौतम स्वामी से प्रश्न किया--'हे नाथ ! रूप्यकुमार किस कार्य हेतु शिशुपाल के यहाँ गया था ?' तब गौतम स्वामी ने स्पष्ट किया--'एक बार शिशुपाल शत्रुओं पर आक्रमण के प्रयत्न में था । उसने भीष्म के पास दूत भेज कर प्रार्थना की थी कि वे अपनी सेना के संग उसे सहयोग प्रदान करें ।' दूत का सन्देश सुनकर मित्र की

श्री प्रद्युम्न चरित्र

सहायता हेतु भीष्म अपनी सेना को संगठित कर स्वयं गमन हेतु प्रस्तुत हुए । उन्होंने अपनी अनुपस्थिति में राज्य का भार पुत्र रूप्यकुमार को देना चाहा, किन्तु वीर एवं नीति-निपुण पुत्र रूप्यकुमार ने कहा--'हे तात् ! यह कैसे हो सकता ? युवा पुत्र के रहते भला पिता को युद्ध-भूमि में जाना पड़े, तो संसार में सर्वत्र उपालम्भ ही मिलेगा ।' रूप्यकुमार स्वयं सेना के साथ जाने को उद्यत हुआ । फिर भी राजा भीष्म ने कहा--'हे पुत्र ! तुम्हें कुल परम्परा से प्राप्त एवं शत्रु की बाधा से रहित राज्य की रक्षा करनी चाहिये । युद्ध के लिए तो मुझे जाने दो ।' विनयी कुमार ने शिष्टाचार में मस्तक नत कर लिया एवं तत्पश्चात् निवेदन किया--'हे तात् ! माता-पिता को सुखी रखना पुत्र का कर्तव्य होता है । अतः मैं आप को कैसे जाने दूँ ?' पुत्र की ऐसी उक्ति सुनकर भीष्म ने कहा--'हे पुत्र ! अभी तेरी अवस्था ही क्या है ? तू सुकुमार है । तुझे युद्ध का ज्ञान नहीं है । अतः तेरा शत्रु के सम्मुख जाना कदापि वाँछनीय नहीं ।' प्रत्युत्तर में कुमार कहने लगा--'हे तात् ! शक्ति का परीक्षण चपलता से ही होता है, अवस्था आदि से नहीं । विशालकाय होने पर भी गजराज अपने से आकार में छोटे सिंह के गर्जन से ही पलायन कर जाते हैं । आपके आशीर्वाद से मैं अनायास ही शत्रु दल को परास्त करूँगा ।' पुत्र की वीरतापूर्ण वाणी सुन कर राजा भीष्म को सन्तोष हुआ । उन्होंने शुभ शकुनों की प्रेरणा से प्रसन्नता के साथ राजा शिशुपाल की सहायता के लिए पुत्र को विदा किया । युद्ध में शिशुपाल को सफलता मिली एवं वह शत्रु सेना पर विजय प्राप्त कर अपने नगर को लौटा । शिशुपाल यह समझता था कि रूप्यकुमार की सेना की सहायता से ही सफलता मिली है । अतएव रूप्यकुमार उसका स्नेहपात्र बन गया । शिशुपाल ने उसका विपुल सम्मान किया । उसके स्वागत से प्रसन्न होकर रूप्यकुमार ने उसके साथ अपनी भगिनी (रुक्मिणी) के विवाह की स्वीकृति दे दी । इससे चेदिपति को अपूर्व आनन्द की अनुभूति हुई । उन्होंने मूल्यवान वस्त्राभूषणों से सुसज्जित कर रूप्यकुमार को विदा किया । इस समाचार से राजा भीष्म को भी आनन्द प्राप्त हुआ । रूप्यकुमार का शिशुपाल के यहाँ जाने का यही वृत्तान्त है ।

तत्पश्चात् बुआ ने रुक्मिणी से कहा--'हे पुत्री ! अब तुझे ज्ञात ही है कि शिशुपाल के संग विवाह की स्वीकृति तेरे भ्राता ने दी है, माता-पिता ने नहीं । अतएव चिन्ता मत कर, भावी परिणाम शुभ ही होगा। मैं ऐसा प्रबन्ध करूँगी कि श्रीकृष्ण अवश्य तेरे पति हों ।' रुक्मिणी को अतीव प्रसन्नता हुई । श्रीकृष्ण का

भावी समागम सुनकर उसे संतोष हुआ । नारद मुनि भी श्रीकृष्ण की प्रशंसा करते हुए कैलाश को लौट गये ।

कैलाश के शिखर पर जाकर नारद ने रुक्मिणी का एक यथार्थ चित्र अंकित किया । जब चित्र मनोनुकूल बन गया, तो उसे लेकर वे द्वारिकापुरी को चले । श्रीकृष्णनारायण सभा में आसीन थे । उन्होने आकाश-मार्ग से आते हुए नारद को देखा । जब नारद निकट आ गये, तो उन्होंने आगे बढ़ कर आदरपूर्वक सत्कार किया । आशीर्वाद देकर नारद सिंहासन पर विराजमान हुए । श्रीकृष्ण भी एक आसन लेकर समीप बैठ गये । परस्पर धर्म-चर्चा होने लगी । अवसर पाकर श्रीकृष्ण ने कहा--'हे मुनिराज ! आप तो सर्वत्र भ्रमण करते रहते हैं । यदि कहीं कोई आश्चर्यजनक घटना हुई हो अथवा मनोविनोद की चर्चा हो तो कृपया सुनाइये । आप मेरे परम मित्र हैं । मेरे लिए कोई नवीन सामग्री लाये हों, तो वह दीजिये ।' श्रीकृष्ण की ऐसी जिज्ञासा सुनकर नारद मन-ही-मन प्रसन्न हुए। उन्होने मुख से तो कुछ नही कहा, पर रुक्मिणी का चित्रपट सामने रख दिया । श्रीकृष्ण विस्मयजनक दृष्टि से चित्र को निहारने लगे । मानो मन्त्रबिद्ध हो गये हों, इस प्रकार निष्पलक वे चित्राकित रूपसी को निहारते रहे । पर्याप्त अवधि तक उन्होने विचार किया कि इस अनंत सुन्दरी की रचना सृष्टि ने कैसे की होगी ? त्रिभुवन में ऐसी रूपवती स्त्री कदाचित् अन्य नहीं है एवं न ही भविष्य में होने की सम्भावना है । भला नारद मुनि को ऐसी लावण्यवती के कहाॅ दर्शन हुए ? यह अपनी वेणी से कृष्णवर्णी नागों को लज्जित कर रही है, जब कि वाणी से अमृत को, ललाट से अष्टमी के चन्द्र को, नेत्र से मृगी को, भौहों से कामदेव के धनुष को एवं स्वर से कोयल की वाणी को परास्त कर रही है । इसकी गम्भीर नाभि वापिका-सी दीख पड़ती है । इसकी जघायें मानो कदली-स्तम्भ हों । इसके कमल सदृश चरण, सुवर्ण-सी कान्ति, सूर्य-सा तेज एवं समुद्र-सम गम्भीरता अपूर्व हैं । यह है भला कौन ? इसका चित्र नारद मुनि ने कैसे अंकित किया ? वस्तुतः यह कामदेव की पत्नी है अथवा इन्द्राणी ? चन्द्रकान्ता है या सरस्वती की प्रत्यक्ष मूर्ति । यक्षिणी है अथवा किन्नरी । श्रीकृष्ण के मन में ऐसे अनेक संकल्प-विकल्प उठने लगे । तत्पश्चात् उन्होंने नारद मुनि से जिज्ञासा के समाधान का निश्चय किया । श्रीकृष्ण ने नम्रतापूर्वक प्रश्न किया--'हे मुनिराज! यह किसका चित्रपट है ? इसे आपने कहाॅ अंकित किया ? कृपा कर सविस्तार परिचय दीजिये । इस अनन्य सुन्दरी का मात्र चित्र देखकर

श्री प्रद्युम्न चरित्र

ही मेरा चित्त चचल हो रहा है । मैं इसकी मोहिनी मूर्ति पर मंत्र मुग्ध हो रहा हूँ । श्रीकृष्ण की ऐसी विह्वल अवस्था देखकर नारद को जो प्रसन्नता हुई, वह वर्णनातीत है ।

उन्होंने कहा--'हे राजन् ! वृथा सन्तप्त मत होओ । यह किसी देवागंना या गन्धर्व-कन्या का चित्र नहीं हे । मैं सविस्तार वर्णन कर रहा हूँ, कृपया ध्यानपूर्वक सुनो । इसी भरतक्षेत्र में कुण्डनपुर नाम का एक प्रसिद्ध नगर है, जहाँ के राजा भीष्म बड़े प्रतापी एवं धर्मानुरागी हैं । उनकी रानी का नाम श्रीमती है । उन्हीं की कन्या यह रुक्मिणी है, जिसका चित्रपट आपके समक्ष है । रुक्मिणी भी शुभ-लक्षणों से संयुक्त भूमिगोचरी मानवी है । मैंने सम्पूर्ण विश्व का भ्रमण किया है । विद्याधरों एवं भूमिगोचरियों की राजधानी एवं महलों तक में ऐसी अनुपम सुन्दरी अब तक मेरे देखने में नहीं आई थी । मेरे विचार से तो पृथ्वीतल पर कोई ऐसा नारी-रत्न नहीं है, जो रुक्मिणी के अँगुष्ठ तक की सौन्दर्य में समता कर सके । यह नवयौवना सर्वगुण-सम्पन्न है । इसके जन्म से तो स्वयं सृष्टि की रचना-प्रतिभा धन्य हो गई । इसके पूर्व उसकी नारी रचना कभी इतनी सम्पूर्ण नहीं हुई थी । किन्तु जब तक यह राजकन्या विवाहित होकर आपके महल में न आ जाये, तब तक आप यह रहस्य किसी प्रकार प्रकट न करें । आपका नारायण रूप में अवतार भी तभी सार्थक होगा, जब रुक्मिणी आपकी पत्नी बनेगी ।' इस प्रकार नारद ने रुक्मिणी की प्रशंसा कर श्रीकृष्ण को मोहित कर लिया । श्रीकृष्ण ने पूछा--'हे मुनिराज ! आप यह तो बतलायें कि रुक्मिणी कुमारी है या विवाहिता ?' नारद ने कहा--'यह अपूर्व सुन्दरी अभी कुमारी है, किन्तु उसके भ्राता रूप्यकुमार ने बिना किसी से परामर्श लिये ही चेदि नरेश शिशुपाल को विवाह की स्वीकृति दे दी है । किसी समय शिशुपाल ने कुण्डनपुर के युवराज रूप्यकुमार का सम्मान किया था, फलस्वरूप राजकुमार ने अपनी इच्छा से यह वचन दिया है । अतएव आपको चाहिये कि संग्राम में चन्देरी (चेदि) के राजा शिशुपाल को परास्त करें, अन्यथा रुक्मिणी का प्राप्त होना असम्भव-सा है ।' नारद का परामर्श सुनकर श्रीकृष्ण कुछ उदास हो गये । उनकी मनोव्यथा नारद भाँप गये । उन्होंने तत्काल ही कहा--'आप धैर्य धारण करें । कायर बनने से कार्य सिद्ध नहीं होगा । रुक्मिणी बिना बाधा के ही प्राप्त हो सकेगी--शूरवीरों के लिए सब कुछ सम्भव है, पर कायरों के लिए नहीं । अतएव चिन्ता की आवश्यकता नहीं । जिस रूपवती रुक्मिणी की छवि पर आप मोहित हैं, उसे मैं उसके माता-पिता के महल में देख आया हूँ । आप

यह दृढ़ विश्वास कर लें कि वह आपके महल में अवश्य आयेगी । किन्तु 'उद्योगिनः पुरुषसिंह मुपैति लक्ष्मी'--उद्योगी पुरुष-सिंह को ही निधि प्राप्त होती है, निरुद्यमी को नहीं । यदि स्त्रियों में रमण की उत्कट अभिलाषा हो, तो रुक्मिणी को प्राप्त करें । जिस प्रकार पूर्णिमा की तुलना में अन्य किसी रात्रि की शोभा नहीं, उसी प्रकार एक रुक्मिणी के अभाव में आपके अन्तःपुर की शोभा नहीं--चाहे आपके महल में सहस्रों रूपवती रानियाँ, क्यों न हों ?' इस प्रकार श्रीकृष्ण के चित्त पर वाँछित प्रभाव डालकर नारद ने वहाँ से प्रस्थान किया । उनके गमनोपरान्त श्रीकृष्ण अचेत हो गये । बन्धुओं के उपचार से उनकी मूर्च्छा का निवारण हुआ । वे विचार करने लगे कि यह सुन्दरी कैसे प्राप्त हो । किन्तु उन्होने किसी से अपना मनोभाव प्रकट नहीं किया । चैतन्य अवस्था में अब उन्हें न तो क्षुधा-पिपासा लगती थी एवं न ही निद्रा आती थी । संयोग से श्रीकृष्णनारायण जिस समय रुक्मिणी के लिए चिन्तातुर थे, उसी समय रुक्मिणी के यहाँ भी एक विचित्र घटना हुई ।

जब चतुर शिशुपाल ने लग्न सुधवाया, तो रुक्मिणी चिन्तित हो उठी । उसने अपनी बुआ से प्रार्थना की कि यदि श्रीकृष्ण से उसका सम्बन्ध न हुआ एवं उनके चिर-वियोग का सामना करना पड़ा तो उसे जीवित न देख सकेंगी। बुआ ने आश्वासन दिया कि व्यर्थ में विषाद मत करो । वह (बुआ) उस (रुक्मिणी) की अभिलाषा पूर्ति के हेतु प्रयत्न करेगी । तत्पश्चात् बुआ एवं रुक्मिणी ने एक विश्वासपात्र नवयुवक दूत को बुलाया । जिसका नाम कुशल था । बुआ ने समस्त वृत्तान्त उसे समझा दिया । रुक्मिणी ने एक प्रेम-पत्र देकर उसे श्रीकृष्ण के यहाँ गमन हेतु विदा किया । दूत को कुण्डनपुर से निकलते ही अनेक प्रकार के शुभ शकुन मिले, जिनसे वह प्रफुल्लित हो उठा ।

दूत 'कुशल' जब द्वारिकापुरी में जा पहुँचा, तो उसे महती आश्चर्य हुआ । वह सोचने लगा--'यह तो साक्षात इन्द्र की अमरावती है, पर पृथ्वी पर कैसे आ गयी ?' वह प्रसन्न चित्त से उस पुरी की सुन्दरता देखते हुए राजद्वार की ओर अग्रसर हुआ । उसने राजद्वार पर पहुँच कर द्वारपाल से कहा कि महाराज श्रीकृष्ण को मेरे आगमन की सूचना दो । द्वारपाल ने जिज्ञासा की--'तुम कहाँ से आ रहे हो, कौन हो एवं किसने भेजा है ?' उसने तत्क्षण उत्तर दिया--'मैं एक विदेशी हूँ । मेरे स्वामी ने मुझे भेजा है । तुम महाराज श्रीकृष्ण से निवेदन करो कि दूत एक प्रेम-सम्बन्धी कार्य हेतु आया है ।' द्वारपाल ने राजा के निकट जाकर

श्री प्रद्युम्न चरित्र

दूत का सन्देश कह सुनाया । श्रीकृष्ण ने तत्काल आज्ञा दी कि दूत को उनके सम्मुख प्रस्तुत किया जाय। आज्ञा के अनुसार द्वारपाल दूत को सभा में ले गया । उस सभा के दर्शन से दूत को जो प्रसन्नता हुई, वह अतुलनीय थी । श्रीकृष्ण को प्रणाम कर वह अपने नियत स्थान पर बैठ गया । पर कुछ काल पश्चात् ही उसने कुछ संकेत किया, जिससे श्रीकृष्ण ने उस दिन की सभा विसर्जित कर दी । आने का कारण पूछने पर दूत ने बतलाया कि हे महाराज ! एक ऐसा निवेदन है, जिसे सुनकर आप को प्रसन्नता होगी, आप उत्फुल्ल होंगे । दूत का वचन सुनकर श्रीकृष्ण को बड़ा सन्तोष हुआ । वे यथाशीघ्र अपने अग्रज बलदेव के साथ दूत को लेकर महल में चले गये । वहाँ श्रीकृष्ण ने दूत को सम्वाद सुनाने के लिए कहा ।

दूत कहने लगा--'हे महाराज ! मेरा सम्वाद प्रेम के कारणभूत होने से माननीय है । उसे सारभूत एवं यथार्थ समझ कर ध्यान से सुनें । कुण्डनपुर एक प्रसिद्ध नगर है । वहाँ का राजा भीष्म गुणग्राही एवं शत्रुओं को परास्त करनेवाला है । उसकी पत्नी श्रीमती जगत्-विख्यात रूपसी है । भीष्म का पुत्र रूप्यकुमार इन्द्रपुत्र जयन्त के समान यशस्वी एवं महादेव-पुत्र षडानन जैसा स्वाभिमानी वीर है । कुमार की छोटी भगिनी रुक्मिणी चन्द्रमा-सी कान्तिवाली नवयौवना है । जैसे समुद्र से लक्ष्मी, पर्वत से पार्वती एवं ब्रह्मा से सरस्वती उत्पन्न होकर विख्यात हुई हैं, वैसे ही भीष्म-पुत्री रुक्मिणी भी जगत् में विख्यात है । किन्तु रूप्यकुमार ने चेदि-नरेश शिशुपाल के अतिथि-सत्कार से प्रसन्न होकर उसे रुक्मिणी के संग विवाह की स्वीकृति दे दी। यद्यपि यह कार्य स्वजनों एवं परिजनों से बिना परामर्श लिए ही हुआ था, पर कुमार के वचनबद्ध होने से किसी ने आपत्ति नहीं की । कारण नृपति शिशुपाल में यथेष्ट योग्यता है एवं योग्य पुरुष किसे प्रिय नहीं होता ? समग्र स्वजन बन्धुओं ने राज-प्रांगण में एकत्रित होकर लग्न की तिथि निश्चित कर दी । माघ शुक्ल अष्टमी की दोष वर्जित तिथि में विवाह कार्य सुसम्पन्न होगा । किन्तु इसके पश्चात् दूसरे ही दिन वहाँ नारद मुनि पधारे । वे राजा भीष्म से मिल कर सीधे रनिवास में चले गये । प्रारम्भ में ही उनसे भीष्म की भगिनी से भेंट हुई । वह विदुषी एवं योग्य गुणवती महिला है । स्वयं महाराज भीष्म भी उसका सम्मान करते हैं । उस बाल-विधवा ने नारद मुनि को नमस्कार कर उन्हें योग्य आसन पर विराजमान कराया एवं अन्य रानियों से भी उन्हें प्रणाम करवाया । जिस समय नारद कुशलक्षेम पूछ रहे थे, उसी समय रुक्मिणी सामने खड़ी थी । उसे देखकर नारद ने उसका परिचय भीष्म की भगिनी से पूछा । उसने उत्तर में कहा

कि हे मुनिराज ! यह मेरे भ्राता महाराज भीष्म की कन्या तथा युवराज रूप्यकुमार की भगिनी है । इतना कहकर बुआ ने रुक्मिणी से नारद मुनि के चरणों में प्रणाम करवाया । नारद मुनि ने आशीर्वाद देते हुए कहा कि द्वारिकापुरी के अधिपति तथा हरिवंश के श्रृंगार महाराज श्रीकृष्णनारायण की तू पटरानी बनेगी। नारद मुनि के वचनों से रुक्मिणी संशय में पड़ गयी । नारद मुनि तो वहाँ से प्रस्थान कर गये, पर इसके अनन्तर रुक्मिणी सदैव चिंतित रहने लगी । उसे न दिवस में क्षुधा लगती है, न रात्रि में निद्रा आती है । चन्द्रमा की चाँदनी उसे विष सदृश प्रतीत होती है एवं चन्दन का लेप अग्नि का-सा दाह उत्पन्न करता है। वह आप पर मन-प्राण से आसक्त है । इसमें कोई संशय नहीं है । वह आपके नाम की माला फेरकर ही जीवित है । अतएव आपसे निवेदन है कि आप इस सम्बन्ध में यथोचित प्रबन्ध करें । आप शुभ कार्यो के कर्त्ता हैं, अतः राजकन्या रुक्मिणी के कष्ट की निवृत्ति अब आपके ही हाथ में है ।'

श्रीकृष्ण एवं बलदेव दूत के कथन को ध्यानपूर्वक सुनते रहे । तदनन्तर श्रीकृष्ण ने प्रेमपूर्वक सम्बोधित करते हुए दूत से जिज्ञासा की--'यह तो बतलाओ कि यदि मैं वहाँ जाऊँ, तो ठहरने के लिए कौन-सा स्थान उत्तम है ? मैं कैसे रुक्मिणी के समीप जा सकूँगा । अथवा वह मुझ से कैसे मिल सकेगी? विस्तार से कहो ।' तब दूत ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया--'हे महाराज ! आप यथाशीघ्र कुण्डनपुर चलें । वहाँ लता-वृक्षादिकों से सुशोभित 'प्रमद' नामक एक उद्यान है । उद्यान में एक अशोक वृक्ष के तले कामदेव की मूर्ति है, जिसे अपनी मनोकामना की पूर्ति के निमित्त रुक्मिणी ने स्थापित किया है । पहिचान के लिए उस पर मनोहर पताका है । आप वहाँ आकर उस वृक्ष के नीचे छिप कर बैठे । जब रुक्मिणी कामदेव की पूजाके निमित्त वहाँ आयेगी, तो आप उससे मिल सकेगे । आप निश्चिन्त रहें । अब वह आपके अतिरिक्त अन्य किसी का वरण नहीं कर सकती । जिस प्रकार सिंहनी श्रृगाल के शावक से रमण करना स्वीकार नहीं करेगी, उसी प्रकार रुक्मिणी के लिए अन्य पुरुष को अंगीकार करना अब स्वप्न में भी सम्भव नहीं । उसने आपका ही व्रत धारण कर लिया है । वह रूपसी उद्यान में पधारेगी एवं आपको ढूँढ़ेगी। यदि वहाँ आपके दर्शन न हो सके, तो फिर उसके लिए अपने प्राण-त्याग कर देना भी असम्भव नही । ऐसा होने से आपको नारी-हत्या का महान पातक लगेगा । अब तो आपको तत्काल प्रस्थान कर देना चाहिये। नि.सकोच प्रमद वन में पधारे, यही निवेदन है ।' इतना कहकर दूत ने अपने प्रस्थान की तैय्यारी की ।

श्रीकृष्ण ने उसे वस्त्राभूषणों से सम्मानित किया ।

श्रीकृष्ण का चित्त तो रुक्मिणी में अनुरक्त था ही । दूत के गमनोपरान्त वे दोनों भ्राता परस्पर कार्यसिद्धि हेतु युक्ति सोचने में संलग्न हुए । उन्होंने विचार किया कि यह समस्त वृत्तान्त किसी भी प्रकार सत्यभामा को ज्ञान न हो, क्योंकि वह विद्याधर की पुत्री है । सम्भवतः विद्या-बल से किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित कर दे । उसी रात्रि में ही कुण्डनपुर हेतु प्रस्थान का निश्चय हो गया । इस अभिप्राय से दोनों भ्राताओं ने रात्रि के अन्तिम प्रहर में कवच धारण कर छद्म वेश में नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों से सुशोभित होकर द्रुतगामी रथ द्वारा कुण्डनपुर के लिए प्रस्थान किया । श्रीकृष्ण का चित्त तो रुक्मिणी में आसक्त था ही । उनके लिए धैर्य्य-धारण के अतिरिक्त अन्य कोई संबल नहीं था । प्रत्येक कला में निपुण दोनों भ्राता (श्रीकृष्ण-बलदेव) द्रुतगामी रथ द्वारा 'प्रमद' उद्यान के समीप जा पहुँचे । कुण्डनपुर की रमणीकता को देखकर श्रीकृष्ण के हृदय में भाँति-भाँति के संकल्प-विकल्प होने लगे । वे मन-ही-मन कहने लगे कि न जाने मेरे भाग्य में क्या अंकित है ? फिर भी धैर्य धारण कर वे दोनों भ्राता अपनी मनोरथ सिद्धि हेतु तत्पर हुए ।

चतुर्थ सर्ग

उस प्रमद उद्यान की शोभा अपूर्व थी । वह विविध प्रकार के वृक्षों एवं सुगन्धित पुष्पों से सुशोभित नन्दन-कानन (इन्द्र का उपवन) के सदृश शोभित हो रहा था । ऐसा भान होता था कि स्वयं नन्दन-कानन ही कुण्डनपुर की रमणीयता के दर्शन हेतु पृथ्वी पर उतर आया हो । श्रीकृष्ण एवं बलदेव ने उस नयनाभिराम उपवन में प्रवेश किया । उन्होंने शोक-हर्त्ता अशोक जाति के वृक्ष को देखा । उसके ऊपर एक ध्वजा फहरा रही थी एवं उसकी छाया में कामदेव की मनोज्ञ प्रतिमा स्थापित थी, जिसके दर्शन मात्र से श्रीकृष्ण को सन्तोष हुआ । रथ के अश्वों को मुक्त कर दिया गया । दोनों भ्राताओं को रुक्मिणी के दर्शन की तीव्र उत्कंठा थी । इसी अभिप्राय से वे सघन वृक्षों की ओट में छिप कर बैठ गए । किंतु इसके पूर्व ही एक अन्य आनन्ददायिनी घटना हो गयी-

नारद द्वारिका से प्रस्थान कर सीधे चन्देरी (चेदिनगरी) जा पहुँचे । वहाँ के नृपति शिशुपाल ने उनका

श्री प्रद्युम्न चरित्र

योग्य सत्कार किया । कुशल-प्रश्न के पश्चात् नारद ने जिज्ञासा की-'हे शिशुपाल ! वर्तमान काल के घटना-चक्र का मुझे यथार्थ ज्ञान कराओ ।' शिशुपाल ने मुस्कराकर उत्तर दिया-'हे मुनिराज ! आपकी कृपा से जो कुछ हो रहा है, वह मंगल एवं नीतियुक्त है ।' नारद ने कृत्रिम स्नेह से कहा--'मैं तुम्हारी लग्नपत्री देखना चाहता हूँ ।' तब राजा ने उन्हें अपनी लग्नपत्री दिलवा दी । कुछ काल तक वे लग्नपत्री बाँचते रहे । तत्पश्चात् कलहप्रिय नारद चिन्तित हो गये । उन्हें इस प्रकार उदास देखकर शिशुपाल ने प्रश्न किया-'हे स्वामिन् ! आप इतने चिन्तित क्यों हैं ?' उत्तर में नारद ने कहा-'हे राजन् ! लग्न-पत्री में आपको कायक्लेश होना बदा है । अतः आपको पूर्ण सावधानी से कुण्डनपुर जाना चाहिये ।' इतना कहकर नारद शिशुपाल के हृदय में गहन आशंका उत्पन्न कर वहाँ से चल पड़े । आशंकित शिशुपाल ने भयभीत होकर एक विराट सेना संगठित की एवं विभिन्न वाहनों के द्वारा उसने कुण्डनपुर के लिए प्रस्थान किया । वहाँ पहुँच कर शिशुपाल की सेना ने समस्त कुण्डनपुर को इस प्रकार घेर लिया, मानो सुमेरु पर्वत को तारा मण्डल ने घेर लिया हो । जिस समय शिशुपाल की सेना नगर को घेर रही थी, उसी समय 'प्रमद' उद्यान में श्रीकृष्ण एवं बलदेव पधारे थे ।

यद्यपि रुक्मिणी पूर्व से ही चिन्तित थी, किन्तु जब उसने सुना कि शिशुपाल की सेना द्वारा नगर घेर लिया गया है, तो उसका सन्ताप अत्यधिक बढ़ गया । उसने सोचा कि अब वह श्रीकृष्ण के दर्शन हेतु 'प्रमद' उद्यान में कैसे आ सकेगी ? उसे उदास देखकर उसकी बुआ ने जिज्ञासा की- 'हे पुत्री ! चिन्तित क्यों हो रही हो ।' उसने उत्तर दिया- 'अब मैं उद्यान में कैसे जा सकती हूँ ?' बुआ ने आश्वासन देते हुए कहा- 'इसमें दुःखी होने की कोई आवश्यकता नहीं । मैं ऐसा उद्योग करूँगी कि तू निर्विघ्न प्रमद उद्यान में पहुँच जाय । बुआ ने एक युक्ति सोची । वस्तुतः समय पर नारियों की बुद्धि तीव्र हो जाती है । उसने नारियों के एक समूह में रुक्मिणी को सम्मिलित कर दिया, वे सब मंगल गीत गाती हुईं नगर के नगर के बाहर निकलीं । शिशुपाल के प्रहरियों ने उन्हें रोका । उन्होंने अपनी स्वामी को सूचना दी कि रुक्मिणी अपनी सहेलियों के संग प्रमद वन की ओर जा रही है । शिशुपाल ने अभिमान भरे शब्दों में आज्ञा दी- 'जिस भाँति भी हो रुक्मिणी को वन में प्रवेश से रोको ।' सिपाहियों ने उस नारी-समूह को रोकते हुए कहा कि वे वन में नहीं जा सकतीं, ऐसी निषेधाज्ञा उनके स्वामी की है । तब रुक्मिणी की बुआ ने उत्तर

दिया--'रुक्मिणी कामदेव का दर्शन करने के लिए वचनबद्ध है । एक दिन वह सहेलियों के साथ वन में क्रीड़ा करने गयी थी, तब वहाँ उसने अनंग (कामदेव) की प्रतिमा देखी । उसने तभी प्रणाम कर यह प्रतिज्ञा ली थी कि यदि नृपति शिशुपाल उसके पति बनेंगे, तो वह लग्न के दिन अनंग-पूजा करेगी । बड़े सौभाग्य से ऐसा सुअवसर प्राप्त हुआ है । आज सुयोग्य पति की प्राप्ति के हर्ष में रुक्मिणी अपनी प्रतिज्ञा-पालन के लिए निकली है । वह प्रतिमा के समक्ष भावी पति की दीर्घ-आयु की कामना करेगी, क्योंकि नारी पति एवं पुत्र की कुशलता ही चाहती है । अब इसमें बाधा उपस्थिति करना कदापि वाँछनीय नहीं होगा ।' प्रहरियों ने समस्त कथोपकथन आद्योपान्त अपने स्वामी से जा कहा । फलतः उसकी धारणा में आमूल परिवर्तन हो गया । उसके हृदय में रुक्मिणी के प्रति तीव्र अनुराग उत्पन्न हुआ । वह उसके प्रेम की कामना करने लगा । उसने आज्ञा दी कि किसी प्रकार बाधा न दो एवं ससम्मान रुक्मिणी को वन में जाने दो । प्रहरियों ने आज्ञा का पालन किया एवं रुक्मिणी इस प्रकार प्रमद उद्यान में निर्विघ्न जा पहुँची । उस समय बुआ ने रुक्मिणी से कहा- 'हे पुत्री ! जिस निमित्त तेरा यहाँ आगमन हुआ है, वह तेरा देव यहीं स्थापित है । तू एकाकी जाकर उसकी अभ्यर्थना कर ।'

अपने समूह से बिछुड़ी हुई रुक्मिणी चंचल चित्त से इधर-उधर देखने लगी । वृक्षों की ओट से श्रीकृष्ण ने कोमलांगी, शुभलक्षणा, कामनयनी, चन्द्रमुखी, पिकबैनी रुक्मिणी को देखा । उसकी देहयष्टि कृशांगी थी । सारंगी-सी सुरीली भुजायें मालती पुष्प सदृश कोमल, उरोज युगल पुष्ट एवं उत्तुंग, गौरवर्ण एवं सूक्ष्म कटि थी । स्थूल नितम्ब-मण्डल दिशा रूपी गज सदृश थे । उसके पग कामदेव के निवास-स्थान जान पड़ते थे । उसकी जंघायें कदली वृक्ष सदृश थीं, कमलवत् चरणों में नुपुर बज रहे थे । उसकी मंथर गति हंसिनी-सी थी । रुक्मिणी ने उच्च-स्वर में पुकारा- 'यदि मेरे पुण्योदय से द्वारिकानाथ का यहाँ आगमन हुआ हो, तो शीघ्र दर्शन देने की कृपा करें । आह्वान सुनते ही श्रीकृष्ण एवं बलदेव ओट से बाहर निकले । अपने भावी पति को देखकर रुक्मिणी लाज से अवनत हो गयी । स्वभावतः वह अँगुष्ठ से भूमि खरोंचने की वृथा चेष्टा करने लगी । श्रीकृष्ण ने कहा- 'हे रूपसी ! यहाँ द्वारिका का स्वामी उपस्थित है, तू प्रसन्नतापूर्वक उसे देख ।' इस वाक्य को सुनकर रुक्मिणी संकोच से नतमस्तक हो गयी । शिशुपाल के सैन्य-बल के भय से उसका सर्वांग अनिष्ट की आशंका में प्रकम्पित हो रहा था । बलदेव ने तत्काल

अश्वो को रथ में सजाया । उन्होंने कहा- 'स्वभावतः नारी सलज्जा होती है । फिर कुमारी कन्याओं का तो कहना ही क्या ? अत: हे श्रीकृष्ण ! अब तुम क्या देख रहे हो । तत्काल रथ में उठाकर उसे बैठा लो । ऐसा प्रतीत होता है कि तू त्रिया-चरित्र से अब तक अनभिज्ञ ही है ।' तब श्रीकृष्ण ने रथ में चढ़ाने के बहाने कपट से रुक्मिणी का प्रगाढ़ आलिगन किया ।

जब रुक्मिणी रथ में बैठ गयी, तब श्रीकृष्ण तथा बलदेव भी आरूढ़ हुए । बलदेव ने बडी शीघ्रता से रथ हाँका एवं श्रीकृष्ण ने वीरतापूर्ण शंख-ध्वनि की । उन्होंने गम्भीर गर्जना कर कहा- 'मैं श्रीकृष्ण हठपूर्वक रुक्मिणी का हरण कर रहा हूँ । यदि शिशुपाल की सेना अथवा कुण्डनपुर मे किसी में शक्ति हो, तो वे रुक्मिणी को मुक्त करा लें ।' श्रीकृष्ण ने शिशुपाल को सम्बोधित करते हुए कहा-'हे नृपति! तुम्हारे जीवन को अब धिक्कार है क्योंकि मै तुम्हारी वाग्दत्ता का हरण कर रहा हूँ । हे भीष्मराज ! आपकी पुत्री को मैं द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण हरण कर लिए जा रहा हूँ । हे रूप्यकुमार ! तुम्हारी भगिनी का हरण हो गया है । तुम्हारी शूरता, बल एवं अभिमान समाप्त हो गये क्या ? तुम में साहस हो तो आओ, उसे मुक्त कराओ । यदि तुम अपनी भगिनी को नहीं मुक्त करा सकते, तो तुम्हारा साहस किस काम का ? यदि रुक्मिणी मेरे साथ चली गयी, तो तुम्हारा जीवित रहना व्यर्थ है ।' कुछ आगे बढ़ कर श्रीकृष्ण ने समागत अन्य राजाओ को सम्बोधित करते हुए कहा- 'हे राजागण ! बिना मेरे साथ युद्ध किये रुक्मिणी का पुनः मिलना सम्भव नहीं है ।' इसके पश्चात् श्रीकृष्ण का रथ युद्ध के प्रांगण की ओर अग्रसर हुआ । शिशुपाल की विह्वलता का तो कहना ही क्या ? उसकी सेना में अव्यवस्था फैल गयी । शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित उसके सैनिक गरज पड़े- 'दुष्ट ! चोर ! दस्यु ! इसे शीघ्र बन्दी बनाओ ।' भीष्म एवं रूप्यकुमार भी सेना सहित रणक्षेत्र में आ गए । सारी सेनाये 'पकड़ो-पकडो' के नारे लगा रही थीं । उन सेनाओ में रथी, गजारोही, अश्वारोही, पदाति वीर अपने सहायकों के संग सम्मिलित थे । जुझारू वाद्यो, गजराजों का चिघाड, अश्वो की हिनहिनाहट, एव चारणों की जय-ध्वनि से सम्पूर्ण वातावरण निनादित हो उठा । चारों ओर से घेर रही सेनाओं का श्रीकृष्ण एवं बलदेव ने वीरता से सामना किया । एक ओर विशाल सैन्य समूह एवं दूसरी ओर केवल श्रीकृष्ण तथा बलदेव को देखकर रुक्मिणी चिन्तित हो उठी । उसने विचार किया कि न जाने उसके भाग्य मे क्या अंकित है ? उसकी दृष्टि मे तो इन दोनो वीरो का विनाश निश्चित दिख रहा था । यदि

उसके लिए इनका वध हुआ, तो बड़ा अनर्थ हो जायेगा । उसके निराश नयन अश्रुओ की अविरल वर्षा करने लगे । रुक्मिणी की ऐसी विह्वल दशा को लक्ष्य कर बलदेव ने श्रीकृष्ण से कहा- 'हे श्रीकृष्ण ! रुक्मिणी की ओर ध्यान दो । प्रबल शत्रु-सैन्य को देखकर वह भयभीत हो रही है । उसे किसी प्रकार धैर्य बँधाओ । रुक्मिणी को रुदन करता देख कर श्रीकृष्ण का हृदय भर आया । उन्होंने धैर्य बँधाते हुए कहा- 'हे प्रिये ! इतनी चिन्ता किसलिये ? देखो, मैं क्षण भर में इन सुभटों को काल के गाल में पहुँचा देता हूँ ।' फिर भी रुक्मिणी को विश्वास न हुआ । वह पूर्ववत् क्रन्दन करती रही । श्रीकृष्ण ने पुनः आश्वासन देना आरम्भ किया- 'हे सौभाग्यवती ! तू मेरे असाधारण बल को देख, तब तुझे स्वतः विश्वास हो जायेगा ।' इतना कहकर श्रीकृष्ण ने अपनी अँगूठी का हीरा निकाल कर उसे चूर्ण कर डाला एवं उस चूर्ण से रुक्मिणी की हथेली पर एक मांगलिक स्वस्तिक बना दिया । इसके पश्चात् उन्होंने एक बाण से ही सात ताड़ के वृक्षों को ध्वस्त कर किया । जब ऐसी आश्चर्यजनक शक्ति एवं अद्रुत पराक्रम देखकर भी रुक्मिणी का विलाप न रुका, तब श्रीकृष्ण ने जिज्ञासा की- 'हे चन्द्रानने ! अपने विलाप का कारण तो प्रकट करो ।' रुक्मिणी ने लज्जा से नत होकर प्रार्थना की- 'हे प्राणनाथ ! मैं समझ गयी कि आपकी शक्ति अद्भुत एवं अपूर्व है । किन्तु मेरे निवेदन पर ध्यान दें कि युद्ध-स्थल में मेरे पिता एवं भ्राता की प्राणहानि न हो, अन्यथा मुझे लोकापवाद सहना पड़ेगा । कृपया आप उनका वध न करें ।' रुक्मिणी की ऐसी उक्ति सुनकर श्रीकृष्ण ने मुस्कारते हुए कहा -'हे देवी तू अपनी चिन्ता का त्याग कर दे । मैं वचन देता हूँ कि तेरे पिता एवं भ्राता का वध नहीं करूँगा ।' यह आश्वासन पाकर रुक्मिणी की चिन्ता का निवारण हुआ । उसने प्रसन्नता के साथ कहा- 'शत्रु दल से घिरी हुई इस युद्ध-भूमि में आप विजय लाभ प्राप्त करें ।'

रुक्मिणी एवं श्रीकृष्ण का वार्तालाप जब समाप्त हो गया, तब बलदेव ने कहा- 'हे श्रीकृष्ण ! चेदिनरेश शिशुपाल स्वयं बड़ा बलवान है । मुझ में इतनी शक्ति नहीं कि मैं उससे युद्ध के लिए प्रस्तुत होऊँ । केवल शिशुपाल को छोड़कर उसकी शेष सेना को मैं क्षण-भर में परास्त कर दूँगा ।' उत्तर में श्रीकृष्ण ने कहा- 'शिशुपाल की चिन्ता मत करो । उसे तो मैं युद्ध में परास्त करूँगा एवं वह अब यमराज का आतिथ्य ग्रहण करेगा ।' ऐसा कहकर रुक्मिणी को रथ में सुरक्षित कर उन धीर-वीर एवं साहसी वीरों

ने शिशुपाल की विराट सेना का सामना किया । मदोन्मत्त गजराज पर हमला करनेवाले सिह की भाँति श्रीकृष्ण शिशुपाल पर टूट पड़े । क्रोधित होकर शिशुपाल भी श्रीकृष्ण से जा भिड़ा । दोनों योद्धाओं में असाधारण युद्ध प्रारम्भ हुआ । इधर बलदेव ने भी शेष सेना पर बाणों की प्रबल वर्षा प्रारम्भ की । पर्वत जैसे मदोन्मत्त गजराज एवं द्रुतगामी अश्व धराशायी होने लगे । रथ पर आरूढ सहस्त्रों शूरवीर काल के गाल में समा गये । बलदेव ने शत्रुओं के दाँत खट्टे कर दिये । इस प्रकार एक तरफ श्रीकृष्ण ने शिशुपाल से एवं दूसरी ओर बलदेव ने शेष सेना से भीषण युद्ध किया । दोनों महाबली सुभटों का वह युद्ध दीर्घ काल तक चलता रहा । किसी में इतनी शक्ति नहीं थी कि वह बलदेव के प्रबल प्रहारों का सामना कर सके । शिशुपाल की सारी सेना तितर-बितर हो गई । वीर रूप्यकुमार ने देखा कि उसकी सेना पलायन कर रही है, तो उसने सन्मुख आकर बलदेव का सामना किया । उसने क्रोधित होकर बलदेव पर एक तीक्ष्ण बाण छोड़ा । किन्तु वज्र-कवच के कारण बलदेव आहत नहीं हो सके, पर बलदेव की क्रोधाग्नि भडक उठी । उन्होंने बड़ी वीरता के साथ रूप्यकुमार से युद्ध किया । दोनों योद्धा दीर्घ अवधि तक संग्राम करते रहे । तब बलदेव ने रूप्यकुमार पर नागपाश-बाण छोड़ा, जिसने रूप्यकुमार को नख-से-शिख तक बाँध लिया । बलदेव ने उसे रथ से उठा लिया एवं लाकर रुक्मिणी को सौंप दिया एवं कहा- 'अब इससे मक्खियाँ उडवाओ ।' उस ओर श्रीकृष्ण भी शिशुपाल के साथ भयंकर युद्ध कर रहे थे । प्रारम्भ में उन्होंने सामान्य अस्त्रो से युद्ध किया । तत्पश्चात् वे देवोपुनीत शस्त्रों से युद्ध करने लगे । जब इधर युद्ध चल रहा था, उस समय प्रसन्न होकर कलह- प्रेमी नारद आकाश में नृत्य कर रहे थे । इस प्रकार से दोनों ओर घोर युद्ध होता रहा । अन्त में श्रीकृष्ण ने अपने बहुमुखी रणकौशल से दानवीर, स्वाभिमानी, भयंकर, कुलीन, रौद्र परिणामी एवं क्रोधी शत्रु को शस्त्र-विहीन कर उसका वध कर दिया, जिस प्रकार सिंह गजराज को नष्ट कर देता है । सत्य ही है, पुण्य-क्षय होने पर विनाश अनिवार्य होता है । कुण्डनपुर की युद्ध-भूमि निहत अश्वों एवं खण्डित नर-मुण्डों से अति भयंकर प्रतीत होने लगी । सारी भूमि रक्त-धारा से रक्तिम हो रही थी । गजराजों के कुम्भस्थल से निकलती हुई रक्त की धारा में डूबे हुए रथों से मानो विभिन्न दिशाओं का मार्ग अवरूद्ध हो गया था ।

मदोन्मत्त शत्रुओं को विध्वस्त कर श्रीकृष्ण एवं बलदेव रुक्मिणी के निकट आये । रुक्मिणी सकोच

से अवनत हो रही थी । उसने नम्रतापूर्वक श्रीकृष्ण को नमस्कार कर कहा- 'हे नाथ ! आप अपूर्व पराक्रमी हैं । मेरा भ्राता नागपाश में बँधा हुआ है, आप कृपया उसे मुक्त कर अभयदान दें ।' श्रीकृष्ण ने सहास्य रूप्यकुमार को मुक्त कर दिया एवं उससे कहा--'तुम अब हमारे स्वजन हो । मैं आशा करता हूँ कि हमारे प्रति तुम्हारे स्नेह की भावना दृढ़ रहेगी एवं हमारा परस्पर आवागमन स्थापित होगा । यह सदा स्मरण रहे कि रुक्मिणी तुम्हारी प्रिय भगिनी है । अतः परस्पर मिलते-जुलते रहना ।' किन्तु अपनी पराजय से खिन्न रूप्यकुमार लज्जावश मौन रहा एवं नत शिर होकर उसने अपने नगर की ओर प्रस्थान किया ।

विजयी श्रीकृष्ण एवं बलदेव ने अपना रथ द्वारिकापुरी की ओर मोड़ा । बलदेव प्रसन्न चित्त होकर रथ का संचालन कर रहे थे । रुक्मिणी की प्राप्ति से श्रीकृष्ण को जो अतीव प्रसन्नता हो रही थी, वह वर्णनातीत थी । वे मन-ही-मन कृतकृत्य हो रहे थे । दोनों को मनोवाँछित पात्र प्राप्त हुए थे । वे विजयी वीर परस्पर वार्तालाप करने लगे । आचार्य का कहना है कि जिन श्रीकृष्ण ने प्रबल शत्रुदल को परास्त कर राजा भीष्म की पुत्री रुक्मिणी प्राप्त की, उनके बल-विक्रम का वर्णन भला कौन कर सकता है ? वे मार्ग में विभिन्न रमणीक स्थलों की नैसर्गिक सुषमा का अवलोकन करते हुए परस्पर मनोविनोद करते-करते रैवतक पर्वत पर जा पहुँचे । उस पर्वत की मनोरमता देखकर रुक्मिणी बड़ी आनन्दित हुई । वृक्ष एवं लताओं से सज्जित नन्दन सदृश प्रतीत होनेवाले उस वन में बलदेव ने श्रीकृष्ण एवं रुक्मिणी का पाणिग्रहण सम्पन्न करवाया । वह वन उस समय से ही रुक्मिणी-वन के नाम से प्रसिद्ध हो गया है । वस्तुतः महान् पुरुषों के संसर्ग से किस में बड़प्पन नहीं आ जाता ? कोई भी ग्राम अथवा वन हो वह महापुरुषों के आगमन से पुण्य-भूमि बन जाते हैं । वह सुरम्य वन ही श्रीकृष्ण एवं रुक्मणी की क्रीड़ा-स्थली बन गया । श्रीकृष्ण अपनी नवोढ़ा पत्नी एवं भ्राता बलदेव के संग उस वन को निवास मान कर कुछ काल वहाँ ठहर गये ।

किंतु द्वारिकापुरी के नागरिकों को ज्ञात हो गया कि श्रीकृष्ण प्रबल शत्रु-सैन्य को परास्त कर रुक्मिणी का हरण कर लाये हैं । वे इस समय बलदेव के साथ रैवतक पर्वत पर निवास कर रहे हैं । इस शुभ समाचार से सर्वत्र उल्लास का संचार हुआ । स्वागत हेतु तोरणों से नगर को सुसज्जित किया गया, मार्ग में पुष्प बिछाये गये एवं चन्दन जल का छिड़काव हुआ । इस तरह नगर को सजाकर श्रीकृष्ण के

श्री प्रद्युम्न चरित्र

कुटुम्बी, स्वजन तथा प्रजाजन भाँति-भाँति के वस्त्राभूषण पहिन कर चारणों के साथ स्वागत के लिए गये । उन्होने बडे उत्साह से श्रीकृष्ण (नारायण) तथा बलदेव (बलभद्र) का स्वागत किया । श्रीकृष्ण ने भी आगन्तुकों का विधिवत् सत्कार किया । वे रुक्मिणी एवं बलदेव के साथ रथ पर आरूढ़ होकर द्वारिका की ओर अग्रसर हुए । जब रथ ने नगर में प्रवेश किया, तो नगर-निवासी बडी उत्कण्ठा से वधू को देखने के लिए आये । नगर की नारियो ने कौतुकप्रद विनोद प्रस्तुत किये । वर-वधू के दर्शन के उमंग में उन्हें अपने तन-मन की भी सुधि न रही । उस दृश्य का यहाँ संक्षेप में वर्णन किया जाता है-

वधू को देखने की उत्कण्ठा मे एक नारी चूडाबन्धन को कटि में एवं मेखला को मस्तक पर बाँध कर आ गयी थी । दूसरी नेत्र मे कुँकुम एवं गालों पर कज्जल लगा कर आ गयी थी । कोई-कोई नारी तो अपने शीश एव उरोज आँचल से ढँकना ही भूल गई थी । एक नारी अपने बालक को दुग्धपान करा रही थी, उसने जब सुना कि श्रीकृष्ण रुक्मिणी को लेकर आ गये हैं, तब वह अबोध शिशु को एकाकी छोड कर चली आई । कुछ केश सँवारना ही भूल गयीं, कुछ अपने पति को भोजन करते हुए ही छोड़कर चली आईं । दो नारियाँ भीड में इस प्रकार घुसती हुई जा रही थीं कि उनमें से एक का हार टूट गया, दूसरी का वस्त्र विछिन्न हो गया । एक नारी जल लाने के लिए गयी थी, उसने मार्ग में वर-वधू पर मुक्ताफल का क्षेपण किया । नारियों की ऐसा विह्वल दशा देखकर श्रीकृष्ण विनोद में मुस्करा रहे थे । किसी ने टिप्पणी की- 'कितना मनोहर दृश्य है ।' उसी समय गर्ग जातिवालों ने कहा- 'श्रीकृष्णनारायण नवीन पत्नी लाये हैं । पुण्य का प्रभाव तो देखो, कितना सुन्दर संयोग हुआ है ।' एक नारी ने कहा- 'यह कुलीन सुन्दरी धन्य है, जिसे कामदेव को परास्त करनेवाले श्रीकृष्ण जैसे पति मिले ।' दूसरी नारी तत्काल बोल उठी- 'वस्तुत यह सर्वोत्तम युगल है । रति तथा कामदेव को भी ये लज्जित कर रहे हैं ।' तीसरी नारी ने कहा- 'सत्य है । इस सुन्दरी ने पूर्वभव मे दान, व्रत, ध्यान, तीर्थ-यात्रा, जप, तप आदि किये हैं, फलतः ऐसा सुयोग्य वर मिला ।' इतने में एक चतुर नारी बोल उठी--'यथार्थ मे इसने दान, पुण्य, व्रतादि का आचरण कर महती पुण्य-संचय किया है, जिससे श्रीकृष्ण जैसे तीन खण्ड पृथ्वी के नाथ को पति रूप मे प्राप्त किया । यह बडी पुण्यवती है । क्योकि पुण्यहीन के मनोरथ स्वप्न मे भी सफल नहीं होते ।' राज-मार्ग से गमन करते हुए श्रीकृष्ण तथा रुक्मिणी ने नारियो के मुख से ऐसे अनेक उद्गार सुने । अनेक भव्य

श्री प्रद्युम्न चरित्र

जिन-मन्दिरों से सुशोभित द्वारिकां नगरी को देख कर रुक्मिणी को अपूर्व प्रसन्नता हुई । उसने विचार किया कि मैं प्रत्येक दिन भिन्न-भिन्न जिन-मन्दिरों की वन्दना करूँगी एवं अपनी मानव पर्याय को सफल करूँगी ।

बड़ी चहल-पहल में श्रीकृष्णनारायण अपने महल में पधारे । सौभाग्यवती स्त्रियों ने श्रीकृष्ण एवं रुक्मिणी की आरती उतारी । विभिन्न प्रकार के मांगलिक गीत गाये गये । जब श्रीकृष्ण अपने महल में पहुँच गये, तो बलदेव भी अपनी हृदय-बल्लभा रेवती के महल में पधारे । रेवती ने प्रसन्नतापूर्वक उनका आलिंगन किया । सत्य ही है, कर्त्तव्य-धर्म पालन के पश्चात् सबको सुख-प्राप्त होता है ।

श्रीकृष्ण ने धन-धान्य से पूरित, रथ, पालकी, गज, अश्व, विभिन्न शस्त्रों से सुसज्जित तथा दास, दासी आदि से रक्षित अपना नौखण्डा (नौमन्जिला) महल रुक्मिणी को सौंप दिया । उनके भोजन, स्नान, आसन, शयनादि नित्य क्रिया का स्थान रुक्मिणी का महल बन गया । उन्होंने अन्य स्थानों पर गमन सर्वथा त्याग दिया । वे मन-वचन-काय से रुक्मिणी में आसक्त थे । विद्याधर-पुत्री सत्यभामा को श्रीकृष्ण का वियोग बडा अखरा । वह दिन-प्रतिदिन क्षीणकाय होने लगी । किन्तु उसमें स्वाभिमान इतना प्रबल था कि न तो उसने श्रीकृष्ण से निवेदन किया एवं न अपनी देह की चिन्ता की । नारद की प्रसन्नता का तो पूछना ही क्या था ? श्रीकृष्ण के वियोग से दुःखी सत्यभामा को देखकर वे परम सन्तोषित हुए कि उनका मनोरथ सफल हो गया । अब वे प्रतिदिन सत्यभामा के महल में आने लगे । नारद उसका उपहास करते थे-- 'स्मरण है उस दिन का जब तूने अपने रूप के अभिमान में मेरा निरादर किया था ।' सत्य है अपने शत्रु को दुःखी देखकर किसको प्रसन्नता नहीं होती ? रात्रि एवं दिवस में, स्वप्न एवं जाग्रत अवस्था में श्रीकृष्ण सदा रुक्मिणी के प्रेम में विभोर रहते थे । उन्हें अन्य रानियों की सुधि तक्र न थी । ठीक भी है,, सब जगह गुणों कां ही आदर होता है । केवल विद्या एवं रूप ही काम नहीं देते । सत्यभामा तो बुद्धिमती एवं उच्च्य कुल की थी, पर उसकी भी उपेक्षा कर दी गयी ।

एक दिन महाराज, श्रीकृष्ण रुक्मिणी के संग काम-क्रीड़ा में संलग्न थे । उस समय उनका रुक्मिणी से जो आनन्ददायक वार्तालाप हुआ, उसका वर्णन यहाँ करते हैं । काम-केलि समाप्त होने के उपरान्त रुक्मिणी ने अपने स्वामी से जिज्ञासा की--'हे प्राणनाथ ! मैंने तो सुना था कि आप सत्यभामा को अपने

श्री प्रद्युम्न चरित्र

प्राणो से भी अधिक प्रेम करते हैं । किन्तु अब तो आप उसके महल की ओर भी नही जाते । इसका यथार्थ कारण बतलाइये ।' श्रीकृष्ण ने कहा-- 'हे प्रिये । कारण यह है कि सत्यभामा बडी अभिमानिनी है । यह मुझे रुचिकर प्रतीत नहीं होता । उस सुवर्ण के आभूषण से लाभ ही क्या, जिससे कर्ण ही खण्डित हो जाय ? उस सुवर्ण को तो गला देना चाहिये, जिससे कि कर्ण खण्डित होने की सम्भावना ही न रहे।' रुक्मिणी ने पुनः निवेदन किया-- 'किन्तु क्या प्राप्त वस्तु कोई त्याग देता है ? वास्तव में कर्णों को खण्डित करने वाला सुवर्ण भी त्यागा नहीं जाता ।' रुक्मिणी के ऐसे नीतिप्रद उदार वचन सुनकर श्रीकृष्ण को बड़ा सन्तोष हुआ । उन्होंने कहा--'तुमने कहा है, इसलिये मैं कल सत्यभामा के यहाँ जाऊँगा ।' उसी समय रुक्मिणी ने (ताम्बूल) का बीड़ा चबा कर भूमि में थूक दिया था । श्रीकृष्ण ने बड़ी चतुराई से बिना किसी के देखने मे आये उस उच्छिष्ट को अपने अंगवस्त्र में (छोर में) बाँध लिया ।

दूसरे दिवस वे सत्यभामा के महल की ओर चले । एक तो वह हतभागिनी चिन्ता में घुल रही थी, दूसरे श्रीकृष्ण उसे ठगने के विचार से उसके यहाँ आये थे । सत्यभामा ने नवोढ़ा सौत के यहाँ से पति को अपनी ओर जाते हुए देखकर द्वेषपूर्ण वचन कहे-- 'हे नाथ ! आज क्या मार्ग भूल कर चले आये हैं ? यह तो आप की प्राण-वल्लभा का महल नहीं है ।' श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया-- 'हे प्रिये ! मैं तो तेरी इच्छा के विरुद्ध नहीं आया हूँ । यदि भूलकर ली हो, तो क्या अब लौट जाना उचित होगा ?' इस प्रकार के अनेक कृत्रिम निवेदनो से उन्होंने सत्यभामा को प्रसन्न कर लिया एवं बडी नम्रता से बोले-- 'हे देवी ! मुझे निद्रा आ रही है । यदि तू अनुमति दे, तो मैं यहीं शयन कर लूँ-- विश्राम भी हो जायेगा ।' सत्यभामा ने कहा-- 'इसमे क्या सन्देह है, निद्रा तो आती हो होगी । कारण वह नवोढ़ा (नवीन सौत) आपको शयन करने नहीं देती होगी । उसे आपको प्रसन्न करते रहना चाहिये । मुझे इसकी चिन्ता नहीं, क्योंकि मैं वर्षों तक आपके साथ भोग-विलास कर चूकी हूँ । आप क्रीडा से थककर ही मेरे महल में शयन किया करें। मैं सदैव आप को सुखी देखना चाहती हूँ ।' सत्यभामा के ऐसे वचन सुनकर श्रीकृष्ण बोल उठे-- 'भला मुझे विश्वास नहीं है कि तुम मेरा हित चाहती हो ? नवीन तो नवीन ही है, किन्तु तुम तो समग्र रानियों मे प्रिय प्राणवल्लभा हो ।' इतना कहकर श्रीकृष्ण निद्रा-मग्न हो गये । उनके अंगवस्त्र में बँधे हुए उच्छिष्ट ताम्बूल की सुगन्धि चतुर्दिक विस्तीर्ण होने लगी, जिससे उस पर भौंरे मँडराने लगे । सत्यभामा ने बडी

सावधानी से गॉंठ खोली । उसने समझा रुक्मिणी के लिए कोई अपूर्व भेंट बॅंधी होगी, जिसे श्रीकृष्ण ने दिखलाया तक नहीं । संसार की विचित्र गति है । मुझसे विश्वासघात किया जाय एवं सौत को ऐसी सुगंधित वस्तु भेंट में दी जाय ।' उसने श्रीकृष्ण को निद्रित समझकर उच्छिष्ट ताम्बूल को निकाल कर उसे चन्दन की चौकी पर घिस लिया एवं अलभ्य वस्तु समझ कर उसे लेप कर लिया कि अब अवश्य ही श्रीकृष्ण वश में हो जायेंगे ।

जब चूर्ण-संलेपन से सत्यभामा प्रसन्न हो रही थी, तो श्रीकृष्ण ने धीरे से अपने नेत्र खोल कर खिलखिलाते हुए हॅंसना प्रारम्भ किया । उन्होंने कहा-- 'हे मूर्खे ! यह लोक-निन्दित कार्य तूने कैसे किया? देखने में तो तू बड़ी पवित्र प्रतीत होती थी । किन्तु रुक्मिणी के उच्छिष्ट (जूठा) ताम्बूल को अंग में लेपकर तूने बड़ा अनर्थ किया है । रुक्मिणी ने कर्पूरादि से सुगन्धित पान का बीड़ा चबाया था । विनोद करने के लिए उसे मैंने अंगवस्त्र में बॉंध लिया था । सत्पुरुष तो ऐसी वस्तु का स्पर्श भी नहीं करते । तब तूने अपने अंग पर कैसे लेप कर किया ?' इतना कह श्रीकृष्ण ताली पीट-पीट कर हॅंसने लगे । उन्होंने पुनः कहना आरम्भ किया-- 'हे हृदयेश्वरी ! तुझे मैं अत्यधिक प्रेम करता हूॅं । तू विद्याधरों के प्रमुख की पुत्री है । तू द्वारिकाधीश की पटरानी है । तूने ऐसा लोक-निन्द्य कार्य कैसे किया ? परन्तु नीति कहती है कि नारियॉं नदी की तरह निम्न गति की ओर ही जाती हैं । इस नीति का जिसने उल्लेख किया है, वह वस्तुतः उचित ही कहा है ।' श्रीकृष्ण भिन्न-भिन्न रूप से ताने कस-कस कर सत्यभामा को चिढ़ाने लगे। सत्यभामा लज्जित हो गयी । उसने अपने मनोभावों को छुपा कर प्रकट रूप में चतुरता के साथ कहा-- 'हे स्वामिन् ! आप व्यर्थ में पंचम स्वर में अट्टाहास कर रहे हैं । जिस रुक्मिणी को आप शिशुपाल का वध कर हर लाये हैं, वह मेरी छोटी भगिनी है । वह मेरे सामने छोटी से बड़ी हुई है । इसलिये जान-बूझ कर मैंने उसके उच्छिष्ट ताम्बूल का लेप किया । क्योंकि ताम्बूल तो मेरी भगिनी के मुख का है, उसके स्पर्श से मुझे सुख प्राप्त होगा । जिसका मल-मूत्र मैंने धोया, जिसे बड़ा किया, उसके अंग की भोगी हुई वस्तु से मुझे कदापि घृणा नहीं हो सकती । आप व्यर्थ में मेरा उपहास कर रहे हैं ।' श्रीकृष्ण ने कहा-- 'तथास्तु ! यदि तुम्हें रुक्मिणी का उच्छिष्ट ही प्रिय लगता है, तो मैं सदैव लाया करूॅंगा, उसका लेप कर अपना मनोरथ पूर्ण करना । सत्यभामा कहने लगी-- 'मुझे यह प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार है । जो ताम्बूल

श्री प्रद्युम्न चरित्र

रुक्मिणी के मुख का हो एवं मेरे प्राणप्रिय के अंगवस्त्र में बँधा हो, तो वह मुझे प्रिय क्यो न लगेगा ? इसमें उपहास की कोई वस्तु नहीं । प्रत्युत्तर में श्रीकृष्ण ने कहा--'तथास्तु ! जो हुआ, सो हुआ । अब नहीं हसूँगा ।' इतना कहकर श्रीकृष्ण मौन हो गये । कुछ काल उपरान्त सत्यभामा ने श्रीकृष्ण से प्रार्थना की--'मैं रुक्मिणी से मिलना चाहती हूँ । कृपा कर योग्य प्रबन्ध कर दें ।' श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया--'हे देवी ! तुम्हारी इच्छा पूर्ण होगी, ऐसा निश्चय समझो । जब तुझे रुक्मिणी प्रिय है, तो उससे समागम कठिन नहीं है ।' इतना कहकर वे कुछ काल तक वही बैठे रहे । फिर धीरे से महल के बाहर निकले एवं प्रेमोन्मत्त होकर झूमते हुए रुक्मिणी के महल में चले गये ।

रुक्मिणी ने जब देखा कि स्वामी आ गये हैं, तब वह उठी । उसने नम्रतापूर्वक उनका चरण-स्पर्श किया ! सत्य है, कुलीन नारियाँ सदैव अपनी मर्यादा का पालन करती हैं । श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी से कहा--'हे प्रिये ! मेरे कथनानुसार वस्त्राभूषणों से सज्जित हो कर प्रस्तुत हो जाओ । श्वेत वस्त्र एवं लाल वर्ण की कन्चुकी (काँचली) पहिन लो । अपना सर्वांग देवांगना की भाँति बनाकर तुम सत्यभामा के उपवन में चलकर बैठ जाओ ।' रुक्मिणी ने कहा-- 'आपकी आज्ञा शिरोधार्य है ।' उसने तत्काल ही सोलह-श्रृंगार कर लिया एवं श्रीकृष्ण उसको सत्यभामा के उपवन में ले गये । वह उद्यान नाना प्रकार के वृक्षों से सुशोभित था । स्थान-स्थान पर पुष्पों की प्रदर्शिनी लग रही थी । उनकी सुगन्धि पर झुण्ड के झुण्ड भौंरे कलरव कर रहे थे । भौंरो की पंक्ति ऐसी प्रतीत होती थी, मानो रुक्मिणी के स्वागत के लिए तोरण बाँधा गया हो । पवन के झकोरो से वृक्षों के तृण ऐसे दोलायमान हो रहे थे, मानो प्रसन्नता में ताण्डव नृत्य कर रहे हों । पक्षियों का कलरव ऐसा प्रतीत होता था कि बन्दीजन स्तोत्र का पाठ कर रहे हों । पिक की वाणी सुनकर उमंग में मोर नृत्य कर रहे थे । रुक्मिणी ने उद्यान में प्रवेश किया । वह नन्दन वन में इन्द्राणी सदृश सुशोभित हुई । उद्यान में एक मनोहर सरोवर था । उसकी समस्त सीढ़ियाँ सुवर्ण की थीं । उसमें अथाह जल भरा था, तट पर राजहस बैठे थे । मध्य में पद्म प्रस्फुटित हो रहे थे एवं चक्रवाक युगल बैठा हुआ था । सरोवर के तट पर रत्नजड़ित आश्रय-स्थल बने थे, जिनमें विभिन्न जलचर जीवों का निवास था । तट पर ही अशोक वृक्ष था, जिसके तले स्फटिक शिला थी । श्रीकृष्ण ने उसी शिला पर वन-देवी की भाँति रुक्मिणी को आसीन कर दिया । उन्होने कहा--'हे प्रिये ! जब तक मै लौट कर

न आऊँ, तब तक मौन धारण कर निश्चल बैठे रहना-किसी प्रकार हलन-चलन नही हो ।' इतना निर्देश देकर श्रीकृष्ण सत्यभामा के महल में गये । वहाँ पहुँच कर श्रीकृष्ण ने कहा--'हे देवी ! क्या तू रुक्मिणी से भेंट करना चाहती है ?' उत्तर में सत्यभामा ने कहा--'हे प्राणनाथ ! यदि आप कृपा कर रुक्मिणी से मिला दें, तो मैं बड़ा उपकार मानूँगी ।' श्रीकृष्ण ने कहा--'हे प्रिये ! तब तू यथाशीघ्र उद्यान में जा, वहीं रुक्मिणी आ जायेगी । मैं उसके महल में जाकर उसे उपवन में भेजता हूँ ।' ऐसा कहकर श्रीकृष्ण गुप्त रीति से उसी उद्यान में चले गये । उन्हें सत्यभामा तथा रुक्मिणी के रूप-यौवन सम्बन्धी प्रतिस्पर्द्धा देखने की उत्कट लालसा थी । वे अशोक वृक्ष के निकट ही सघन कुंज में गुप्त रूप से खड़े हो गये ।

रूप-गर्विता सत्यभामा वस्त्राभूषणों से सुसज्जित हो कर उद्यान में जा पहुँची । प्रवेश करते ही उसने अशोक वृक्ष के नीचे स्फटिक शिला पर किसी वन-देवी को आसीन देखा । उसके मन में नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प का उदय होने लगा--'यह वन-देवी है या किसी सिद्ध की माया ? यह स्वर्ग की देवागंना है या किन्नरी ? नागकुमार की पत्नी है अथवा चन्द्रमा की भार्या रोहिणी ? क्या कामदेव की पत्नी रति है ? साक्षात् सरस्वती अथवा लक्ष्मी तो नहीं ?' अन्त में उसने यह निश्चय किया--'यह वन-देवी ही है, जो मेरे पुण्योदय से प्रकट हुई है । सुना भी जाता है कि प्रबल पुण्योदय से देव सहायतार्थ प्रकट होते हैं। 'सत्यभामा ने सोचा--'यदि श्रीकृष्ण को अपने अधीन करने के लिए मै भक्ति-भाव से इस वन-देवी की उपासना करूँ, तो मंगल ही होगा, क्योंकि देवाराधना से इष्ट वर प्राप्त होते हैं ।' वह कुछ काल तक इसी उधेड़-बुन में पडी रही । तत्पश्चात् सरोवर में उसने स्नान किया । उचित ही है, मनोरथ की सिद्धि के लिए सभी तरह के उद्योग किये जाते हैं । स्नान के अनन्तर वह पद्म के पुष्प तोड़कर सरोवर से निकली । उसे यह भी भय था कि कहीं रुक्मिणी न आ जाय । फिर भी ढाढ़स बाँध कर वह अशोक वृक्ष के तले आसीन वन-देवी (रुक्मिणी) के निकट जाकर खड़ी हो गयी । उसने बड़ी आशा से भक्तिपूर्वक पुष्पों से वन-देवी की पूजा की । उसके चरणों पर मस्तक टेका एवं साथ ही प्रार्थना की--'हे वन-देवी ! तू मेरे पुण्योदय से प्रकट हुई है । तू मुझे उत्तम वरदान दे । कारण, देवी का दर्शन कभी निष्फल नहीं जाता । अतएव मैं केवल यही वरदान चाहती हूँ कि श्रीकृष्ण मेरे भक्त-किंकर बनें । मुझमें उनका मन आसक्त रहे । वे रुक्मिणी से सर्वथा विरक्त हो जायें । मेरी मनोकामना है कि मैं अपने पति के मनोप्रदेश पर एकछत्र राज्य

करूँ ।' हे देवी ! यदि वरदान देने में आपने विलम्ब किया, तो अभी रुक्मिणी के साथ श्रीकृष्ण आ जायेगे एवं मेरा मनोरथ पूर्ण न हो सकेगा । अत· यथाशीघ्र मेरी इच्छा पूर्ण करो । मेरी अभिलाषा है कि जिस प्रकार नथा हुआ बैल रस्सी खींचने से पीछे-पीछे चला आता हे, उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी मेरा अनुसरण करें । हे माता । मै आपसे वरदान की याचना करती हूँ । रुक्मिणी एवं श्रीकृष्ण मे सम्बन्ध-विच्छेद करा दे ।'

इस प्रकार प्रलाप करती हुई सत्यभामा ने अपना मस्तक वन-देवी के चरणो में नत कर दिया । वन-देवी बनी रुक्मिणी प्रस्तर-प्रतिमावत निश्चल एवं मौन थी । उसने कोई उत्तर नहीं दिया । सत्यभामा की सारी लीला श्रीकृष्णनारायण देख रहे थे । उपयुक्त समय जान कर वे कुन्ज से बाहर निकले । सत्यभामा से दृष्टि मिलते ही उन्होने हँसना प्रारम्भ किया एवं बारम्बार ताली पीटने लगे । वे सत्यभामा की चुटकियाँ लेते हुए कहने लगे--' हे प्रिये ! क्या तुम्हें रुक्मिणी के चरणों की पूजा से मनोवाँछित वर प्राप्त होंगे ? तुम्हें यदि उसकी आराधना से ही सौभाग्य की प्राप्ति होगी, तो तुम उसे उपेक्षा की दृष्टि से क्यो देखती हो ? तुम्हें वृथा अपने ऊपर अभिमान क्यों होता है ? अब तो अष्ट-द्रव्य से उसकी पूजा करो, तभी मैं तुम्हारा दास बनूँगा ।' इस प्रकार सत्यभामा का उपहास कर वे उच्च-स्वर मे अट्टहास करने लगे ।

अब सत्यभामा की समझ में आ गया कि जिसे वह वन-देवी समझती थी, वो कोई देवी नहीं किन्तु साक्षात् रुक्मिणी ही है । अपनी मन्द बुद्धि पर उसे खेद हुआ । वह लज्जित एवं संक्लेशित हुई, किन्तु यत्नपूर्वक उसने अपने क्रोध को प्रकट नहीं किया । वह चतुरतापूर्वक बोली--'हे मुर्ख शिरोमणि ! आप सचमुच गोपाल ही हो । गोपाल (गाय चराने वाले) की चेष्टाएँ ऐसी ही होती है, अन्यथा कोई विवेकी आपके सदृश मूर्खतापूर्ण कार्य नहीं करेगा । मै तो विधि को मूर्ख ही समझूँगी, जिसने आपके सदृश अविवेकी को तीन खण्ड का राज्य दे दिया । हे मूढमति ! इसमे उपहास की कौन-सी वस्तु है ? यदि मैने रुक्मिणी को अपनी भगिनी मानकर नमस्कार ही कर लिया, तो कौन-सा अपराध हो गया ? आपतो अन्य का ही दोष देखते हो । तनिक यह भी तो सोचो कि जहॉ दो नारियॉ एकत्रित हों, वहॉ किसी पुरुष का आगमन क्या उचित हे ? जो आपके सदृश अविवेकी पुरुष होते हैं, वे इस पर विचार नहीं करते ।'

जब श्रीकृष्ण ने देखा कि सत्यभामा अत्यन्त क्रुद्ध हो गयी है, तब वे वहॉ से प्रस्थान कर गये ।

श्रीकृष्ण के वार्तालाप से रुक्मिणी भी समझ गयी थी कि यह सत्यभामा है । अब उसे अपने वन-देवी के स्वरूप पर लज्जा प्रतीत हुई । उसने अपने विनम्र स्वभाव के अनुकूल ज्येष्ठा मान कर सत्यभामा के चरणों में नमस्कार किया । सत्य ही है, उत्तम कुल में जन्मधारी स्वभाव से विनम्र होते हैं । रुक्मिणी एवं सत्यभामा ने परस्पर प्रेमालिंगन किया । सत्यभामा ने जिज्ञासा की--'हे रुक्मिणी ! तुम प्रसन्न तो हो ?' रुक्मिणी ने कहा--'हे भगिनी ! आपकी कृपा से मैं सब प्रकार से सुखपूर्वक हूँ ।' दोनों ने नयनों से परस्पर का सौन्दर्य परखा एवं पुनः प्रेमपूर्वक सम्भाषण करने लगीं । तत्पश्चात् वे दोनों उद्यान से निकली एवं अपने-अपने महल में चली गयीं । लेकिन सत्यभामा का जो घोर अपमान हुआ था, उससे वह हार्दिक दुःखी थी । उसके क्लेश का पारावार नहीं था । यह तो न्याय की बात है । भला ऐसी कौन नारी है, जिसे अपने अपमान से दुःख न होता हो ।

एक दिन महाराज श्रीकृष्ण प्रजाजनों के साथ सभा में आसीन थे । ठीक उसी समय कुरुराज दुर्योधन का दूत आया । उसने भक्तिपूर्वक श्रीकृष्ण को प्रणाम किया । तत्पश्वात् श्रीकृष्ण के समक्ष एक पत्र रखकर अनुमति लेकर वह अपने योग्य स्थान पर बैठ गया । श्रीकृष्ण ने पत्र को उठाया एवं वाचन हेतु मंत्री को दे दिया । मंत्री ने श्रीकृष्ण को आनन्द प्रदान करने के लिए उस स्पष्ट अर्थवाले पत्र को बॉचकर सुनाया--

द्वारावती के अधिपति महाराज श्रीकृष्ण को, जिनके कमलवत् चरणों की सेवा अनेक नृपतिगण करते हैं, हस्तिनापुर के राजा दुर्योधन का विनय तथा भक्तिपूर्वक प्रणाम स्वीकृत हो । आपकी कृपा से यहॉ सर्व प्रकार मंगल है, आपकी कुशलता एवं प्रसन्नता के हम सदैव अभिलाषी हैं । यद्यपि आप हम लोगों से सुदूर निवास करते हैं, तब भी हमारे प्रिय बन्धु हैं । आप हमारे सदा से हितैषी हैं, अतः आप से कुछ निवेदन है । आशा है आप स्वीकार करेंगे । मेरी प्रार्थना है कि भविष्य में मेरी या आप की जो सन्तान हों, उनमें परस्पर विवाह-विधि के अनुसार मैत्री स्थापित की जाय । सम्भवतः आपकी पटरानी के पुत्र उत्पन्न हो एवं मेरे यहॉ पुत्री हो, तो इन दोनों का विवाह हो जाये । यदि पुण्योदय से मेरे यहॉ पुत्र उत्पन्न हुआ एवं आपके पुत्री हुई, तो भी नियमानुसार विवाह होना चाहिये, क्योंकि संसार में समग्र प्राणियों का यथायोग्य सम्बन्ध स्थापित होता है । यदि आप इस भावी सम्बन्ध को उचित समझते हों, तो कृपया अपनी स्वीकृत सूचित

करें ।'

पत्र को सुनकर श्रीकृष्ण को बड़ी प्रसन्नता हुई । उन्होंने भरी सभा में घोषणा की--'मैं दुर्योधन से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने को प्रस्तुत हूँ । सत्पुरुषों से योग्य सम्बन्ध करने में कोई दोष नहीं । इस प्रकार प्रसन्नतापूर्वक श्रीकृष्ण ने दूत का उपयुक्त सम्मान किया । उन्होने उस दूत के साथ अपना दूत भी दुर्योधन के पास भेजा । श्रीकृष्ण के दूत ने जाकर दुर्योधन को नमस्कार किया एवं वार्तालाप के पश्चात् विवाह सम्बन्ध का निश्चय हो गया । इससे दुर्योधन को जो प्रसन्नता हुई, वह वर्णनातीत थी । उसने दूत को पुरस्कार में वस्त्रालंकार देकर विदा किया । दूत जब लौट कर स्वदेश आया, तब उसने श्रीकृष्ण से सब समाचार कह सुनाया । इन दूतों के आदान-प्रदान के सम्वाद का रुक्मिणी को ज्ञान नहीं था, केवल सत्यभामा ही जानती थी, अन्य रानियों को भी यह घटना ज्ञात नहीं हुई ।

लक्ष्मीपति श्रीकृष्णनारायण ने अपनी प्राण-वल्लभा रुक्मिणी के साथ अनेक वर्षों तक सुख भोगा । सारी प्रजा का उन पर स्नेह था । सहस्रों नृपति उनकी आज्ञा का पालन करते थे । उन्हें अपनी मनोकामना की सिद्धि होने से प्रसन्नता हो रही थी । यह सब पुण्य का ही प्रताप था । पुण्य से ही रुक्मिणी की प्राप्ति, शिशुपाल की पराजय तथा द्वारिका का राज्य प्राप्त हुआ । इससे कहना चाहिये कि सत्पुरुषों को पुण्य के प्रभाव से ही सब वस्तुएँ प्राप्त होती है ।, अतएव सत्पुरुषों को उचित है कि वे जिनेन्द्र की आज्ञा का पालन व पुण्य का संचय करें । पुण्य के परिणाम चन्द्रमा की तरह मनोहर एवं उज्जवल होते हैं । जो जीव लौकिक एवं देव पर्याय में सुख प्राप्त करना चाहते हो, उन्हें सदा पुण्य का उपार्जन करना चाहिये ।

पंचम सर्ग

जब रुक्मिणी द्वारा सत्यभामा का मान-भंग हो गया, तो वह अत्यन्त दुःखी हुई । वह आहें भर-भर कर मूर्खतापूर्ण उपाय सोचने लगी । उसने विचार किया--'काश ! कोई ऐसा उपाय हो, जिससे रुक्मिणी को भीषण कष्ट का सामना करना पड़े । उसे ऐसा कष्ट का अनुभव हो, जिसे वह सहन करने में असमर्थ हो जाये ।' एक दिन सत्यभामा को अकस्मात दुर्योधन के दूत की घटना का स्मरण हो आया । विवाह-सम्बन्धी वचनों के स्मरण से उसका हृदय प्रफुल्लित हो गया । उसने विचार किया कि कितना अचूक

लक्ष्य है । इससे मेरा दुःख दूर होगा एवं रुक्मिणी की चिंता बढ़ेगी । अवश्य पहले मेरे पुत्र उत्पन्न होगा। रुक्मिणी के हो भी सकता है एवं नहीं भी, कारण मैं रुक्मिणी से अवस्था एवं देहयष्टि के आकार में बड़ी हूँ । अनुमान से भी सिद्ध है कि मैं ही प्रथम पुत्र उत्पन्न करूँगी । अतएव यथाशीघ्र इस योजना को कार्यान्वित कर देना चाहिये । इसमें श्रीकृष्ण एवं बलदेव की साक्षी भी आवश्यक है ।' अपने इस विचार को सफलीभूत करने के लिए सत्यभामा ने अपनी दासी को बुलाया एवं उसे सब समझा कर रुक्मिणी के यहाँ भेजा ।

दासी डरते हुए रुक्मिणी के महल में जा पहुँची । उसने नम्रतापूर्वक नमस्कार कर कहा--'हे देवी ! महादेवी सत्यभामा ने एक सन्देशा देने के लिए मुझे भेजा है, किन्तु वे कटु वचन कहने में मुझे संकोच हो रहा है ।' भीष्मराज की पुत्री ने कहा--'हे दासी ! तू संदेशा कहने में क्यों डरती है ? संदेशवाहक का कार्य ही होता है कि वे अपनी की आज्ञानुसार संदेश पहुँचाये । मैं तुझे अभय-वचनदेती हूँ, तू निर्भय होकर कह ।' तब दासी ने निवेदन किया--'हे देवी ! विद्याधर सुकेतु की पुत्री सत्यभामा ने आपको सूचना दी है कि सम्भवतः पुण्य के उदय से प्रथम आप (रुक्मिणी) को पुत्र की प्राप्ति होगी, तो बड़ी धूमधाम से उसका विवाह किया जायेगा एवं मैं (सत्यभामा) लग्न के समय उसके पग तले अपने शीश के केश रखूँगी । इसके उपरान्त ही बारात प्रस्थान करेगी । किंतु यदि पहिले मुझे पुत्र की प्राप्ति होगी, तो आपको भी मेरी तरह उसके विवाह लग्न के समय अपने मस्तक के केश उसके चरणों के तले रखने होंगे ।' दासी द्वारा यह सन्देश सुनकर रुक्मिणी ने मुस्कराकर कहा--'हे दासी ! तुम्हारी स्वामिनी का प्रस्ताव मुझे स्वीकार है ।' तदुपरान्त सत्यभामा एवं रुक्मिणी ने अपनी-अपनी दासियों को श्रीकृष्ण एवं बलदेव की इस प्रस्ताव पर सहमति प्राप्त करने के लिए सभा में भेजा । किसी ने सत्य ही कहा है कि अभिमान से सर्वस्व विनष्ट हो जाता है । सभा में दोनों दासियों के मुख से समस्त घटना-चक्र का आद्योपान्त विवरण एवं उनके प्रण सुने गये । उन पर श्रीकृष्ण, बलदेव एवं यादव वीरों की साक्षियाँ ले ली गयीं । तदनन्तर स्वाभिमानिनी सत्यभामा एवं रूपसी रुक्मिणी सुखपूर्वक समय व्यतीत करने लगीं ।

रुक्मिणी एक दिन पुष्पों के सुकोमल पर्यंक पर शयन कर रही थी । उसने रात्रि के तृतीय प्रहर में परमानन्द स्वरूप कामदेव की उत्पत्ति सूचक छः स्वप्न देखे । प्रथम स्वप्न में रुक्मिणी ने देखा कि वह

राजसी वैभव के संग विमान मे आरूढ़ होकर आकाश-मार्ग में क्रीड़ा युक्त संचार कर रही है । द्वितीय स्वप्न मे इन्द्र के ऐरावत के सदृश गजराज को सम्मुख बैठे हुए देखा, जो रह-रह कर चिंघाड़ उठता था। तृतीय स्वप्न में उदयाचल पर सूर्य को उदय होते हुए तथा कमलों को विकसित करते हुए देखा । चतुर्थ स्वप्न मे निर्धूम प्रज्वलित अग्नि देखी । पंचम स्वप्न में चन्द्रमा एवं षष्ठ स्वप्न में गरजता (लहराता) हुआ समुद्र देखा । स्वप्न देखने के अनन्तर बन्दीजनों की विरुदावली सुनकर रुक्मिणी की तंद्रा भंग हुई । वह शैय्या त्याग कर उठी । विधिपूर्वक स्नानादि नित्यकर्मों से निवृत्त हो कर वह अपने पतिदेव श्रीकृष्ण के समीप आयी । उसने भक्तिपूर्वक उन्हें नमस्कार किया एवं उनकी आज्ञा के अनुसार वाम पार्श्व में सिंहासन पर आसीन हो गई । आगमन का कारण पूछने पर रुक्मिणी ने निवेदन किया--'हे नाथ ! मैंने रात्रि के तृतीय प्रहर में सूर्योदय के पूर्व कई स्वप्न देखे हैं । उन्हीं स्वप्नों के फल सुनने की अभिलाषा से मैं आपकी सेवा में उपस्थित हुई हूँ ।' ऐसा कहकर रुक्मिणी ने स्वप्नों का आद्योपान्त विवरण कह सुनाया ।

समस्त वृत्तान्त सुनकर श्रीकृष्ण को अतीव प्रसन्नता हुई । उन्होंने तत्काल रुक्मिणी को उनके फल सुना दिये, जिनका तात्पर्य यह था कि उनके आकाशगामी एवं मोक्षगामी पुत्र उत्पन्न होगा । गुणवती रुक्मिणी अपने पति द्वारा भविष्य-फल सुनकर प्रसन्न हुई एवं अपने महल को लौट आयी । उसे ऐसा विश्वास हुआ कि मानो पुत्र उसके अंग में ही आ गया हो । राजा मधु का जीव जो तप के प्रभाव से सोलहवें स्वर्ग में गया था, वह रुक्मिणी के गर्भ में आ गया । यह पुण्य का प्रभाव ही था कि चिरकाल तक स्वर्गीय सुख भोगने के लिए वह रुक्मिणी के गर्भ का भूषण बना । सत्यभामा ने भी कुछ ऐसे ही स्वप्न देखे थे । श्रीकृष्ण ने उसे भी उनका मंगल फल सुनाया । एक कल्पवासी जीव ने स्वर्ग से आकर सत्यभामा के गर्भ में प्रवेश किया था ।

गर्भावस्था में सत्यभामा एवं रुक्मिणी के अंगों की जो चेष्टाएँ हुईं, उनका संक्षेप में वर्णन करते हैं । दोनो रानियों के नेत्र निर्मल हो गये । देहयष्टि का वर्ण क्रमशः पीत होने लगा एवं उरोजों के अग्रभाग मे कालिमा आ गयी, उदर की स्थूलता बढ़ने लगी, हलन-चलन में कष्ट होने लगा । त्रिवलिका भंग हो गयी थी, पर मुख का तेज बढ़ने लगा था--ऐसे ही भिन्न-भिन्न विकार उत्पन्न हुए । इनके संग ही उन्हें कई दोहद हुए, जिन्हे श्रीकृष्ण ने आनन्दपूर्वक सम्पूर्ण किया ।

गर्भकाल के जब नव मास पूर्ण हो गये, तो पंचाग शुद्धि के अनुसार शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र, शुभ करण एवं शुभ योग में रुक्मिणी के पुत्र उत्पन्न हुआ। सर्वत्र अपार प्रसन्नता छा गई। रुक्मिणी को कितना आनन्द हुआ होगा, इसकी तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। कुटुम्बी एवं बन्धुजनों ने श्रीकृष्ण को बधाईयाँ भेजीं। रुक्मिणी ने भी अपने दूतों द्वारा श्रीकृष्ण को बधाई का सन्देशा भिजवाया।

जब रुक्मिणी के दूत श्रीकृष्ण के महल में पहुँचे, तब वे निद्रा-मग्न थे। दूत श्रीकृष्ण के चरणों के समीप नतशिर खड़े रहकर उनके उठने की प्रतीक्षा करने लगे। इतने में सत्यभामा के दूत भी बधाई देने आ पहुँचे। उन्होंने विचारा कि उनकी स्वामिनी तो पटरानी है, अतः वे क्यों चरणों के निकट खड़े हों। फलतः वे सिरहाने खड़े हो गये। जब श्रीकृष्ण की निद्रा भंग हुई, तो उनके समक्ष खड़े हुए रुक्मिणी के दूतों ने प्रसन्नता के साथ बधाई दी-- 'हे नराधिप ! आप चिरकाल तक राज्य करें। रानी रुक्मिणी को पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई है। आप सदा उसके साथ राज्य-सुख का अनुभव करते रहें।' पुत्र जन्म की बधाई देनेवाले दूतों के प्रिय शब्द सुनकर श्रीकृष्णनारायण अत्यन्त हर्षित हुए। उन्होंने राज्य-चिन्ह के अतिरिक्त समस्त आभूषण उपहार में दे दिये एवं संग-संग यह भी आज्ञा दी कि मन्त्रिगण को बुला लाओ। दूतों ने मंत्रियों को जाकर राजाज्ञा की सूचना दी। वे आये एवं श्रीकृष्ण को प्रणाम कर सामने बैठ गये। श्रीकृष्णनारायण ने मंत्रियों को पुत्र उत्पन्न होने का आनन्द सन्देश सुनाया। उन्होंने मंत्रियों से हर्षपूर्वक कहा कि इस पुण्य-योग में याचकों को मुक्तहस्त दान दो, कारागार-से अपराधी मुक्त कर दिये जायें, श्रीजिनेन्द्र भगवान के मन्दिरों में भक्तिभाव से पूजा का विधान हो एवं द्वारिकापुरी का श्रृंगार कर उत्सव-समारोह सम्पन्न किये जायें। इस प्रकार मंत्रियों को आदेश देकर जब वे सिरहाने की ओर झुके, तो उन्हें पटरानी एवं विद्याधर पुत्री सत्यभामा के दूतों ने बधाई दी कि हे महाराज ! हमारी महारानी सत्यभामा के पुत्र उत्पन्न हुआ है। तब तो श्रीकृष्ण की प्रसन्नता का पारावर ही नहीं रहा। उन्होंने आज्ञा दी कि इन्हें भी पुरस्कार में आभूषणादि प्रदान किये जायें। कर्म के क्षयोपशम के अनुसार अभिमान की वृद्धि होती है, पर उसका विनाश अवश्यम्भावी है। देखिये, तीन-खण्ड पृथ्वी का अधिपति दशानन (रावण) भी अपने अभिमान से सकुटुम्ब विनष्ट हो गया।

श्रीकृष्ण के यहाँ पुत्र-रत्नों की उत्पत्ति से द्वारिकापुरी में बड़े उत्सव सम्पन्न होने लगे--मित्र एवं

बन्धुवर्ग का सम्मान किया जाने लगा, याचक इच्छानुसार दान पाने लगे, भेंट में कुलीन स्त्रियों को बहुमूल्य वस्त्र भेंट दिये गये । नगर में बन्दनवार तथा जिन-मन्दिरों में पताकायें लगाई गयीं । यहाँ तक कि घर-घर उत्सव मनाये जाने लगे । ठीक ही है, यदि राजा के घर पुत्र उत्पन्न हो, तो प्रजा को उत्सव मनाना ही चाहिये। जैसे शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ एवं अरहनाथ स्वामी के जन्म-कल्याणक के समय देवों ने महोत्सव सम्पन्न किया था, वैसे ही श्रीकृष्णनारायण के पुत्रों के जन्म में नगरवासियों ने महान उत्सव मनाया । पर पुत्र के उत्पन्न होने से रुक्मिणी में श्रीकृष्ण की अनुरक्ति द्विगुणित हो गयी । वे याचकों को इच्छानुसार दान देते थे एवं गुरुजनों का सम्मान कर सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने लगे । इस प्रकार उनके महल में पंच-दिवसीय महोत्सव सम्पन्न हुए । पर छठवें दिन क्या हुआ उसका वर्णन अधोलिखित है--

उस दिन सूर्यास्त हुआ । कारण यह था कि कदाचित् उसे (सूर्य को) ज्ञात था कि आज की रात्रि में श्रीकृष्ण के पुत्र का अपहरण होने वाला है । तब उसने विचार किया कि इससे नारायण तथा उनके स्वजनों को जो अवर्णनीय दुःख पहुँचेगा, वह उससे नहीं देखा जायेगा । अतएव वह (सूर्य) अस्त हो गया । सत्य ही है, सत्पुरुष लोग अपने नेत्रों से पर (अन्य) का दुःख नहीं देख सकते । सूर्यास्त के पश्चात् कमलिनी भी संकुचित हो गई । चतुर्दिक अंधकार का साम्राज्य हो गया, चक्रवाकी शब्द करने लगी, कमलिनी पर भौरों के झुण्ड ऐसे गिरने लगे जिससे प्रतीत होता था कि कमलिनी-रूपी नारी पति रूपी सूर्य के वियोग में अश्रुपात कर रही हो । अपने पति से वियोग की आशंका से चक्रवाकी बारम्बार उसका चुम्बन करती है एवं मूर्च्छित हो जाती है, आसन्न विरह के कारण उसे सूर्य पर तीव्र क्रोध आता है । सूर्य के वियोग में (निशा) की भी विचित्र दशा हो गयी । जिस प्रकार पति की मृत्यु के उपरांत नारियाँ वस्त्राभूषणों से श्रृंगार कर के सती होने जाती हैं, उसी प्रकार निशा का आँचल (गगन) रंग-बिरंगे तारों से सुशोभित हो गया । दिशारूपी गणिका ने भी अपने पति के अस्त हो जाने पर अन्धकार के साथ रमण करने के लिए विचित्र वस्त्र धारण कर लिये । समस्त पृथ्वी पर अन्धकार का साम्राज्य हो गया । ऊँचे-नीचे सब स्थान समान प्रतीत होने लगे । जैसे अन्यायी एवं अधर्मी राजा के राज्य में सत्पुरुषों एवं दुर्जनों से समान व्यवहार किया जाता है, वैसे ही उस दिन की रात्रि की स्थिति हो गयी । उस भयानक अन्धकार में सब ओर कृष्ण वर्ण की कालिमा ही दृष्टिगोचर होने लगी । आकाश, भूमि, पर्वत अथवा दिशा आदि का कोई

ज्ञान-सन्धान नहीं हो रहा था । नदी, वन आदि की सीमायें विलुप्त प्राय थीं । सारी वस्तुएँ मर्यादाहीन हो गयी थीं । किंतु इस घोर अन्धकार में एकमात्र सहायक प्रज्वलित नन्हें दीपक वैसे ही शोभा देने लगे, जैसे मलिन लोगों के गुट में रहने पर भी सत्पात्र दुर्गणों में लिप्त नहीं होते । वे सदा पंक (कीचड़) में पद्मवत शोभायमान रहते हैं ।

रात्रि में रुक्मिणी अपने प्रिय पुत्र को लेकर प्रसूति गृह में शयन कर रही थी । समीप में मंगल गीत एवं नृत्य करनेवाली अन्य सेविकायें शयन कर रही थीं । रक्षा के लिए महल के चारों ओर प्रहरी सन्नद्ध थे । श्रीकृष्णनारायण चिन्तामुक्त होकर अन्य महल में निद्रामग्न थे । उनकी रक्षा के लिए भी वीर अंगरक्षक नियुक्त थे । प्रफुल्लवदना रुक्मिणी एक हजार सेविकाओं के मध्य अपने प्रिय पुत्र का कोमल मुख निहार कर सो गई थी । रात्रि में उत्सव सम्पन्न होने के पश्चात् उसे गहरी निद्रा आ गयी थी । उसी समय एक घोर कष्टदायक उपद्रव हुआ, जिसकी पृष्ठभूमि यह है--

एक बार दुर्बुद्धि से प्रेरित होकर मोहवश राजा मधु ने अपने सामन्त राजा हेमरथ की पत्नी का हरण कर लिया था । पत्नी के वियोग में हेमरथ राज-काज त्याग कर निर्जन वन में भ्रमण करने लगा । वह विक्षिप्त-सा यत्र-तत्र भटकता रहा । उसने अन्य मतावलम्बियों के बहकावे में आकर पंचाग्नि तप का अनुष्ठान किया, जिसके प्रभाव से मृत्यु के उपरान्त वह दैत्य हुआ । एक दिन वह दैत्य अपने विमान पर आरूढ़ होकर गगन में विहार करने के उद्देश्य से निकला । संयोग से उड़ता हुआ वह विमान रुक्मिणी के महल पर ऊपर आया । विमान वायुवेग से संचरण कर रहा था, किन्तु जब वह रुक्मिणी के महल के ऊपर आया तो स्वयमेव स्तम्भित हो गया । विमान के रुकते ही उस दैत्य को आशंका हुई कि किसी दुर्बुद्धि ने उसके विमान को कीलित कर दिया है अथवा निम्नभाग में कोई प्राचीन अतिशय तेजवान जिन-प्रतिमा है ? उसे संशय हुआ कि आपत्तिग्रस्त कोई शत्रु है या मित्र अथवा चरमशरीरी देहधारी ? अवश्य ही कोई कारण है, अन्यथा उसके विमान की गति अवरुद्ध नहीं हो सकती थी । पृथ्वी पर भला ऐसा कौन है, जिसमें उसके गतिमान विमान का पथ अवरुद्ध करने का साहस हो ? वह उससे दण्ड पाये बिना त्रिभुवन में भी जीवित नहीं रह सकता । जिस दुराचारी ने उसके विमान को रोका है, उसे वह तत्काल यमलोक पठायेगा । दैत्य के मन में भाँति-भाँति के संकल्प-विकल उठने लगे । जब उस दुर्बुद्धि को (कु) अवधि

ज्ञान से ज्ञान हो गया--'पूर्व-जन्म में जिस राजा मधु ने मोहवश उसकी पत्नी का अपहरण किया था, वह दुराचारी अपनी पर्याय का परित्याग कर तप-प्रभाव से स्वर्ग में गया था एवं वहाँ देवांगनो के साथ असीम सुखभोग कर अब पुण्योदय से रुक्मिणी के गर्भ से उत्पन्न हुआ। पूर्व-जन्म में इसने मुझे जानबूझ कर घोर दुःख दिया था, किन्तु मेरा इस पर कोई वश न चल सका। उस समय मैं सर्वथा असमर्थ था, किन्तु आज मैं सब तरह से समर्थ ,हूँ। फिर अभी यह तो मात्र सद्योत्पन्न शिशु ही है, अतः इसे नष्ट करने में कोई कठिनाई भी नहीं होगी। यदि इसका विनाश न हुआ, तो मेरा दैत्य होना ही किस लाभ का ?' बड़ी देर तक उसने सोचा-विचारा, फिर अन्त में दृढ़ निश्चय कर वह रुक्मिणी के महल के समीप उतरा। चारों ओर सुभट प्रहरी सन्नद्ध थे। पहिले तो उसे कठिनाई प्रतीत हुई, पर कुछ विचार करने पर उसे स्मरण आ गया कि वह दैत्य है एवं ये मनुष्य हैं--अतः वह वृथा असमन्जस मे पड़ा हुआ था। क्रोध से तमतमाता हुआ वह सुभट प्रहरियों के समीप आया एवं मोह-निद्रा से सबको मूर्च्छित कर कपाटों के छिद्र से भीतर प्रविष्ट हो गया। उसके प्रभाव से रुक्मिणी भी अचेत हो गई। दैत्य ने बिना किसी बाधा के शिशु को पर्यंक पर से उठा लिया। फिर महल के कपाट उन्मुक्त कर वह बाहर निकला एवं अपने विमान पर आरूढ होकर आकाश में उड चला। क्रोध से उसके नेत्र रक्तवर्ण हो रहे थे। उस दैत्य ने शिशु की ओर देखकर बड़े जोर से घुड़का--'रे दुष्ट महापातकी ! तूने पूर्व-भव (जन्म) में महापाप किया था। राजा मधु के रूप में तब तू महाबलशाली था। उस समय तूने मेरी प्राणप्रिया पत्नी (चन्द्रप्रभा) का अपहरण किया था। मेरी असमर्थता के कारण तूने ऐसा अन्याय कर डाला था। अब कहो, तो तुझ से अपना प्रतिशोध कैसे चुकाऊँ। तेरे शरीर को आरे से चीरकर खण्ड-खण्ड कर दूँ अथवा समुद्र की लहरों में प्रवाहित कर दूँ, जहाँ मगरमच्छादि क्रूर जीव तुझे निगल जायें। कहो तो हजारों टुकड़े-टुकड़े कर तेरा बलिदान कर दूँ, अथवा पर्वत की गुफा में ले जाकर शिलाओं से चूर्ण कर दूँ। अरे दुर्बुद्धि ! तुझे कौन-सा कष्ट दूँ ? तू ने घोर अनर्थ किया था। स्वयं बतला तुझसे किस प्रकार प्रतिशोध चुकाऊँ ? इस प्रकार उन्मत्त होकर अबोध शिशु को वृथा धमकाते हुए वह दैत्य पर्वत के तले विचूर्ण कर डालने के विचार से उसे तक्षक नामक पर्वत पर ले गया।

उस पर्वत पर खदिरा नाम की एक अटवी थी, जो सघन वृक्षों से संकीर्ण हो रही थी। उसके चारों

ओर कॉटे एवं तीक्ष्ण पाषाण खण्ड फैले हुए थे । गोखरू के कॉटो की भी वहॉ कोई कमी नहीं थी । इंगुदी, खदिर, बिल्व एवं पलाश जाति के वृक्षों के अतिरिक्त विष-वृक्ष भी लगे हुए थे । उस विकट अटवी में हिंसक पशुओं का निष्कटंक सामाज्य था । वे स्वतन्त्रतापर्वूक उसमें विचरण करते थे । वहॉ, सिंह, व्याघ्र, सर्प आदि क्रूर जीवों को देखकर यमराज को भी भय उत्पन्न हो जाता था । उस दुष्ट दैत्य न बावन हस्त प्रमाण लम्बी एवं पचास हस्त प्रमाण विशाल शिला के तले उस शिशु को दबा दिया । फिर शिला को उसने अपने पैर से भी दबाया कि शिशु पूर्णतः विचूर्ण हो जाय । तब उस दैत्य ने कहा--'रे दुष्ट । तूने पूर्व में निन्द्य कर्म किये थे, जिनका यह दुष्फल प्राप्त हुआ है । इसमें मेरा कोई दोष नहीं वरन् यह तेरे अपराधों का ही प्रायश्चित है ।' इतना कहकर दैत्य ने वहॉ से प्रस्थान किया । आचार्य का कथन है कि ऐसा घोर उपसर्ग होने पर भी शिशु की मृत्यु नहीं हुई । ठीक ही है, घोर आपत्ति भी पुण्यात्मा को त्रास नहीं पहुँचा सकती । पुण्य के माहात्म्य से दुःख भी सुख के रूप में परिवर्तित हो जाता है । शिशु के जीव ने पूर्व-भव में ध्यान-जप-तप आदि अनुष्ठान किये थे, इसलिये वह तद्भव मोक्षमागी हुआ था । इतनी विशाल शिला के तले दबने पर भी उसे कष्ट का कोई अनुभव नहीं हुआ । सत्य तो यह है कि वन हो अथवा नगर सभी स्थानों पर पूर्वोपार्जित पुण्य जीवों की रक्षा करता है । फलतः शत्रु-मित्र कोई भी उसका अनिष्ट नहीं कर सकता ।

परम कारुणिक सूर्य का उदयाचल पर आगमन हुआ । वह इसलिये कि देखें तो वह दुष्ट दैत्य कहीं सुकुमार शिशु का अनिष्ट तो नहीं कर गया । विशाल शिला के तले भाराक्रान्त उस अबोध शिशु की क्या दशा हुई, उसका अब आगे वर्णन करते हैं । जम्बूद्वीप के अन्तर्गत भरतक्षेत्र में विजयार्द्ध नाम का एक विशाल पर्वत है । उसके दक्षिण में इन्द्रपुरी की भॉति शोभायुक्त मेघकूट नाम का एक नगर था । वह नगर धन-धान्य से सम्पन्न तथा जिन-चैत्यालयों से सुशोभित था । वहॉ सर्वगुण सम्पन्न कालसंवर नामक विद्याधर राजा राज्य करता था । उसकी पत्नी का नाम कनकमाला था, जो परम गुणवती एवं सुन्दरी थी । राजा अपनी रानी के साथ सुखपूर्वक समय व्यतीत करता था । एक समय की घटना है कि वह अपनी पत्नी के साथ विमान में बैठकर क्रीड़ा के लिए निकला । अनेक रमणीक देशों एवं वन-प्रांतरों में क्रीड़ा करते हुए वे उसी तक्षक पर्वत पर जा पहुँचे-- जहॉ शिशु कुमार था । वहॉ आते ही विमान एकाएक

श्री प्र द्यु म्न च रि त्र

स्तम्भित (रुक) हो गया । वह तिलमात्र भी अग्रसर न हो सका । कालसंवर को बड़ी चिन्ता हुई । सोचने लगा कि ऐसा क्यों हुआ ? क्या किसी ने अवरोधक प्रयुक्त किया है अथवा भूतल पर में कोई मुनीन्द्र आसीन हैं या जिन-मन्दिर में कोई अतिशययुक्त प्रतिमा विद्यमान है ? किसी प्राणी को तो कष्ट नहीं है या कोई मेरा शत्रु प्रतिशोध हेतु सन्नद्ध है ? निरीक्षण के उद्देश्य से राजा अपनी पत्नी के संग विमान से नीचे उतरा । पर्वत पर पहुँचने पर ही उसने खदिरा की भयानक अटवी देखी । वहाँ पर एक बावन हस्त प्रमाण विशाल शिला थी जो पूर्व वर्णित शिशु के निश्वास की वायु से प्रकम्पित हो रही थी । इतनी विशाल शिला को इस प्रकार दोलायमान देखकर राजा कालसंवर को महती आश्चर्य हुआ । वह असमन्जस में पड़ गया एवं यह निर्णय न कर सका कि वस्तु स्थिति क्या है ? उसने कभी इतनी विशाल शिला को डोलते नहीं देखा था । फिर भी कौतूहलवश अपने समस्त बल तथा विद्या से उसने शिला को उठाया ।

शिला के हटने पर राजा कालसंवर ने देखा कि उसके तले एक सुन्दर शिशु मुस्करा रहा है । वह अत्यन्त चंचल था, उसके घुँघराले केश तथा पग-हस्त भी मचल रहे थे । उनकी मुट्ठियाँ बँधी हुई थीं, नेत्र की आभा पद्मपुष्प के सदृश थी । उसकी देहयष्टि की कान्ति एवं मुख की सुन्दरता पूर्णिमा के चन्द्रमा को भी लजा रही थी । उसकी कोमल भुजायें शुभ लक्षणों से चिन्हित थीं । पूर्व-भव के संचित पुण्य को प्रकट करनेवाले, शत्रु-दल को परास्त करनेवाले, मनोहर एवं सर्वगुण-सम्पन्न उस शिशु को राजा कालसंवर ने देखा । उसने उसे अंक में उठा लिया एवं विचार किया कि यह अवश्य ही उच्च कुल में उत्पन्न होनेवाला कोई भाग्यशाली शिशु प्रतीत होता है । कुछ विचार करने के उपरान्त कालसंवर ने अपनी पत्नी से कहा--'हे देवी ! तुझे तो अब तक कोई सन्तान नहीं हुई, पर पुत्र की उत्कट लालसा भी है । अतएव तुम्हारे सौभाग्य से ही यह सर्वगुण सम्पन्न शिशु हमें प्राप्त हुआ है । अतएव अब इसे ग्रहण करो ।' अपने पति के प्रीतिकर वचन सुनकर रानी ने शिशु को अंक लेने के लिए अपनी भुजायें फैलायीं। किन्तु राजा जब उसे शिशु को देने लगा, तो उसने अपने कर सकुंचित कर लिए । राजा को घोर आश्चर्य हुआ । उसने जिज्ञासा हेतु प्रश्न किया--'हे प्रिये ! तुमने अपने कर क्यों सकुंचित कर लिए ?' रानी के नेत्रों में अश्रु की धारा उमड़ पड़ी, उसका हृदय कष्ट से भर आया । उसने करबद्ध निवेदन किया--'हे प्राणनाथ ! जब आप जिज्ञासा करते हैं, तो मैं आपसे कहती हूँ । अन्य रानियों से आपके पाँच शतक पुत्र

हैं । यदि यह शिशु उनका दास होकर रहा, तो मुझे घोर मानसिक कष्ट होगा एवं यह अपमान मुझे सहन न हो सकेगा । मैं अपने जीवन को निष्फल समझने लगूँगी । यदि मैंने पूर्व-भव में पुण्य संचित किया होता, तो आज मेरी कोख ही निःसन्तान न रहती । हाय ! मैं बड़ी अभागिनी हूँ । ऐसी स्थिति में किसी अन्य का पुत्र लेकर कैसे सुखी हो सकती हूँ ? वस्तुतः यह कृत्य दुःखदायी ही होगा ।' इतना कहकर रानी फूट-फूट कर अश्रुपात करने लगी । कनकमाला को यों विलाप करते देखकर राजा को भी हार्दिक क्लेश हुआ । उसने कहा--'हे देवी ! इस प्रकार सन्ताप करने से क्या लाभ ? बल्कि इससे काया कृश हो जायेगी--कमलवत् मुख की शोभा जाती रहेगी । मैं तत्काल इस शिशु को युवराज-पद प्रदान करता हूँ ।' इतना कहकर राजा कालसंवर ने अपने मुखपान के ताम्बूल से शिशु का राज-तिलक कर दिया एवं बोला--'हे पुत्र ! मैंने सदैव के लिए तुझे युवराज का पद प्रदान किया है । अब मेरे राज्य का अधिपति मैं हूँ अथवा तू, अन्य कोई कदापि नहीं हो सकता ।' तत्पश्चात् राजा ने शिशु को कनकलता के अंक में दे दिया । रानी ने प्रसन्नतापूर्वक उसे ग्रहण करते हुए आशीर्वाद दिया । वह शिशु के मस्तक पर हाथ रख कर बोली-- 'हे पुत्र ! तू चिरंजीवी हो । तुझसे माता-पिता को सुख मिले ।' कनकमाला बारम्बार उस अबोध शिशु का चुम्बन करने लगी । इस घटना के उपरान्त विद्याधर कालसंवर एवं विद्याधरी कनकमाला दोनों ने विमान पर आरूढ़ होकर अपने नगर मेघकूट के लिए प्रस्थान किया । नगर में आगमन पर जनता एवं मंत्रियों ने उनका स्वागत किया । राजा की आज्ञा के अनुसार उत्सव सम्पन्न हुए एवं समारोह पूर्वक राजा का नगर में प्रवेश हुआ । राजमहल में आकर राजा ने अपने मन्त्रियों को बुलाकर कहा--'हे मन्त्रीगण ! मैं अब एक आश्चर्यजनक घटना का वर्णन कर रहा हूँ । किसी को ज्ञात तक नहीं था कि मेरी रानी कनकमाला गर्भवती है । नारियों का मूढ़गर्भ भी होता है ।' राजा के संग अपनी सहमति प्रकट करते हुए मंत्रियों ने कहा--'ऐसा कई बार सुनने में आया है । वैद्यक-शास्त्र आदि में भी मूढ़गर्भ का उल्लेख है । प्रत्यक्ष देखने में भी ऐसी घटना हुई है ।'

मंत्रियों की सहमति पाकर राजा को प्रसन्नता हुई । उन्होंने कहा--'मेरी रानी कनकमाला को भी ऐसा ही मूढ़गर्भ था । संयोगवश आज वन में ही उसे पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई है । अतएव रानी के लिए शीघ्र प्रसूति-गृह की व्यवस्था कराओ । सूतिका बुलाकर उसे प्रसूति-कार्य करने के लिए आदेश दो ।' मंत्रियों

ने चतुर धाय को बुलवाया एवं प्रसूति-कार्य आरम्भ करवा दिया गया । राजा ने यह भी आज्ञा दी कि नगर को तोरण-ध्वजा-पताकादि से सर्वत्र सुसज्जित किया जाये, जिन-मन्दिरों में उत्सव सम्पन्न हों, याचकों को मनोवॉछित दान दिया जाये तथा कारागार के समग्र बन्दी मुक्त कर दिये जायें । राज-चिन्हों के अतिरिक्त समस्त राजकोष वस्तुएँ दान में दे दी जायें । राजा के आदेश के अनुसार मंत्रियों ने विराट महोत्सव का आयोजन किया । ध्वजा-तोरणादि से नगर का श्रृंगार हुआ, गुणीजन सम्मानित किये गये । कुटुम्बियों का आदर किया गया, यहॉ तक कि नगर-निवासियों के समस्त कष्ट निवारण हेतु आवश्यक राजकीय-व्यवस्था भी की गई । सब लोग आनन्द मनाने लगे । हे सत्पुरुषों ! पुण्य की महिमा की ओर तो दृष्टि डालो ? पुण्यात्माओं के लिए सर्व-सामग्री का सुलभ हो जाना बड़ा सरल है । सारे नगर में उत्सव सम्पन्न हो रहा था । सातवें दिन शिशु के नामकरण के लिए कुटुम्बीजन एकत्रित हुए । उन्होंने उसका नाम 'परान्दमित' (प्रद्युम्नकुमार) अर्थात् शत्रुओं का दमन करने वाला रक्खा ।

प्रद्युम्नकुमार की आयु-वृद्धि के साथ-साथ राजा कालसंवर के कुटुम्बीजनों तथा सर्वसाधारण को बहुविध सन्तोष होता गया । राज्य की समृद्धि में भी वृद्धि होने लगी । प्रद्युम्नकुमार को सब लोग हाथों हाथ खिलाया करते थे, जैसे-भ्रमर एक पुष्प से दूसरे पुष्प पर जा बैठता है । उसी समय किसी ने प्रश्न कर दिया--'बॉझ को तो पुत्र नहीं होता, तब यह बालक कैसे उत्पन्न हो गया ? यह किसी सुनसान वन में रानी को मिला होगा, न जाने किसका पुत्र है ?' उत्तर में किसी अन्य ने कहा--'इससे तुम्हें प्रयोजन ? राजा का आचरण आदर्श होता है । मुझे तो यह बालक पुण्यहीन प्रतीत नहीं होता । यदि ऐसा होता तो जन्म के अवसर पर ऐसा महोत्सव सम्पन्न नहीं होता ।' जीवन की सारी सुख-सम्पदायें पुण्य-संचय से ही प्राप्त होती हैं । अतएव सत्पुरुषों को चाहिये कि वे सदाकाल पुण्य-संचय करते रहें । पुण्य के प्रताप से प्रद्युम्नकुमार केवल कनकमाला का ही नहीं, वरन कालसंवर की समस्त रानियों का प्रिय पात्र बन गया था । सर्वसाधारण नारी वर्ग तो उसे प्राणों से भी बढ़कर चाहती थी । यदि पूर्व-भव के बैर से दैत्य ने उसके साथ अन्याय किया, तो यहाँ उसे कनकमाला की अंग एवं राज्य-परिवार में पालन का सुख प्राप्त हुआ । इसका पुण्य-संचय के अतिरिक्त अन्य कारण नहीं है । अतएव भव्य जीवों को सदा परोपकार में प्रवृत्त करानेवाले जैन-धर्म को ही धारण करना चाहिये । धर्म से समस्त सुख अनायास प्राप्त हो जाते हैं, धर्म से

परोपकार की प्रवृत्ति बढ़ती है, धर्म गुरु का गुरु होता है । उससे स्वर्ग-मोक्षादिक मनोवाँछित सुख प्राप्त होते हैं । धर्म से सदा स्वच्छ निर्मल कीर्ति फैलती है । सत्पुरुष सदा जैन-धर्म की उपासना में लीन रहते हैं, अतः पाठक भी मुनिजनों की तरह जैन-धर्म की अर्चना-उपासना में प्रवृत्त हों ।

षष्ठ सर्ग

विश्व की गति विचित्र है । कहीं सुख है, तो कहीं दुःख का साम्राज्य । इधर कालसंवर के राजमहल में प्रद्युम्नकुमार अपनी बाल-सुलभ चपलता से (पालक) माता-पिता को देवोपम आनन्द प्रदान कर रहा था एवं उधर द्वारिका में पुत्र-वियोग में रुक्मिणी की जो अवस्था थी, उसे सुनकर आपका हृदय द्रवित हुए बिना नहीं रह सकता ।

रात्रि में जब रुक्मिणी की निद्रा भंग हुई, तो उसने देखा कि शिशु का पता नहीं है । वह घबड़ाकर इधर-उधर देखने लगी । उसने सेवकों से पूछना आरम्भ किया कि शीघ्र बतलाओ मेरा सर्वगुण-सम्पन्न प्राणप्रिय पुत्र कहाँ है ? यह विचार करने लगी-- 'यह देवकृत माया है अथवा कोई इन्द्रजाल का प्रहसन ? मैं स्वप्न तो नहीं देख रही हूँ ? मेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है या कोई दुष्ट दैत्य उसे हर ले गया है ? सम्भवत उससे पूर्व जन्म का कोई बैर हो । किसी दास-दासी के अंक में क्रीड़ा भी सम्भव है । सम्भव है कोई सेवक उसे खिलाने के लिए ले गया हो ।' ऐसे अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प रुक्मिणी के चित्त में हिलोरें देने लगे । फलस्वरूप भ्रमित होकर वह कोई निर्णय न कर सकी । वह अपने जीवन को निस्सार समझ कर पछाड़ खाकर भूमि पर गिर पड़ी । किन्तु तत्काल ही सेवकों ने चन्दनादिक शीतलोपचार से उसे सचेत किया । सचेत होते ही उसका विलाप अत्यधिक तीव्र हो गया । रुक्मिणी का विलाप सुनकर उसके सेवक भी रुदन करने लगे । वह कहने लगी--'हाय ! मेरा चन्द्रमुखी पुत्र कहाँ चला गया ? घुँघुराले केश, तीक्ष्ण नासिका एवं सुन्दर आकृतिवाला मेरा लाल तू कहाँ गया ? तू कामदेव सदृश मनोज्ञ था, शंख-ध्वनि के सदृश मनोहर तेरा कण्ठ-स्वर था । तू कहाँ लोप हो गया ?' इस प्रकार हाहाकार मचाती हुई रुक्मिणी विलाप करती रही । उसके संग शोकाभिभूत होकर शेष रनिवास भी करुण-क्रन्दन करने लगा । यह दुःखदायी समाचार सुनकर नगर-निवासी भी विलाप करने लगे । यदुवंशियों का तो पूछना ही

श्री प्रद्युम्न चरित्र

क्या ? उनकी अजस्र अश्रुधारा के बिन्दु मुक्तामाल सदृश प्रतीत हो रहे थे ।

इस असम्भव घटना एवं दुःखदायी कोलाहल से श्रीकृष्ण की निद्रा भी भंग हो गयी । उन्होंने सेवकों को आज्ञा दी--'तत्काल ज्ञात करो कि रात्रि के तृतीय प्रहर में रनिवास मे कैसा कोलाहल एवं हाहाकार मचा है ? मुझे शीघ्र सूचना दो ।' राजा की आज्ञानुसार एक दण्डधारी सेवक तत्काल रनिवास में गया । वह आद्योपान्त घटनाचक्र ज्ञात कर राजा के समीप लौट आया एवं करबद्ध निवेदन किया--'हे नाथ ! मेरा हृदय टूक-टूक हुआ जा रहा है । कारण यह है कि किसी दुष्ट ने रानी रुक्मिणी के शिशु का अपहरण कर लिया है ।' ऐसा कठोर सम्वाद सुनते ही श्रीकृष्ण मूर्च्छित हो गये । जिस प्रकार वज्रपात से विशालकाय वट वृक्ष धराशायी हो जाता है, उसी प्रकार ऐसी दुर्घटना का समाचार पाकर उनके हृदय में भीषण आघात लगा एवं वह पछाड़ खाकर भूमि पर गिर पड़े । सेवको ने शीतलोपचार करना प्रारम्भ किया । कुछ कालोपरान्त उनकी मूर्च्छा दूर हुई । वे करुण विलाप करने लगे । उन्हें शोकाकुल देखकर सुभट-सेवक भी चिन्तातुर हो करुण क्रन्दन करने लगे । श्रीकृष्ण की कारुणिक अवस्था हो गयी । वे शोक मे अभिभूत होकर कहने लगे-'हे पुत्र ! तू मुझे त्याग कर कहाँ चला गया ? तेरे बिना मेरे जीवन का अब मूल्य ही क्या है ? धन-धान्य, दास-दासी, अश्व-गजराज आदि समस्त वैभव-सम्पदा एवं यह साम्राज्य अब तेरे अभाव में सूना-सूना लगता है । मैं तेरे बिना दीन एवं दुःखी हो गया हूँ । तू इस पुण्यहीन पिता को छोड़कर कहाँ चला गया । हा ! अब भला मेरा कौन मित्र एवं कौन पुत्र हो ? दुःख सागर में डूबते हुए अपने पिता की तू रक्षा कर । हे पुत्र ! तू यदुवंश का सूर्य (दिवाकर) था । तेरी मनोहर देहयष्टि एवं मधुर स्वर मेरे लिए अत्यन्त मनोहारी थे । हे वत्स ! तू बड़ा ही भाग्यशाली था । तू सबका प्रिय था । तेरे वियोग में समस्त द्वारिका निर्जन हो गयी है ।' श्रीकृष्ण का प्रलाप उग्रतर होता गया । उनके संग कुटुम्बीजन भी रुदन कर रहे थे । ऐसे ही मर्मभेदी चीत्कार करते हुए श्रीकृष्ण रुक्मिणी के महल की ओर अग्रसर हुए । मार्ग में उन्होंने सृष्टिकर्त्ता विधाता को उलाहना दिया--'हे विधाता ! तू क्यों ऐसी सृष्टि की रचना करता है, जिसे हरण करने में तुझे रंचमात्र भी कष्ट का अनुभव नहीं होता । 'ऐसे ही अनेक प्रकार से प्रलाप करते हुए वे रनिवास में प्रविष्ट हुए ।

उनको आते देखकर रुक्मिणी खड़ी हो गई । उन्हें देखते ही उसके शोक का सागर उमड पडा । वह

संज्ञाहीन होकर गिर पडी । अपने हितैषी को देखकर दुःख का द्विगुणित हो जाना स्वाभाविक है । श्रीकृष्ण शीतलोपचार कर उसको चैतन्य करने का प्रयत्न करने लगे । सचेत होकर वह विलाप करने लगी, जिससे द्रवीभूत होकर श्रीकृष्ण ने भी उसका साथ दिया । दोनों पति-पत्नी विलाप करते रहे । क्रन्दन करती हुई रुक्मिणी ने कहा--'हे प्राणनाथ ! आप सदृश शक्तिशाली पति होते हुए भी मेरे पुत्र की यह दशा । वह कहाॅ चला गया ? मैं इसे अपना दुर्भाग्य समझती हूॅ । आज मुझे सन्तानहीन होना पड़ रहा है ।' इतना कह कर रुक्मिणी पुनः भूमि पर गिर पड़ी । उसका हृदय व्याकुल हो रहा था, वह छाती पीट-पीट कर अश्रुपात करने लगी--'हा दैव ! मैं क्या करूॅ ? अपने व्यथित हृदय को कैसे शान्त करूॅ ?' इस प्रकार बिलाप करती हुई अपनी प्राण-वल्लभा रुक्मिणी को देखकर श्रीकृष्ण ने उससे कहा- 'हे देवी ! यह काण्ड मेरे ही दुर्भाग्य से हुआ है । मुझे मन्द बुद्धि समझकर विधाता ने ही मुझसे प्रवंचना की है ।' राजा एवं रानी को इस प्रकार विलाप करते हुए देखकर वृद्धगण भी विलाप करते हुए उनके समीप आये । वे राजा एवं रानी को विनयपूर्वक नमस्कार कर बोले--'हे महाराज ! आपको तो ज्ञात है कि इस संसार में जन्म लेनेवाले व्यक्ति का अवश्य ही विनाश होता है । षट्खण्ड पृथ्वी को अपने अधिकार में करनेवाले जितने भूमिगोचरी चक्रवर्ती, विद्याधरी एवं तीर्थंकर हो गये हैं, उन्हें भी आयु के अन्त में काल के कराल गाल में समाना पड़ा है । ऐसे ही महापराक्रमी, असीम शक्ति के धारक अनेक बलदेव, कामदेव, नारायण, प्रतिनारायण पृथ्वी पर हो चुके हैं । सहस्त्रों गजराज, रथ, सुभट, अश्व आदि उनकी सेवा में नियुक्त रहते थे, किन्तु उन्हें भी यमराज ने अपनी कठोर दाढ़ के तले दबोच लिया (वे परलोकगामी हुए) । इसलिये अरहन्त भगवान का कथन है कि जन्मधारी की मृत्यु अनिवार्य होती है । प्रत्येक जीव को अपने कर्मानुसार दुःख भोगना पड़ता है । हे महाराज ! यमराज सबके साथ समान व्यवहार करता है । आप शोक एवं दुःख का परित्याग कीजिये, क्योंकि शोक ही संसार-बन्धन का कारण है । शोक से दुःख की निवृत्ति नहीं होती, वरन अभिवृद्धि होती है । जो लोग बुद्धिमान होते हैं, वे किसी वस्तु का वियोग होने पर अथवा किसी स्वजन-परिजन की मृत्यु हो जाने पर शोक नहीं करते । कारण यही है कि शोक, क्षुधा एवं निद्रा-- इन तीनों की अधिक चिन्ता करने पर उनकी अभिवृद्धि होती जाती है । हे तीन खण्ड के स्वामी ! यदि आप अधीर होकर ऐसे विलाप करेंगे, तो आप की समस्त प्रजा विकल हो जायेगी । अतः आप जैसे बुद्धिमान

श्री प्रद्युम्न चरित्र

के लिए शोक करना कदापि उचित नहीं । यादव कुल में उत्पन्न होनेवाला सौभाग्यवान, प्रतिभाशील एव दीर्घायु होता है । इसलिये आपके पुत्र का किसी के द्वारा यदि अपहरण हुआ भी है, तो वह कहीं भी हो सुख से ही होगा एवं कुछ काल के पश्चात् कुशलपूर्वक स्वगृह लौट आवेगा ।'

गुरुजनों के समझाने पर राजा के शोक का निवारण हुआ । उन्होने रुक्मिणी की ओर देखा । उसका मुखमंडल बिखरे हुए केशों से ढ़क रहा था । उन्होने रुक्मिणी से कहा--'हे प्रिये तेरे पुत्र की अकाल मृत्यु कदापि सम्भव नहीं, क्योकि वह दीर्घायु है । तुझे धैर्य धारण करना चाहिये । मै तो स्वयं अपने को अपराधी मान रहा हूँ अन्यथा मेरे अभिराम पुत्र का हरण हो ही नहीं सकता था । इसमे तेरा कुछ भी अपराध नही है । हे विचक्षणे ! मैं तेरे पुत्र के अन्वेषण हेतु तत्काल दशों दिशाओ में सुभटो को भेजता हूँ । वे शीघ्र ही लाकर उसे तेरे अंक मे सौप देगे ।' रुदन करते-करते रुक्मिणी के नेत्र रक्तिम हो गये थे । पति के समझाने पर उसने क्रन्दन समाप्त कर दिया। श्रीकृष्ण की आज्ञा से दुर्भेद कवचधारी नवयुवक एवं कुलीन अश्वारोहियों के दल उनके पुत्र के संधान में निकले । अनेक दलो में विभक्त होकर विभिन्न दिशाओ में उन्होने प्रस्थान किया । उन्होने समस्त पृथ्वी का अन्वेषण किया, पर शिशु कुमार का कहीं सूत्र न मिल सका । वे निराश होकर तब द्वारिकापुरी को लौट आये । अपने राजा के सम्मुख प्रस्तुत होते ही लज्जा से उनके मस्तक नत हो गये । उनकी आकृति देखकर श्रीकृष्ण को समझने में कुछ विलम्ब नहीं हुआ । उन्हें ज्ञात हो गया कि उनके पुत्र का संधान नहीं मिला । उन्होने भी विषाद को गुप्त रखकर अपनी ग्रीवा झुका ली । उनके समझाने पर रुक्मिणी ने अपने पुत्रशोक को सँभाला । पर समस्त द्वारिका नगरी ही विषाद में डूब गयी । नगर में कहीं भी उत्सव, वाद्य के शब्द, नृत्य गीतादि सुनने मे नहीं आते थे मानो कुमार के वियोग में द्वारावती की समस्त शोभा ही जाती रही ।

उन्हीं दिनों द्वारिकापुरी मे नारद का आगमन हुआ । वे आकाश-मार्ग से आकर द्वारिका के एक उपवन में ठहरे थे । जब उन्होंने देखा कि न तो नगरी मे शोभा दिखती है एव न उत्सव कार्य सम्पन्न किये जाते है, तो उन्हे बडा आश्चर्य हुआ । उन्होने किसी व्यक्ति से कारण पूछा, तब ज्ञात हुआ कि रानी रुक्मिणी के पुत्र का अपहरण हुआ है, इसलिये शोक मे द्वारावती की यह दशा है । ऐसा कठोर एवं दु खदायी समाचार सुनकर नारद को जो अपार वेदना हुई, वह अकथनीय थी । उनका हृदय मानो विदीर्ण हो गया,

श्री प्रद्युम्न चरित्र

वे अचेत होकर धराशायी हो गये । कुछ काल पर्यन्त तो वे अचेत ही रहे, किन्तु जब उपवन में मन्द शीतल वायु का संचार हुआ, तो उनकी मूर्च्छा दूर हुई । पर वे मति-शून्य हो गये थे । अल्प विश्राम कर वे राज-प्रांगण की ओर अग्रसर हुए । उन्हें आते हुए देखकर श्रीकृष्णनारायण भी उत्तिष्ठ हो गये एवं नमस्कार कर उन्हें उत्तम आसन पर विराजमान किया । वे शोक प्रकट करने लगे । नारद भी दुःखी होकर बैठ गये । कुछ काल पश्चात् अपनी मनोव्यथा को सँभाल कर वे श्रीकृष्ण को समझाने लगे--इस स्थान पर आचार्यो का कथन है कि जिनेन्द्रदेव ने जिस स्याद्वाद-वाणी का निरूपण किया था, नारद उसके परम ज्ञाता थे । उन्हें सप्ततत्वों का ज्ञान था एवं अन्य को शिक्षा देने में वे पूर्ण निष्णात थे । फिर भी वे श्रीकृष्ण के दुःख से दुःखी हो रहे थे । इसलिये माना जाता है कि मोह की लीला भी विचित्र होती है ।

नारद ने कहा--'हे नारायण ! मेरे कथन को ध्यान देकर सुनो । मैं वही कहूँगा, जिसे सर्वज्ञ जिनेश्वर देव ने कहा है । इस संसार में प्राणीमात्र का एक-न-एक दिवस अवश्य विनाश हो जाता है, इसलिये शास्त्रों के मर्म के ज्ञाता को शोक करना कदापि उचित नहीं । वृथा चिन्ता करने से विलुप्त वस्तु प्राप्त नहीं होती । यदि मृतक व्यक्ति की ही चिन्ता की जाय, तो क्या वह जीवित हो सकता है ? जिन महापुरुषों ने इस संसार को असार एवं क्षण-भंगुर समझ कर सर्वथा त्याग दिया है, वे धन्य हैं । उन्हें न तो माता-पिता का, न पुत्र का, न अन्य किसी के वियोग का दुःख होता है एवं न ही संयोग से कोई प्रसन्नता का अनुभव होता है । वे सदा निर्लिप्त रहते हैं । यद्यपि मैंने सांसारिक सुखों को त्याग दिया है एवं वनवासी हूँ, देवव्रत एवं संयम का धारण करनेवाला हूँ तथापि तुम्हारे स्नेहवश मैं आज दुःखी एवं सन्तप्त हो रहा हूँ । कारण यह है कि जीवधारियों को बन्धुजनों के सुख में हर्ष एवं कष्ट में दुःख का अनुभव होता है । हे नारायण! तुम्हें पुत्र-वियोग में सन्तप्त पाकर मेरा हृदय विदीर्ण हो रहा है । मैं अपने जीवन को निरर्थक समझता हूँ । भला ऐसा कौन होगा, जो अपने स्वजनों एवं मित्रों के कष्ट में दुःखी न हो । तुम्हें समझना चाहिये कि जिस प्रकार मैं दुःखी हो रहा हूँ, उसी प्रकार तुम्हारे अन्य स्वजन भी दुःखी हैं । किन्तु इस पुत्र-अपहरण के शोक को तुम अब विस्मृत कर दो । यद्यपि पुत्र-वियोग का शोक असहनीय होता है, वह किसी देव आराधना या मन्त्र-तन्त्र से समाप्त नहीं हो सकता, किन्तु तुम तो शास्त्रों के ज्ञाता हो । इसलिये संसार के कारणभूत शोक का त्याग कर दो । तुम स्वयं बुद्धिमान हो, मुझ में इतनी सामर्थ्य नहीं कि मैं तुम्हें उपदेश

दे सकूँ ।' इस प्रकार आश्वासन एव सन्तोष देते हुए नारद ने श्रीकृष्ण को समझाया । प्रत्युत्तर में श्रीकृष्ण ने कहा--'हे भगवन । आपका कथन यथार्थ में सत्य है । किन्तु रुक्मिणी के सन्ताप को देख कर मेरा दुःख बढ जाता है । आप कृपा कर उसके महल में चलें एव उसे धैर्य बँधाये ।' फिर श्रीकृष्ण आदर के साथ नारद को रुक्मिणी के महल में ले गये ।

नारद को देखकर सम्मान मे रुक्मिणी खडी हो गयी । उसने भक्तिपूर्वक नमस्कार कर उनके आगे आसन रख दिया । वे आसन पर विराजमान हुए । ठीक ही है, दु ख में भी सत्पुरुष अपनी नम्रता नहीं त्यागते । नारद को देखकर रुक्मिणी का सन्ताप अत्यधिक उग्र हो गया । वह उनके चरणों मे गिरकर विलाप करने लगी, क्योंकि कष्ट की अवस्था में इष्ट-मित्रों को देखकर कष्ट की मात्रा बढ़ जाती है । मुनि ने कहा--'हे पुत्री ! किसी पूर्व-भव के शत्रु ने ही तेरे प्रिय शिशु का अपहरण किया है, इस कारण मुझे भी बडी चिन्ता हो रही है ।' रुक्मिणी कहने लगी--'हे महामुने ! आप के विद्यमान रहते हुए ऐसी घटना हो गयी, इससे बड़े आश्चर्य की घटना अन्य क्या हो सकती है ? मेरी तो समस्त आशायें ही विनष्ट हो गयीं ।' मुनि ने अपने दुःख को दबा कर कहा--'दु.ख या चिन्ता मत करो । जो चतुर एवं ज्ञानी होते हैं, वे गिरी हुई अथवा नष्ट हो गई वस्तु के लिए पश्चाताप नहीं करते । तू ऐसा मत समझ कि इसके पूर्व ऐसा दु.ख किसी को नहीं हुआ होगा । सब को ही दारुण दुःख भोगने पड़ते है । इसमें सन्देह नहीं कि पुत्र के वियोग का दुःख तो दुर्निवार होता है । तूने पुराणों में पढ़ा होगा कि बड़े-बड़े पराक्रमी नृपतियों एव यशस्वी सम्राटों को भी पुत्र-वियोग हुआ है । यह तो निश्चित समझ लो कि जिसके पिता तीन खण्ड के स्वामी श्रीकृष्ण हैं एवं जिसकी माता तुम हो, उसका वध कर डालने की शक्ति किसी में नहीं है । वैसे भी वह बालक अल्पायुवाला नहीं है । यदि किसी पूर्व-भव के शत्रु ने उसे हर भी लिया है, तो वह अतुल वैभव एवं सम्पदा के संग तुम्हारे निकट लौट कर आयेगा । जिस प्रकार सती सीता का भ्राता भामण्डल उत्पन्न होते ही पूर्व-जन्म के किसी शत्रु द्वारा हरा गया था, किन्तु उसका लालन-पालन विद्याधर-नृपति के महल में हुआ एवं कालान्तर में वह ज्ञान-वैभव से विभूषित होकर अपने माता-पिता से आकर मिला । उसी प्रकार तेरा पुत्र का भी समय आने पर तुझसे समागम होगा, इसमें किंचित्-मात्र संशय नहीं है ।'

नारद के समझाने से रुक्मिणी का शोक मन्द हुआ । उसने कहा--'हे प्रभु ! मै आपसे एक विनम्र

श्री प्रद्युम्न चरित्र

निवेदन करना चाहती हूँ, जिसे कृपाकर ध्यान से सुनें। हमारे अश्वारोहियों ने समस्त भूतल का अन्वेषण किया, किन्तु कहीं भी कोई सूत्र न मिला। मुझे आपके कथन पर श्रद्धान है, क्योंकि आपका कथन कभी मिथ्या नहीं हो सकता। हे भगवन् ! मुझे आपके दर्शनों की उसी प्रकार बड़ी अनन्य लालसा थी, जैसे ग्रीष्म ऋतु में तृषित हरिण मेघराशि की ओर टकटकी लगाये रहते हैं। मेरे पुण्योदय से ही इस महल में आपका आगमन हुआ है।' नारद ने पुनः समझाना आरम्भ किया--अब चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं हैं। मैं स्वयं प्रयत्न करूँगा, फिर भी होनी बलवान होती है। मैं समस्त संसार का बारम्बार भ्रमण कर तेरे पुत्र को ढूढ़ लाऊँगा। मैं तो स्वतः भ्रमण करता रहता हूँ। अतः इसमें मुझे कोई परिश्रम या खेद नहीं होगा, वरन् प्रसन्नता ही होगी। यदि तेरे कार्य के लिए मुझे भ्रमण करना पड़े, तो मुझे कष्ट कैसा ? ढाईद्वीप में ऐसा कोई भी स्थान नहीं, जहाँ मैं न पहुँच सकूँ। मैं समग्र लोक में भ्रमण कर तेरे पुत्र का अन्वेषण करूँगा।' नारद के आश्वासन देने पर भी रुक्मिणी ने कहा--'हे नाथ ! उसका अन्वेषण करना बड़ा ही दुष्कर है। मैं बड़ी अभागिनी हूँ। अपने शिशु की वाणी भी मुझे सुनने को नहीं मिल पा रही है। फिर भी आपके वचन मंगलमय हों।' रुक्मिणी को कातर होते देखकर नारद ने कहा--'हे पुत्री ! मैं सत्य कहता हूँ। किसी पूर्व-भव के शत्रु ने ही तेरे पुत्र का अपहरण किया है। यदि मैं तेरे पुत्र का सम्वाद न ला दूँ, तो मुझे मिथ्यावादी समझना। अतः शोक त्याग कर सावधानीपूर्वक धैर्य धारण करो। केवलज्ञानी अतिमुक्तक तीन लोक के पदार्थों के ज्ञाता थे, किन्तु वे तो घातिया अष्ट कर्मों का विनाश कर मोक्ष को गये। वैसे मति-श्रुति एवं अवधि अर्थात् तीन ज्ञान के धारी भावी तीर्थंकर नेमिनाथ भी सत्यासत्य का विवेचन करनेवाले हैं किन्तु वे इस बारे में कुछ बोलेंगे ही नहीं। इसलिये मुझे संसार-प्रसिद्ध स्थान पूर्व-विदेह में जाना पड़ेगा। वहाँ पुण्डरीकिणी नाम की एक रमणीक नगरी है, जहाँ सीमधंर स्वामी समवशरण में विराजमान हैं। मैं वहाँ जाकर भगवान को भक्तिपूर्वक नमस्कार करूँगा, प्रदक्षिणा दूँगा एवं साष्टांग प्रणाम कर उनका स्तवन करूँगा। इसके पश्चात् तेरे पुत्र के अपहरण का समस्त वृत्तान्त उन्हें सुनाकर तुझे धैर्य देने के लिए शीघ्र लौट आऊँगा।' इस प्रकार नारद रुक्मिणी को आश्वासन देकर पूर्व-विदेह को रवाना हुए।

दर्शकों ने शीश उठा कर देखा कि नारद बड़े वेग से आकाश में गमन कर रहे थे। देखते-देखते वे

सूर्य के विमान से भी आगे निकल कर अदृश हो गये । नारद सुमेरु पर्वत पर जा पहुँचे । रात्रि का समय निकट था, अतः उन्होंने संध्या-वन्दना की । तत्पश्चात् प्रफुल्लित होकर नारद ने अकृत्रिम चैत्यालयों के जिन-बिम्बों की आराधना की । वहाँ पर चारण ऋद्धि धारक मुनिगण विराजमान थे । उन्हे भी नारद ने विधिवत् नमस्कार किया । उस दिन की रात्रि वही व्यतीत हुई । प्रातःकाल स्नान करके पूजन से निवृत्त होकर उन्होंने आगे के लिए प्रस्थान किया । वे अल्प काल में ही पुण्डरीकिणी नगरी में जा पहुँचे । वहाँ की शोभा देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ, कारण यह था कि ऐसी नगरी उन्होने कभी देखी ही नहीं थी। वहाँ धर्म-चक्र के प्रवर्तक तीर्थंकर सदा विराजमान रहते हैं । छः खण्डों के स्वामी चक्रवर्ती, बलदेव, बासुदेवादिकों का भी वहाँ निवास रहता है । इसके अतिरिक्त जिन-भक्ति से प्रेरित होकर सुर-असुर भी सदा आया करते हैं । ऐसी नगरी का वर्णन भला कैसे सम्भव हो सकता है ? दूर से ही नारद ने समवशरण का दर्शन किया । देव-देवेन्द्र-खगेन्द्रादिक विद्यमान तीर्थंकर भगवान श्रीसीमन्धर स्वामी की पूजा-वन्दना करने में संलग्न थे । समवशरण देख कर नारद को प्रतीत हुआ कि तीन लोक की सारभूत सामग्री यहीं एकत्रित हो गयी है । अनेक प्रतिज्ञाओं के पालक ब्रह्मचारी नारद ने व्योम-मार्ग से ही भक्तिपूर्वक समवशरण में प्रवेश किया । श्रीसीमन्धर स्वामी के दर्शन से नारद को आनन्द का जो अनुभव हुआ, वह वर्णनातीत है । उन्होने तीन प्रदक्षिणाएँ दीं एवं इस प्रकार वे जिनेन्द्र देव की स्तुति करने लगे--

'हे देवाधिदेव ! मैं नारद आपको बारम्बार नमस्कार करता हूँ । चतुर्निकाय के देव आपकी सेवा करते हैं । आपके कर्म-कलंक एवं मोह-पाश क्षीण हो चुके हैं । अपने कामरूपी गजराज को सिंह की तरह परास्त किया है । आप सत्पुरुष रूपी कमलों के लिए सूर्य के समान हैं । आपको नमस्कार है । हे भगवन्! आपके चरणकमलों की सुर-असुर मानव सभी वन्दना करते हैं । आप मोहान्धकार का नाश करने के लिए चन्द्रमा के तुल्य है तथा संसार-रूपी वन को दग्ध करने के लिए दावानल के सदृश हैं । आप मोक्षफल के अभिलाषी केवलज्ञानरूपी नेत्र को धारण करने वाले तथा स्याद्वाद-वाणी के प्रवर्तक हैं । आप धर्म-तीर्थ के स्वामी तथा मोक्ष-पद प्राप्त करनेवाले हैं । इसलिये आप को मेरा अष्टांग नमस्कार है । आप संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय, अज्ञान एवं भयरूपी समुद्र के पारंगत हैं, अनन्त वीर्य के धारक हैं । इस प्रकार आपको मेरा विनयपूर्वक प्रणाम है । आप ही शान्तिकर्त्ता शंकर है, आपके हर्त्ता महादेव है । आपही

भव-भवान्तर के संचित पाप-पुंजों का नाश करनेवाले हैं । केवलज्ञान के मूर्ति-स्वरूप आपके चरणों में नमस्कार है । आप जब माता के गर्भ में आये, उस समय रत्नों की अविरल वर्षा हुई थी । अतः आप हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) हैं । आपही लोक में व्याप्त विष्णु हैं । आप भक्तजनों को मनोवाँछित फल देनेवाले कल्पवृक्ष के समान हैं । हे जिनेन्द्र ! आपको नमस्कार है ।' विभिन्न प्रकार से श्रीसीमन्धर स्वामी का स्तवन कर नारद द्वादश-सभा में मनुष्यों की ओर जा कर बैठे । किन्तु वहाँ का दृश्य उन्हें बड़ा विचित्र प्रतीत हुआ । यहाँ बड़े दीर्घकाय पाँच सौ धनुष तक की उच्चतावाले मनुष्य बैठे थे । नारद ने सोचा इनकी तुलना में मेरी देहयष्टि अत्यन्त लघु है, क्योंकि मेरी देहयष्टि केवल दश धनुष प्रमाण ही उच्च है । कहीं इनके नीचे विचूर्ण (पिस) न हो जाऊँ । ऐसा विचार कर नारद श्रीसीमन्धर स्वामी के सिंहासन के तले जाकर बैठ गये । जिनेश्वर के सम्मुख जो चक्रवर्ती आसीन था, कौतूहलवश उसने नारद को उठाकर अपनी हथेली पर ले लिया । वह विचारने लगा--'वस्तुतः यह है कौन, किस योनि का कीट है ? आकार में तो मनुष्य जैसा ही प्रतीत होता है ।' इस प्रकार विचार करते हुए भी चक्रवर्ती का संशय इसलिये जाता रहा, क्योंकि जब वह जिनेन्द्र के सिंहासन के तले बैठा है, तो कुछ भी हो संशय निवारण करने के लिए स्वयं त्रिलोकपति विराजमान हैं । फिर भी उसने संशय निवारण के उद्देश्य से श्रीसीमन्धर स्वामी को नमस्कार कर जिज्ञासा की--'हे भगवन् ! मुझे एक संशय हो गया है ।' आपने चार गति बतलाई हैं--'देवगति, मनुष्यगति, तिर्यचगति एवं नरकगति । इनमें यह जीव किस गति का है ?' भगवान की दिव्य-वाणी खिरी--'हे राजन् ! यह भरतक्षेत्र का मनुष्य है । उस लोक संसार में यह विख्यात एवं बड़ा विद्वान भी है। इसे लोग नारद कहते हैं । नारायण श्रीकृष्ण से इसकी अभिन्न मित्रता है ।' श्री जिनेन्द्रदेव भगवान का कथन सुन कर चक्रवर्ती ने फिर पूछा--'क्या भरतक्षेत्र में ऐसे ही मनुष्य होते हैं । मैं ने तो इसे कीट समझा था, इसीलिये उठा कर अपनी हथेली पर रख लिया ।' श्रीजिनेन्द्र की दिव्य-वाणी हुई--'हे राजन् ! भरतक्षेत्र में अभी अवसर्पिणी काल चल रहा है । इसके पश्चात् वहाँ पर जिस काल का आगमन होगा, उसका वर्णन करते हैं- ध्यान देकर सुनो ।

भरतक्षेत्र में उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी काल क्रम से परिवर्तित होते रहते हैं । इनके छः-छः अवान्तर काल भी होते हैं । अवसर्पिणी के पूर्व काल में मानव की देह तीन कोस एवं उच्च आयु तीन पल्य प्रमाण

की होती है । द्वितीय काल मे मानव देह दो कोस की एव आयु दो पल्य की होती है । तृतीय काल में शरीर एक कोस उच्च एव आयु एक पल्य की होती है । चतुर्थ काल मे अर्थात् युग के आदि मे प्रथम तीर्थकर श्रीऋषभनाथ जिनेश्वर हुए थे । उनकी आयु चौरासी लाख वर्ष की थी एवं देह उच्चता ५०० धनुष प्रमाण थी । इसके बहुत दीर्घ काल पश्चात् श्री अजितनाथादि मोक्ष-मार्ग के परमोपदेशक २१ तीर्थंकर हुए हैं । अब वर्तमान मे अवसर्पिणी के चतुर्थ काल का समय है । इस समय भारतवर्ष में हरिवंश की शोभा विस्तारक २२ वें तीर्थंकर श्री नेमिनाथ स्वामी ने जन्म लिया है । वर्तमान में वहॉ के मनुष्यों की देहयष्टि १० धनुष उच्च है । हे राजन् ! यह नारद वहीं से आया है । चतुर्थ काल की समाप्ति पर जब पंचम काल का आगमन होगा, तो वहॉ के मनुष्यों की आयु १०० वर्ष की होगी एवं देह ७॥ हाथ प्रमाण उच्च होगी एवं छठवें काल में शरीर केवल १ हाथ उच्च होगा एवं आयु मात्र १६ वर्ष तक की । काल चक्र के अनुसार ये परिवर्तन होते रहते हैं ।'

भगवान की अमृतमयी वाणी सुनकर चक्रवर्ती ने प्रश्न किया--'हे भगवन् ! यह ऐसे कठिन पर्वतो का पारकर विदेशक्षेत्र में कैसे आ पहुँचा एवं यहॉ किस कार्य हेतु आया है ? कृपाकर आप बतलाइए ।' चक्रवर्ती के प्रश्नों का समाधान करना अवश्य था । इसलिये श्री सीमन्धर स्वामी ने द्वादश सभा के प्राणियों की धार्मिक प्रवृत्ति को विस्तार करने वाली मधुर वाणी द्वारा प्रश्नो का उत्तर देना प्रारम्भ किया-

यह नारद जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र से आया है । इसके आने का उद्देश्य नारायण श्रीकृष्ण के पुत्र का अन्वेषण करना है । श्रीकृष्ण से इसकी इतनी प्रगाढ़ मित्रता है कि उनके पुत्र का अपहरण सुनकर इसका चित्त व्याकुल हो रहा है । कई स्थानों पर अन्वेषण लगाकर अब मेरे निकट जिज्ञासा के लिए आया है ।'

चक्रवर्ती ने पुनः प्रश्न किया--'हे भगवन् ! आपने जिस श्रीकृष्ण का नाम लिया है, वह कौन है ? उसका पराक्रमी कुल कैसा है ? उसका निवास-स्थान कहॉ है एव उसका पुत्र कहॉ है ? किस शत्रु ने उसका अपहरण किया है ? वह लौटकर आयेगा या नहीं ? आप समस्त वृत्तान्त पर प्रकाश डालिये ।' अनन्त ऐश्वर्य के स्वामी जिनेन्द्र श्रीसीमन्धर स्वामी ने पूर्ववत् उत्तर दिया--'हे राजन् ! तेरा प्रश्न बडा ही समयोचित है । इस वृत्तान्त के श्रवण-मात्र से श्रोतागणों के पापों का क्षय होगा । अतः ध्यान देकर सुनो-

भरतक्षेत्र में द्वारावर्ती नाम की एक प्रसिद्ध नगरी है । वहाँ तीन खण्ड पृथ्वी का अधिपति (अर्धचक्री)

नारायण श्रीकृष्ण राज्य करता है । वह यदुवंशियों का भूषण एव हरिवंश का श्रृगार है । उसकी प्राणप्रिया रानी रुक्मिणी है ।' इतना सुनने के बाद चक्रवर्ती ने प्रार्थना की--'हे भगवन् ! आप प्राणियों को मनोवॉछित फल के प्रदाता हैं । हम लोगों की अभिलाषा है कि आप श्रीकृष्णनारायण के पुत्र प्रद्युम्न का पवित्र चरित्र सुनायें । अतएव आप उसका चरित्र वर्णन करें ।' श्रोताओं की प्रार्थना पर श्री सीमन्धर स्वामी ने कहना प्रारम्भ किया--

'द्वारावती में यदुवंशी कुलभूषण श्रीकृष्णनारायण राज्य करते हैं । उनकी रानी संसार प्रसिद्ध रुक्मिणी है । कालक्रम में उस रानी के पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई । वह प्रसव की छठवीं रात्रि को पुत्र को अंक में लेकर शयन कर रही थी । ठीक उसी समय शिशु के पूर्व-भव का शत्रु एक दैत्य उसे हरकर ले गया । दैत्य ने अबोध शिशु को तक्षक पर्वत की खदिरा नाम की अटवी में ले जाकर पुराने बैर का प्रतिशोध लेना चाहा । उसने एक विशालकाय शिला के तले उसे दबा दिया । सयोगवश विद्याधरों का राजा कालसंवर अपनी रानी के साथ वहॉ आ पहुँचा । उसने शिला को कम्पायमान देखकर उसे ऊपर को उठाया । उसके नीचे एक शिशु मुस्करा रहा था । राजा ने उसे उठा लिया एवं अपनी रानी के साथ विमान में बैठ कर अपनी नगरी को लौट आया । अब उस बालक का वहीं प्रतिपालन हो रहा है । शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की भॉति उस किशोर का सर्वांगीण विकास हो रहा है । अब वही प्रद्युम्न के नाम से प्रख्यात है । जब वह सोलहवें वर्ष में पदार्पण करेगा, तो सोलह प्रकार की निधि एवं दो विद्याएँ प्राप्त कर द्वारिका लौट आयेगा । उसे पाकर उसके माता-पिता एवं कुटुम्बीजन अतीव प्रसन्न होंगे । घर जाते समय प्रद्युम्न के मार्ग में जो शुभ शकुन होंगे, वे इस प्रकार हैं--

रुक्मिणी के उरोजों से स्वतः दुग्ध बहने लगेगा, वन के वृक्ष लहलहा उठेंगे, कमल प्रफुल्लित होंगे, शुष्क सरोवर जल से पूर्ण हो जायेंगे, राजमहल के सम्मुख का शुष्क अशोक वृक्ष पुनः पुष्पित हो उठेगा, पुष्पों के भार से लदे हुए वृक्षों पर रसिक भ्रमर गुन्जार करेंगे । नगर के अन्य उद्यान भी बिना ऋतु के ही पुष्पित हो जायेंगे । कोयल के मधुर संगीत एवं मयूरों के मोहक नृत्य के कोलाहल से उद्यान गूँज उठेंगे । आम के वृक्षों में मंजरी एवं फल देख कर सब के चित्त प्रफुल्लित होंगे । उस समय गूँगों में बोलने की अपूर्व शक्ति आ जायेगी । कुबड़े-लूले एवं काने-अन्धे सुनने-देखने लग जायेंगे । कुरूपा स्त्रियाँ उस समय मृगनैनी

श्री प्रद्युम्न चरित्र

की होती है । द्वितीय काल मे मानव देह दो कोस की एव आयु दो पल्य की होती है । तृतीय काल मे शरीर एक कोस उच्च एव आयु एक पल्य की होती है । चतुर्थ काल मे अर्थात् युग के आदि मे प्रथम तीर्थंकर श्रीऋषभनाथ जिनेश्वर हुए थे । उनकी आयु चौरासी लाख वर्ष की थी एवं देह उच्चता ५०० धनुष प्रमाण थी । इसके बहुत दीर्घ काल पश्चात् श्री अजितनाथादि मोक्ष-मार्ग के परमोपदेशक २१ तीर्थंकर हुए है । अब वर्तमान में अवसर्पिणी के चतुर्थ काल का समय है । इस समय भारतवर्ष मे हरिवंश की शोभा विस्तारक २२ वे तीर्थंकर श्री नेमिनाथ स्वामी ने जन्म लिया हे । वर्तमान मे वहाॅ के मनुष्यों की ... है । हे राजन् ! यह नारद वही से आया है । चतुर्थ काल की समाप्ति पर जब ... मनुष्यो की आयु १०० वर्ष की होगी एवं देह ७॥ हाथ प्रमाण ... होगा एवं आयु मात्र १६ वर्ष तक की । काल

... ! यह ऐसे कठिन पर्वतो ... बतलाइए ।'
...ियों

शिला पर अपना आसन लगाया । वहाँ बैठकर वे पाठ करने लगे । ठीक उसी समय माली ने आकर देखा कि उपवन की शोभा अपूर्व हो रही है । उसे परम आश्चर्य तो हुआ, किन्तु जब उसने अशोक वृक्ष के तले विराजमान मुनिराज को देखा, तो उसका भ्रम-निवारण हो गया । माली समझ गया कि यह सब मुनि का ही प्रभाव है । उसने बड़ी भक्ति से मुनि महाराज को प्रणाम किया एवं उनकी प्रदक्षिणा दी । इस भाँति शुभलक्षण सम्पन्न समुद्र के समान गम्भीर बुद्धिवाले, सुमेरु से स्थिर, पापरूपी वृक्ष को समूल नष्ट करनेवाले, अष्ट मदरूपी गज को सिंह के समान पराभूत करनेवाले, जितेन्द्रिय, सर्व परिग्रह रहित, मोक्ष-मार्ग के अनुगामी, मति-श्रुत-अवधिज्ञान सम्पन्न नन्दिवर्धन यतीश्वर वहीं निवास करने लगे ।

जब नगर-निवासियों को यह सूचना मिली कि उपवन में मुनि महाराज का आगमन हुआ है, तो वहाँ के जैन धर्म परायण नागरिक भक्ति-भाव से उनकी वन्दना के लिए गये । उनके अतिरिक्त भी कुछ अन्य सज्जनवृन्द लज्जा से, कुछ दूसरों के आवेदन से एवं कुछ कौतूहलवश देखने के लिए भी गये । यह भी उचित ही है, क्योंकि सबकी मनोवृत्ति एक-सी नहीं होती ।

नगर-निवासियों का वह समूह नाना प्रकार से उत्सव मनाता हुआ जा रहा था । उन्हें इस प्रकार गमन करते हुए देखकर अग्निभूति एवं वायुभूति ने विनोद में किसी श्रावक से जिज्ञासा की--'कहिये, आप लोग उत्तम-उत्तम वस्त्र धारण कर उपवन की ओर किसलिये जा रहे हैं ?' श्रावकों ने तत्काल उत्तर दिया--'क्या तुम लोग आज ही आकाश से पृथ्वी पर अवतरित हुए हो ? क्या तुम्हें नहीं मालूम कि सर्वशास्त्र पारंगत, ऋद्धिधारक एवं देव-पूजित मुनि महाराज का उपवन में आगमन हुआ है ? हम लोग उन्हीं की वन्दना के उद्देश्य से उधर जा रहे हैं ।' श्रावकों की बात सुनकर द्विज-पुत्रों ने अभिमान संयुक्त वाणी में कहा--'अरे मूर्ख तुम्हारे मुख से कैसे निन्दा-सूचक शब्द निकल रहे हैं । दिगम्बरों की गणना तो जगत् निन्द्यों में है । वे मूर्ख कुटिल एवं मलीन होते है । उन्हें वेद-शास्त्रों का कुछ भी ज्ञान नहीं होता । तुम उन्हें साधु कैसे कहते हो ? जो ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हो, वेदपाठी बुद्धिमान हो, तरण-तारण में सामर्थ्य रखता हो, वही साधु पदवाला हो सकता है । रे शठ ! संसार में हम ही पूज्य हैं । तुम लोग व्यर्थ में दिगम्बर की वन्दना करने जा रहे हो ।' मुनि-भक्ति परायण श्रावकों ने उत्तर दिया--'अरे दुष्टों ! तुम स्वयं धर्म-कर्म से रहित हो, स्त्रियों के मोह में फँसे हो, निन्दनीय हो । तुम्हें साधु कहलाने का कौन-सा अधिकार है ? जिनके

श्री प्रद्युम्न चरित्र

बन जायेंगी । तीव्र स्वरवाले का स्वर सुरीला हो जायेगा एवं कुरूप पुरुष भी रूपवान हो जायेंगे । उचित समय पर रुक्मिणी की देह में रोमांच प्रारम्भ होगा । हे राजन् ! जिस समय उपरोक्त घटनाएँ प्रारम्भ हों, तब समझ लेना कि प्रद्युम्न का आगमन अत्यन्त सन्निकट है । जिसे तुम हथेली पर लिए बैठे हो, यह प्रसिद्ध नारद मुनि हैं । यह नवमा अधोवदन नाम का नारद मोक्ष-मार्ग में निपुण है । देशव्रतधारी यह नारद श्रीकृष्ण के हित के लिए उनके पुत्र का कुशलक्षेम सुनने के उद्देश्य से यहाँ आया है, जिसका मैने संक्षेप में वर्णन कर दिया है ।'

फिर भी चक्रवर्ती को सन्तोष न हुआ । उन्होंने श्री सीमन्धर स्वामी को नमस्कार कर प्रार्थना की--'हे दया के सागर ! आप श्रीकृष्ण पुत्र प्रद्युम्नकुमार के चरित्र का आद्योपान्त वर्णन कीजिये । उसकी पूर्व भव में दैत्य से क्यों शत्रुता हुई ? उसने कौन-कौन से सत्कार्यो से अपार पुण्य उपार्जन किया है ?' चक्रवर्ती के निवेदन पर श्री सीमन्धर स्वामी ने सप्तभगी स्वरूप दिव्य-ध्वनि में उत्तर दिया--'जम्बूद्वीप के प्रख्यात भरतक्षेत्र में मगध नाम का एक रमणीय प्रदेश है । उस प्रदेश में शालिग्राम नाम के नगर में सोमदत्त नामक ब्राह्मण रहता था । उसे अपने कुल एवं जाति का बड़ा अभिमान था । उसकी पत्नी अग्निला अनिन्द्य सुन्दरी थी । सोमदत्त के दो पुत्र थे तथा वे दोनों ही वेद-पारगंत, धन-धान्य, विद्या-विभव सम्पन्न थे । अपने पिता की तरह उनमें भी अपने कुल एव जाति का अभिमान पूर्ण मात्रा में था । अपने समक्ष शेष त्रिलोकीजन को वे हेय समझते थे । ज्येष्ठ पुत्र का नाम था अग्निभूति एवं कनिष्ठ का नाम वायुभूति था । उन दोनों भ्राताओं को जैनधर्म से प्रचण्ड विद्वेष था । अपने मिथ्याभिमान के वश में वे अजैन-धर्मावलम्बी थे । साथ ही उन्होंने अनेक भोले-भाले अज्ञानी प्राणियों को बहलावा देकर अपने धर्म में सम्मिलित कर लिया । उनका स्वभाव ही पदार्थों के स्वरूप के प्रतिकूल कार्य करना था । उनका कार्य-काल प्रसन्न चित्त, स्मृति-शास्त्रज्ञ एवं धर्म-तीर्थ के प्रवर्तक श्रीवासुपूज्य तीर्थंकर के समय में ही था । जब वे अभिमानी मगध में पहुँचे, तो वहाँ एक उल्लेखनीय घटना हुई ।

एक बार शालिग्राम के सुरम्य उपवन में श्री नन्दिवर्धन मुनीश्वर का आगमन हुआ । वे सर्वशास्त्र वेत्ता, कर्मविनाशक, ज्ञाननेत्र धारण करने वाले, गम्भीर, मनोगुप्ति एवं कायगुप्ति के पालन करनेवाले थे । उन्होने यथोचित क्रिया के पश्चात् बिना माली की अनुमति के ही अशोक वृक्ष के तले मे पडी हुई निर्जन्तु स्वच्छ

शिला पर अपना आसन लगाया । वहाँ बैठकर वे पाठ करने लगे । ठीक उसी समय माली ने आकर देखा कि उपवन की शोभा अपूर्व हो रही है । उसे परम आश्चर्य तो हुआ, किन्तु जब उसने अशोक वृक्ष के तले विराजमान मुनिराज को देखा, तो उसका भ्रम-निवारण हो गया । माली समझ गया कि यह सब मुनि का ही प्रभाव है । उसने बड़ी भक्ति से मुनि महाराज को प्रणाम किया एवं उनकी प्रदक्षिणा दी । इस भाँति शुभलक्षण सम्पन्न समुद्र के समान गम्भीर बुद्धिवाले, सुमेरु से स्थिर, पापरूपी वृक्ष को समूल नष्ट करनेवाले, अष्ट मदरूपी गज को सिंह के समान पराभूत करनेवाले, जितेन्द्रिय, सर्व परिग्रह रहित, मोक्ष-मार्ग के अनुगामी, मति-श्रुत-अवधिज्ञान सम्पन्न नन्दिवर्धन यतीश्वर वहीं निवास करने लगे ।

जब नगर-निवासियों को यह सूचना मिली कि उपवन में मुनि महाराज का आगमन हुआ है, तो वहाँ के जैन धर्म परायण नागरिक भक्ति-भाव से उनकी वन्दना के लिए गये । उनके अतिरिक्त भी कुछ अन्य सज्जनवृन्द लज्जा से, कुछ दूसरों के आवेदन से एवं कुछ कौतूहलवश देखने के लिए भी गये । यह भी उचित ही है, क्योंकि सबकी मनोवृत्ति एक-सी नहीं होती ।

नगर-निवासियों का वह समूह नाना प्रकार से उत्सव मनाता हुआ जा रहा था । उन्हें इस प्रकार गमन करते हुए देखकर अग्निभूति एवं वायुभूति ने विनोद में किसी श्रावक से जिज्ञासा की--'कहिये, आप लोग उत्तम-उत्तम वस्त्र धारण कर उपवन की ओर किसलिये जा रहे हैं ?' श्रावकों ने तत्काल उत्तर दिया--'क्या तुम लोग आज ही आकाश से पृथ्वी पर अवतरित हुए हो ? क्या तुम्हें नहीं मालूम कि सर्वशास्त्र पारंगत, ऋद्धिधारक एवं देव-पूजित मुनि महाराज का उपवन में आगमन हुआ है ? हम लोग उन्हीं की वन्दना के उद्देश्य से उधर जा रहे हैं ।' श्रावकों की बात सुनकर द्विज-पुत्रों ने अभिमान संयुक्त वाणी में कहा--'अरे मूर्ख तुम्हारे मुख से कैसे निन्दा-सूचक शब्द निकल रहे हैं । दिगम्बरों की गणना तो जगत् निन्द्यों में है । वे मूर्ख कुटिल एवं मलीन होते है । उन्हें वेद-शास्त्रों का कुछ भी ज्ञान नहीं होता । तुम उन्हें साधु कैसे कहते हो ? जो ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हो, वेदपाठी बुद्धिमान हो, तरण-तारण में सामर्थ्य रखता हो, वही साधु पदवाला हो सकता है । रे शठ ! संसार में हम ही पूज्य हैं । तुम लोग व्यर्थ में दिगम्बर की वन्दना करने जा रहे हो ।' मुनि-भक्ति परायण श्रावकों ने उत्तर दिया--'अरे दुष्टों ! तुम स्वयं धर्म-कर्म से रहित हो, स्त्रियों के मोह में फँसे हो, निन्दनीय हो । तुम्हें साधु कहलाने का कौन-सा अधिकार है ? जिनके

कमलवत् चरणो की धूलि को स्पर्श कर सत्पुरुषों ने अपना जीवन सार्थक किया है, उनका स्वर्गादिक सुखों का उपभोग कर परम्परा के अनुसार मोक्ष प्राप्त होना सुनिश्चित है । वे ही सच्चे साधु एवं जगत्पूज्य हो सकते है । ऐसे साधु ही स्वयं मुक्त होते हैं एवं दूसरों को मुक्त कराते हैं, जो परोपकारी, लोकपरायण एवं कार्य रहित है । पंचेन्द्रियो में आसक्त ब्राह्मण कदापि साधु के पवित्र आसन पर नहीं विराजमान किये जा सकते । हे द्विज-पुत्रों ! हमे तो आश्चर्य होता है कि मुनीश्वर की निन्दा करते हुए तुम्हारी जिह्वा क्यों न विलग हो गयी ?' श्रावको के ऐसे कठोर वचनों से द्विजपुत्रों को उग्र क्रोध हो आया । उनकी आँखें रक्त वर्ण की हो गयीं । वे आवेश में आकर कहने लगे--'इन मूढ़मति श्रावकों से वाद-विवाद करने में भला क्या लाभ ? अब तो हम जाकर उस दिगम्बर मुनि से ही वाद-विवाद करेंगे, जो इनको बहकाता है ।' ऐसा कहते हुए वे ब्राह्मण-पुत्र द्वय घर की ओर लौटे, जब कि श्रावकवृन्द वन की ओर गमन कर गये ।

घर पहुँच कर ब्राह्मण-पुत्रों ने अपने माता-पिता के चरणों में प्रणाम किया । वे कहने लगे--'हे तात ! नगर के निकट उपवन में एक महाधूर्त्त दिगम्बर वेशधारी आया है । आप हमें आज्ञा दें कि जाकर उससे वाद-विवाद कर सके । कारण यदि वह वेदों का शत्रु दो-तीन दिन भी उपवन में रहेगा, तो अनेक सामान्य प्रजाजन हमारे शास्त्रोक्त धर्मसे विमुख हो जायेंगे । वह जैन मत का प्रचारक है, अतः वेद शास्त्रों के विरुद्ध प्रचार करेगा । अतएव हम चाहते हैं कि इससे पूर्व ही वेद-शास्त्र के बल पर शास्त्रार्थ में उसे परास्त कर देवें, जिससे वह यहाँ से तत्काल पलायन कर जाये ।' उनके माता-पिता ने कहा--'हे पुत्रों ! तुम्हारा वन में जाना कदापि उचित नहीं, कारण ये साधु जन बडे अनुभवी एवं चतुर होते हैं । देश-विदेशों मे भ्रमण करने से उनका ज्ञान विशद हो जाता है । वे शास्त्रगामी होने के कारण शास्त्रार्थ में बड़े निपुण होते हैं एवं अहर्निश पठन-पाठन में तल्लीन रहते है । इसलिये भला ऐसा कौन है, जो शास्त्रार्थ में उन दिगम्बर साधुओं से पार पा जाये ?' किन्तु अभिमानी पुत्रों को माता-पिता के कथन पर विश्वास नहीं हुआ । वे गर्व से कह उठे--'हे तात ! विद्या-बुद्धि में हमें परास्त करनेवाला इस पृथ्वी पर अब तक उत्पन्न ही नही हुआ । आप ऐसे दीन वचन क्यों कहते हैं ? हम इसी समय उपवन में जाते हैं एवं उस मिथ्यामति को परास्त कर लौटेंगे ।' वे दोनों द्विज-पुत्र अपने माता-पिता के निषेध करने पर भी उपवन की ओर चल पड़े ।

श्री प्रद्युम्न चरित्र

मुनिराज श्रीनन्दिवर्द्धन उपवन में शिष्य मण्डली के साथ विराजमान थे । उन्हें शास्त्रार्थ में परास्त करने की अभिलाषा से अग्निभूति एव वायुभूति गमन कर रहे थे । वे परस्पर अभिमान के साथ वार्तालाप करते जा रहे थे कि हम मुनि से ऐसे कठिन प्रश्न करेंगे कि वह निरुत्तर रह जायेगा । पथ में एक छोटी-सी पहाड़ी की तलहटी में सात्विकी नामक एक मुनि विराजमान थे । द्विज-पुत्रों को बड़बडाते हुए देखकर उन्होंने पूछा--'तुम लोग इस प्रकार अभिमान में चूर हुए कहाँ जा रहे हो ?' ब्राह्मण-पुत्रों ने जोश के साथ कहा-- हम आचार्य नन्दिवर्द्धन को शास्त्रार्थ में परास्त करने के लिए जा रहे हैं ।' सात्विकी मुनि ने विचार किया कि आचार्यश्री नन्दिवर्द्धन तो दया के सागर हैं, उनकी तपस्या निर्मल है, हम मुनिगण उनकी सेवा करते हैं । उस पवित्र सरोवर को दूषित करने के लिए ये अभिमानी ब्राह्मण जा रहे हैं, यह उचित नहीं। इन्हें रोक देना चाहिये । ऐसा विचार कर उन्होंने ब्राह्मणों से कहा--'हे द्विज-पुत्रों ! यदि तुम्हें वाद-विवाद करना है, तो मेरे समीप आओ । मैं तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण कर दूँगा--। 'मुनि की बातें सुनकर ब्राह्मण क्रोधित हो गये । वे मदोन्मत्त तो थे ही, मुनि के समीप जाकर कहने लगे--'रे निर्लज्ज ! वेद-शास्त्रों से विमुख ! तेरे मुख से ऐसी गर्वोक्ति शोभा नहीं देती है । यदि तुझमें बुद्धि, विद्या एवं ज्ञान है, तो हम से शास्त्रार्थ करने के लिए प्रस्तुत हो जा ।' क्रोधोन्मत्त ब्राह्मणों ने यह भी कहा--'रे मूर्ख ! यह तू क्या-क्या बक गया । ऐसी कल्पना भी नहीं की जा सकती कि तू वाद-विवाद में हमें परास्त होनेवाले को क्या दण्ड दिया जायेगा ? इसलिये विद्वत-मण्डली के सन्मुख शास्त्रार्थ होना चाहिये । बिना साक्षी के वाद-विवाद उचित नहीं ।' उत्तर में सात्विकी मुनि ने कहा--'यह तुम्हारी इच्छा पर निर्भर है । तुम जो शर्त चाहोगे, मुझे स्वीकार है ।' मुनि का उत्तर सुनकर द्विजों ने उच्च स्वर में कहा--'रे शठ ! यदि विद्वानों के समक्ष तू शास्त्रार्थ में हमें परास्त कर देगा, तो हम प्रतिज्ञा करते हैं कि तुम्हारा शिष्यत्व स्वीकार कर लेंगे एवं यदि परास्त हो जाओगे, तो तुम्हें तत्काल इस देश की सीमा से निकल जाना पड़ेगा । तुम्हें क्षणमात्र के लिए भी यहाँ रहने नहीं दिया जायेगा ।' मुनिराज ने कहा--'हे विप्रो ! तुम्हारा कथन मुझे अक्षरशः स्वीकार है ।' इस प्रकार मुनिराज एवं दोनों द्विज-पुत्र वचनबद्ध हुए । वे विद्वतजनों के सम्मुख शास्त्रार्थ के लिए आमने-सामने होकर बैठे ।

जब नगर-निवासियों को ज्ञात हुआ कि मुनि एवं द्विज-पुत्रों में शास्त्रार्थ होनेवाला है, तो वे

श्री प्रद्युम्न चरित्र

कौतूहलवश विपुल सख्या मे वहाँ आ गये । जब श्रोताओं की पर्याप्त भीड़ इकट्ठी हो गई, तब सब लोगों के यथा-स्थान बैठ जाने पर मुनिराज ने सुमधुर वाणी में कहा--'हे द्विज-पुत्रों ! अपनी उद्दण्डता का परित्याग कर सर्वप्रथम तुम्हीं प्रश्न करो । शास्त्रों में चाहे जहाँ सन्देह हो, शका करो, मैं उसका समाधान करूँगा ।' द्विज-पुत्रों ने मुनि के कथन की उनकी गर्वोक्ति समझा । वे आवेश में आकर कहने लगे--'रे मूढ ! पहिले हमें नमस्कार कर, फिर किसी पदार्थ के स्वरूप को समझाने में सन्देह हो तो हमसे प्रश्न कर। यदि तू हमें नमस्कार कर अपना सन्देह प्रकट करेगा, तो हम तेरी जिज्ञासा का समाधान कर देंगे ।' द्विजों के अशिष्टतापूर्ण व्यवहार से भी मुनि को क्रोध उत्पन्न नहीं हुआ । वे प्रसन्न मुद्रा में बोले--'एवमस्तु ! मै एक प्रश्न पूछता हूँ कि तुम दोनों कहाँ से आये हो ।' प्रश्न सुनते ही द्विज हँसने लगे । उन्होने कहा--'रे मूढ ! तू इतना भी नहीं समझ सका कि हम इसी ग्राम से आये है । यदि तू इतना सामान्य-सा ज्ञान नहीं रखता, तब तो ज्ञात होता है कि तू ने सूर्य-चन्द्रमा का नाम भी नहीं सुना होगा ।' मुनिराज सात्विकी ने कहा--'मैं भलीभाँति जानता हूँ कि तुम इसी ग्राम से आये हो एवं सोमशर्मा नामक ब्राह्मण के पुत्र हो, किन्तु मैने तो गूढ़ भाव से प्रश्न किया था कि पूर्वभव की किस पर्याय को त्याग कर तुम दोनो इस भव मे आये हो ।' विप्र-पुत्रो ने कहा--'क्या कोई ऐसा भी ज्ञानी है जो पूर्व-भव का वर्णन कर सके ? इस भरी सभा में ऐसा प्रश्न पूछने वाला वस्तुतः शठ ही है ।' मुनिराज बोल उठे--'यदि तुम में इतनी भी सामर्थ्य नहीं कि अपनी ही पूर्वावस्था बता सको, तो अन्य को क्या हितोपदेश कर सकोगे । तुम्हारे साथ वाद-विवाद करना व्यर्थ प्रतीत होता है ।' उत्तर में ब्राह्मण-पुत्रो ने कहा--'हम लोग तो पर-भव का ज्ञान नहीं रखते । पर यदि तुझे ज्ञान है, तो तत्काल कह डाल ।' मुनि ने कहा--'एवमस्तु ! हे द्विज-पुत्रों ! मैं इस भरी सभा के समक्ष ही तुम दोनों के भवान्तर का वर्णन करूँगा । ब्राह्मण-पुत्रो के क्रोध का पारावार न रहा । वे कुपित होकर कहने लगे--'रे दिगम्बर शठ ! यदि तू जानता है, तो अवश्य कह ।' मुनि ने समस्त सभा को सम्बोधित कर कहा--'मैं इन दोनों ब्राह्मणों की भवान्तर की कथा कहता हूँ, जो सप्रमाण एवं विश्वनीय है, अत. आप लोग ध्यान देकर उसका श्रवण करे--

इसी शालिग्राम मे प्रवर नाम का एक सम्पन्न ब्राह्मण रहता है । एकमात्र खेती ही उसकी जीविका का आधार है । उसके खेत के समीप एक वट वृक्ष है, जिसके नीचे दो श्रृगाल रहते थे । वे शवों का माँस

श्री प्रद्युम्न चरित्र

भक्षण कर अपना जीवन व्यतीत करते थे । एक दिन वह प्रवर ब्राह्मण (किसान) हलादि खेती का समान लेकर अपने खेत की ओर जा रहा था । उसके साथ अनेक सेवक भी थे । मार्ग में उसने आकाश की ओर दृष्टि फेरी, तो वर्षा की सम्भावना समझ में आयी । आकाश के इस छोर से उस छोर तक घोर कृष्णवर्णी मेघ दिखलाई दे रहे थे, जो गर्जना करते हुए रंगीन इन्द्रधनुष-सा अंकित कर रहे थे । उन्हें देखने से प्रतीत होता था कि मानो वे गीष्म ऋतु को प्रताड़ित कर रहे हैं । वायु के झकोरों के साथ मेघ-गर्जना का मिश्रित प्रभाव पृथ्वी को कॅपा-कॅपा दे रहा था । शीघ्र ही वर्षा होने लगी, जिससे उस ब्राह्मण का सर्वांग भींग गया । उसके हाथ-पॉव ठण्डे पड़ रहे थे । सेवक भी भयभीत हो कर खेती का सामान वहीं पटक कर पलायन कर गये थे । वह भी निरुपाय हो कर बड़ा दुःखी हुआ एवं अपने घर लौट आया । वृष्टिपात न थमा हुआ तथा निरन्तर कई दिवस पर्यन्त प्रचण्ड मेघवर्षा होती रही । लोगों का घर से बाहर निकलना भी दूभर था । जीविका के साधन के अभाव में लोग भूखों मरने लगे । श्रृगाल का जोड़ा भी भूख से व्याकुल था । जब आठवें दिन वर्षा का प्रकोप धीमा पड़ा, तो वे श्रृगाल बाहर निकले । उन्हें खेत में भीगी हुई रस्सी मिली । अपनी भूख की कठिन ज्वाला मिटाने क लिए वे उसे खा गये, जिससे उनके उदर में सांघातिक शूल-वेदना उठी एवं वे मरण को प्राप्त हुए ।

उन्हीं श्रृगालों के जीव तुम दोनों भ्राता हो । तुमने सोमशर्मा ब्राह्मण के यहॉ जन्म ग्रहण किया है पूर्वजन्म के श्रृगाल इस जन्म में ब्राह्मण हुए, इससे स्पष्ट है कि संसार में न किसी जीव की जाति उत्तम है एवं न किसी की नीच । मुझे आश्चर्य होता है कि जीव अपना भोग तो देखता नहीं, व्यर्थ में अभिमान कर बेठता है । तनिक विचारो, पूर्व-जन्म में श्रृगाल की पर्याय से मृत्यु प्राप्त कर ये ब्राह्मण-पुत्र हुए एवं आज अभिमान में चूर हो रहे हैं । अतएव हे भद्रजनों ! तुमने जो वैराग्य की ओर से अपने को विमुख कर लिया हे, वह उचित नहीं हुआ क्योकि जीव को अपने पुण्य-कर्मो के अनुसार ही उत्तम फल प्राप्त होते हें । जो जीव यथार्थ धर्म से अपने को वन्चित कर लेता है, उसे जाति-कुल-रूप-सौभाग्य अथवा धन-धान्य तो प्राप्त होते ही नहीं, साथ ही वह विद्यायश-बल-लाभ आदि उत्तमोत्तम ऋद्धि-सिद्धि से भी वचित हो जाता हे । धर्म के प्रभाव से ही प्राणी को उत्तम शरीर, उच्च कुल, विद्या, धन, सुख एवं देव-पूजा से सोभाग्य प्राप्त होते हैं, जिससे वह परोपकारी, दयाशील, सबका हितैषी तथा क्रोध रहित होता है । धर्म-

श्री प्रद्युम्न चरित्र

विहीन प्राणी को ये सुख स्वप्न मे भी प्राप्त नहीं होते । अतएव तत्व-ज्ञानियो को चाहिए कि वे सर्वप्रथम धर्म का ही स्वरूप समझ लें एवं पापो का परित्याग कर धर्म की ओर झुके । हे ब्राह्मण-पुत्रों ! यदि तुम यह कहो कि ये पर-भव की बाते सत्य नहीं, तो मै उपस्थित जन-समूह के समक्ष ही प्रमाण प्रस्तुत कर देता हूँ ।

जिस प्रवर नामक ब्राह्मण किसान का पूर्व मे वर्णन किया जा चुका है, वृष्टि थमने पर जब वह अपने खेत की दशा देखने के लिए गया, तो खेती का सारा सामान अस्त-व्यस्त रूप से पडा हुआ था । रस्सी आधी तो कुचली हुई थी, जब कि आधी विलुप्त थी । जब वह आगे बढा, तो दो श्रृगाल मरे हुए पड़े थे । उन्हें देखकर उस ब्रह्मण को बडा क्रोध आया । उसने निर्दयतापूर्वक उन पर प्रहार किया एवं उनकी खाल खिचवा कर उनमें भूसा भरवा दिया । उस ब्राह्मण ने उस भूसे भरी हुए खालों को लाकर अपने घर के छप्पर की खूँटी से कस कर बॉध दिया । वह खाले अब तक वहीं बॅधी हैं । यदि विश्वास न हो, तो जाकर उन्हे आज भी देख सकते हो । प्रवर नाम का वह ब्राह्मण जिसने पूर्वभव में अनेक यज्ञादि किये थे, पर मोहवश वह अपने पुत्र की पत्नी के उदर से इस भव में उत्पन्न हुआ है । जब अपने घर की भूमि को देख कर उसे अपना जाति (पूर्व-भव) स्मरण हो आया, तब उसे बडा विषाद हुआ । वह सोचने लगा कि अब उसे क्या करना उचित है ? उसकी तो सारी आशायें ही नष्ट हो गयीं थी । मोह के वशीभूत होकर वह अपने पुत्र का ही पुत्र हो गया है । यह सब पाप का ही तो फल है । अब वह अपनीं पुत्र-वधु को माता भला कैसे कह सकता है ? इस प्रकार की चिता से वह पागल हो रहा था । अन्त में उसने निश्चय किया कि गूँगा बन कर रहने से ही लज्जा निभ सकेगी । इसलिये बाल्यकाल से ही उसने मौन धारण कर लिया । मौनावस्था में रह कर ही वह युवा हो गया । हे ब्राह्मण-पुत्रो ! आज का वाद-विवाद सुनने की अभिलाषा से वह भी यहॉ आया हुआ है । देखो, वह सामने ही बैठा है ।'

सब मनुष्यों के सामने ही सात्विकी मुनिराज ने उस गूँगे बाह्मण को बुलाकर पूछा--'हे पुत्र प्रवर ! तूने अपनी अज्ञानतावश व्यर्थ में जो मौन धारण कर लिया है, उसे अब त्याग दे । अपनी मधुर वाणी द्वारा अपने बन्धु-वर्गों को आल्हाद प्रदान कर । सृष्टि की रचना ऐसी ही विचित्र हुआ करती है । जो पुत्री है, उसे माता का पद मिल जाता है एवं पिता को भी पुत्र होना पडता है, जब कि स्वामी सेवक बन जाता

श्री प्रद्युम्न चरित्र

है । इसी प्रकार क्रम से पुत्र वधू अथवा पुत्री तो माता, धनवान तो निर्धन, दरिद्री तो धनी, कुत्ते तो देव एवं देव तो कुत्ते हो जाते हैं । यह सब कर्म की विचित्रता है । इससे बुद्धिमान लोग न तो शोक करते हैं, न उन्हें ग्लानि होती है । हॉ, संसार को सुख प्रदान करनेवाला एवं भय का नाश करनेवाला एक धर्म ही है । उसकी शरण में जाने से किसी प्रकार का विषाद सहन नहीं करना पड़ता एवं न ही दुःख भोगना पड़ता है ।' सात्विकी मुनि के उपदेश से गूँगे को बड़ा आनन्द हुआ । उसने बारम्बार मुनि की वन्दना की । उसके नेत्रों से अश्रुओं की धारा प्रवाहित होने लगी थी । वह अपने दोनों हाथ जोड़कर मुनि से निवेदन करने लगा--'हे कामरूपी गजेन्द्र को परास्त करनेवाले सिंह के सदृश निर्भीक साधु शिरोमणि ! आप मेरी प्रार्थना ध्यान से सुनें । संसार समुद्र से पार उतारनेवाली परम उपकारी जिन-दीक्षा मुझे ग्रहण कराइये । अब मुझे इस संसार, बन्धु-बान्धव, स्त्री-पुत्र, धन-धान्य आदि की आवश्यकता नहीं । मैंने अनुभव किया है कि इस असार संसार में कोई सार नहीं है, इसे त्यागना ही उत्तम है । अतः आप मुझे जिन-दीक्षा प्रदान करें, जिससे मेरा भव-रोग छूट जाये ।'

मूक (गूँगे) ब्राह्मण-पुत्र की जिन-दीक्षा लेने की तत्परता देखकर सात्विकी मुनि ने कहा--'प्रथम तुम अपने माता-पिता एवं कुटुम्बियों से सम्मति ले लो, तत्पश्चात् तुम्हें दीक्षा दी जायेगी ।' मुनिराज के वचनों का उल्लंघन न करना ही प्रवर ब्राह्मण ने उचित समझा । तत्काल वह अपने घर गया । उसने कुटुम्बियों से मिलकर राय की । उसे साधु बनते देखकर माता-पिता एवं सब सम्बन्धी रुदन करने लगे । उन्होंने कहा--'हे वत्स ! तू किस कारण से आज तक मूक रहा था ?' गूँगे ने सबसे क्षमा मॉगते हुए कहा--'मैंने पूर्व-भव में मोह-कर्म को उत्पन्न करने वाली चेष्टायें की थीं । उसी के फलस्वरूप मुझे अपनी पुत्र-वधू के गर्भ में आना पड़ा, उसे मैं माता भला किस प्रकार कह सकता था ? अतः लज्जावश मैंने मौन धारण कर लिया । अब मैं प्राणी को संसार से मुक्त करनेवाली जिन-दीक्षा ग्रहण करूँगा । कारण जब तक जीव मोह के बन्धन में बँधा रहता है, तब तक उसे दुःख-सुख के कटु-सरस अनुभव या ऊँच-नीच के भेदभाव अन्य विचार उत्पन्न होते हैं । इस जीव को सदा एकाकी ही पाप-पुण्य के अनुसार सुख-दुःख भोगना पड़ता है । यह एकाकी ही जन्म लेता है एवं एकाकी ही मरण को प्राप्त होता है । इसलिये मोह कदापि नहीं करना चाहिये, वहीं संसार में आवागमन का कारण है । अब मैं आत्म-कल्याण के लिए

श्री प्रद्युम्न चरित्र

वीतराग जिन-दीक्षा ग्रहण करूँगा । इसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं आनी चाहिये ।' इतना कहकर प्रवर ब्राह्मण ने अपने कुटुम्बियों से क्षमा-याचना की एवं वहाॅ से चल दिया ।

वन में पहुँच कर उस पूर्व में गूँगे ब्राह्मण ने मुनिराज के चरण-कमलों मे नमस्कार किया एवं दीक्षा प्रदान करने की प्रार्थना की । उस परम बुद्धिमान ने गुरु की आज्ञा से कई व्रत ग्रहण किये । सभा में उपस्थित अन्य लोगों ने उस ब्राह्मण को जिन-दीक्षा ग्रहण करते हुए देखा, कई सत्पुरुषों को सम्यक्त्व हो गया एवं कितने ही व्यक्तियों ने श्रावक-धर्म अंगीकार किया । तात्पर्य यह कि कुछ सत्पुरुषों ने महाव्रत धारण किये, कुछ धर्मानुरागियों ने गृहस्थियों के द्वादश प्रकार व्रत स्वीकार किये, तो कुछ बन्धुओं ने प्रतिदिन जिनेन्द्र पूजन की प्रतिज्ञा की एवं कुछ लोगों ने ब्रह्मचर्य-व्रत धारण किया । इस प्रकार एक ओर तो धर्म-धारण का कार्य चल रहा था, वहीं दूसरी ओर कुछ कौतुकी श्रावक प्रवर ब्राह्मण के घर गये । वहाॅ से वे चमड़े की खोली लाकर सब को दिखलाने लगे । उसे देखकर सबको मुनि के वचनों पर विश्वास हो गया । किन्तु उस खोली को देखते ही अहंकारी ब्राह्मण-पुत्रों के मुखमण्डल म्लान हो गये । उनका सारा अभिमान तिरोहित हो गया । उनकी कला-चातुरी समस्त विनष्ट हो गयी । इसके ऊपर सब लोगों की धिक्कार भी सुनने को मिली । अवसर पाकर वे वहाँ से चल दिये ।

जब वे अपने घर पहुॅचे, तो वहाॅ दूसरा ही काण्ड उपस्थित था । उनके माता-पिता ने क्रोधित होकर कहा--'रे पापी कुपुत्रों ! तुम शास्त्रार्थ में परास्त होकर आये हो, यहाॅ से शीघ्र दूर हो जाओ । हम तुम्हारा मुख भी नहीं देखना चाहते । क्या हमने तुम्हें इसीलिये शिक्षा दी थी कि वन में जाकर एक दिगम्बर यति से परास्त हो जाना । रे मूढ़ों ! तुम्हें अध्ययन से लाभ ही क्या हुआ ? तुम्हारे लालन-पालन एवं पठन-पाठन मे जो द्रव्य व्यय हुआ, वह सब व्यर्थ गया । हमने तो पूर्व में ही मना किया था कि वन मे मत जाना, किन्तु तुम लोगों ने हमारी एक न सुनी । जब गये ही थे, तो परास्त हो कर अब क्यों लौट आये ? रे मूर्खों । शास्त्रार्थ में न भी जीत पाये, तो शस्त्र (हथियार) से जीतना था । किन्तु तुमसे तो यह भी न हो सका, तुम्हे शतश. बार धिक्कार है ।' माता-पिता की भर्त्सना सुनकर अग्निभूति एवं वायुभूति बडे ही लज्जित हुए एवं उस समय तो माता-पिता के सामने से हट गये । किन्तु उन्हें उनके कथन से मानसिक सन्तोष हुआ, क्योकि शास्त्रार्थ में पराजय के पश्चात् वे स्वयं भी मुनि पर शारीरिक प्रहार करना चाहते थे, पर

माता-पिता की सम्मति के बिना ऐसा न कर सके थे । अब उन्हें माता-पिता की भी अनुमोदना मिल गयी थी । उन्होंने रात्रि में मुनि का वध करने का सकल्प ले लिया । ऐसा विचार कर वे रात्रि को घर में ही ठहरे । जब मध्य रात्रि हुई, तो दोनों ने अपनी कमर कस ली । वे दुष्ट क्रोधित होकर अपने-अपने हाथ में इच्छा पूर्ण करनेवाली कामधेनु सदृश खड्ग लेकर घर से बाहर निकले । उनकी चोटियाँ बँधी हुई थी एवं नेत्र रक्त वर्ण हो रहे थे । उन्होंने उसी दिशा की ओर प्रयाण किया, जहाँ सात्विकी मुनि से वाद-विवाद हुआ था ।

अब हम यह देखते हैं कि सात्विकी मुनि ने शास्त्रार्थ के पश्चात् क्या किया ? जब ब्राह्मण-पुत्र शास्त्रार्थ में परास्त हो गये, तो मुनि अपने गुरु आचार्यश्री नन्दिवर्द्धन के पास जा पहुँचे । उन्होंने भक्तिपूर्वक उनके चरणों में नत होकर उनसे कहा--'हे गुरुवर्य ! मेरी एक प्रार्थना है, कृपया आप उस पर ध्यान दें । मैंने वाद-विवाद का नियम न होते हुए भी ब्राह्मण-पुत्रों से शास्त्रार्थ किया है । अतएव आप अनुग्रह कर इसका प्रायश्चित बतलाइये ।' उत्तर में मुनीन्द्र श्री नन्दिवर्द्धन ने अपना मस्तक डुलाते हुए कहा--'हे वत्स ! तुमने सर्वथा अनुचित कार्य किया है । इस कारण मुनि संघ पर विपदा आयेगी । जिन ब्राह्मण-पुत्रों का दर्प-भंग हो गया है, वे अत्यन्त क्रुद्ध हैं । आज रात्रि में वे हाथ में दुधारे खड्ग लेकर वन में पहुँचेंगे एवं यथासम्भव सभी मुनियों का वध करेंगे ।' गुरु के वचनों को सुनते ही सात्विकी मुनि काँप उठे । मुनियों की मृत्यु होने की सम्भावना से उन्हें जो क्लेश हुआ, वह वर्णनातीत है । उन्होंने आचार्य से निवेदन किया--'हे कृपानिधान ! मुनिसंघ की रक्षा का कोई उपाय हो तो बतलाइये । यदि मेरे अपराध के कारण अन्य निरपराध मुनियों का वध हो, तो मुझे शतशः बार धिक्कार है । मृत्यु के उपरान्त भी मेरी न जाने कौन-सी अधम गति होगी ?' सात्विकी मुनिराज को इस प्रकार विषाद करते हुए देखकर गुरु ने कहा--'हे वत्स ! रक्षा का एक उपाय भी है । मेरी सम्मति है कि जिस स्थान पर ब्राह्मण-पुत्रों से शास्त्रार्थ हुआ है, तुम रात्रि को वहाँ पहुँचकर उस स्थान के रक्षक क्षेत्रपाल की आराधना कर, दो कदम भूमि माप लेना । तुम वहीं ध्यानस्थ हो मृत्यु पर्यन्त सन्यास की प्रतिज्ञा कर आत्म-चिन्तन में लीन हो जाना । ब्राह्मण-पुत्र आते ही तुम पर क्रोधित होंगे एवं तुम्हारे वध करने के निमित्त से खड्ग का वार करेंगे । किन्तु उस समय क्षेत्र का रक्षक देव अपनी शक्ति से उन्हें क्रिया रहित कर देगा । वे हिलने-डुलने भी नहीं पायेंगे।

इस प्रकार मुनिसंघ की रक्षा हो सकती हैं ।' आचार्यश्री के वचनों को सुनकर सात्विकी मुनि को बड़ी प्रसन्नता हुई । उन्होंने गुरु के चरणों में बारम्बार नमस्कार किया एवं उनसे क्षमा-याचना की । साथ ही समस्त मुनिसंघ से प्रार्थना करते हुए सात्विकी मुनि ने कहा--'यदि यह रात्रि कुशलता पूर्वक व्यतीत हुई, तो मैं प्रातःकाल ही आप सबके दर्शन के लिए आऊँगा ।' इतना कहकर वे धीरजधारी मुनिराज निशंक अपने गंतव्य की ओर चल पड़े ।

अपने गुरु आचार्यश्री नन्दिवर्द्धन की आज्ञानुसार वे बड़ी शीघ्रता के साथ उस स्थान पर जा पहुँचे, जहाँ ब्राह्मण-पुत्रों से वाद-विवाद हुआ था संध्या का समय होने के कारण सर्वप्रथम मुनिराज ने सामायिक की, इसके पश्चात् उन्होंने क्षेत्रपाल की आराधना कर, दो कदम भूमि माप ली । वे बड़ी सावधानीपूर्वक संन्यास धारण कर बैठ गये । जिस समय इन्द्रियों का दमन करनेवाले तथा समता के धारक वे योगीश्वर सात्विकी मुनि ध्यानमग्न थे, उसी समय दुष्टात्मा ब्राह्मण-पुत्र अग्निभूति एव वायूभूति हाथों में दुधारे खड्ग लिए आ पहुँचे । जब उनकी दृष्टि मुनिराज पर पड़ी, तब उन्हें ध्यानमग्न देखकर उनका चित्त प्रफुल्लित हो गया । वे सोचने लगे--'अब तो बिना परिश्रम के ही हमारा कार्य सिद्ध हो गया, क्योंकि हमारा मान-भंग करने वाला शत्रु अनायास ही मिल गया ।' वे मुनिराज के समीप पहुँचकर कहने लगे--'रे दुष्ट पापात्मा ! विद्वानों की सभा में वाद-विवाद कर तू ने बड़ा अन्याय किया है । तू हमारे मान को भंग करने वाला है । अपने अपराध का स्मरण कर एवं उसका दण्ड भोग ।' अग्निभूति ने अपने अनुज वायुभूति से कहा--'हे भ्राता ! क्या देख रहे हो । शीघ्रता से खड्ग प्रहार द्वारा इसके प्राण ले लो, तभी हमारी व्यथा शान्त होगी ।' उत्तर में वायुभूति ने कहा--'हे भ्राता ! मेरी एक विनती सुनो । यह मुनि ध्यान-मग्न है, अतः इस समय प्रहार करने से मुनिघात का वज्रपाप हमें लगेगा । 'ज्येष्ठ भ्राता ने कहा--'मैं भी प्रथम प्रहार नहीं कर सकूँगा । मुझे भी वज्रपाप का भागी बनना पड़ेगा ।' इस प्रकार दोनों भ्राताओं में कुछ समय तक शास्त्र के अनुसार वाद-विवाद होता रहा । सत्य ही है--'मूर्ख मित्र की अपेक्षा विद्वान शत्रु भी उत्तम होता है ।' अन्त में दोनों क्रोधी ब्राह्मण-पुत्रों ने विचार किया कि हम दोनों एक साथ ही मुनि पर खड्ग-प्रहार करें । इस विचार से वे आगे बढ़े एवं मुनि के दोनों ओर खड़े हो गये । दोनों दुष्टात्माओं ने अपने नेत्र रक्तवर्णी कर भौहे वक्र कर लीं । उन्होने यमदूतों के रूप मे मुनि का वध करने के लिए खड्ग उठाये ।

किन्तु उस समय एक यक्षपति आकाश में क्रीड़ा करता हुआ जा रहा था । ब्राह्मण-पुत्रों का मुनिराज की हत्या के लिए प्रस्तुत देखकर उसका हृदय करुणार्द्र हो गया । उसने सोचा--'मुनिराज तो ध्यान-मग्न हैं, उन्होंने कोई अपराध नहीं किया । किन्तु ये दुष्ट नीच उनका वध करने के लिए क्यों प्रस्तुत हैं । जिस योगीश्वर की दृष्टि में शत्रु-मित्र समान हैं, जो प्राणीमात्र के हितचिन्तक हैं, वे क्यों इन पापियों के द्वारा निहत हों ? यदि मैं ऐसे महामुनि की रक्षा न कर सकूँ, तो मेरा क्षेत्रपाल होना ही व्यर्थ है । अभी मैं इन पापियों को खण्ड-खण्ड कर डालता हूँ ।' यह विचार कर यक्षराज उनके निकट आ गया । किन्तु समीप पहुँचते ही उसके हृदय में एक अन्य विचार उत्पन्न हुआ कि इस समय तो इनका वध करना उचित नहीं होगा, कारण कि इन्हें मृत अवस्था में देख कर जनसाधारण को संशय होगा कि मुनि ने ही इनका वध किया है । इससे संसार में मुनि की अपकीर्ति फैलेगी । दिगम्बर जैन मुनियों का अपयश न हो, इस विचार से उसने ब्राह्मण-पुत्रों का वध करना उचित न समझा । यक्षराज ने ब्राह्मण-पुत्रों को उनके राजा एवं अन्यान्य मनुष्यों के सामने प्राणदण्ड देने का निश्चय कर लिया, जिससे उनकी दुष्टता सारे संसार में प्रकट हो जाय । इसलिये यक्षराज उन दोनों भ्राताओं को कीलित कर अपने स्थान के लिए प्रस्थान कर गया ।

दूसरे दिन सूर्योदय के उपरान्त जब ग्राम-निवासी एवं श्रावक मुनि दर्शन के निमित्त आये, तो उन्होंने देखा कि दो मनुष्य अपने-अपने हाथ में दुधारे खड्ग लिए खड़े हैं, किन्तु क्षेत्रपाल ने उन्हें कील दिया है, जिससे वे हिल-डुल भी नहीं सकते थे । यह समाचार चारों ओर फैल गया । इस आश्चर्यजनक घटना को देखने के लिए सारे ग्रामवासी दौड़े आये । जब लोगों ने ब्राह्मण-पुत्रों को इस नीच-कर्म में प्रवृत्त हुए देखा, तो उनकी बड़ी निन्दा की--'अरे दुष्ट पापियों ! तुमने भला यह क्या किया ? कल तो शास्त्रार्थ में परास्त हो गये थे, तब तुम्हारे मुखमण्डल निस्तेज हो गये थे । जब तुमने कुछ न बन पड़ा, तो प्राण लेने पर उद्यत हो । धिक्कार है, तुम्हारे जीवन पर ।'

नगर के चतुर्दिक यह चर्चा फैल गयी । जब राजा के कानों तक यह घटना पहुँची, तो उसे जिज्ञासा हुई कि वस्तुस्थिति क्या है ? क्या ऐसा भी हो सकता है ? तब किसी व्यक्ति ने निवेदन किया कि हे राजन्! कल उपवन में सोमशर्मा विप्र के पुत्रों ने मुनि ने शास्त्रार्थ किया था । समग्र विद्वत्मण्डली के सामने वे परास्त हुए थे । उनका जो मान-मर्दन हुआ, उसी का प्रतिशोध लेने के लिए वे वहाँ गये थे एवं मुनि का

वध कर स्वयं को सन्तोष देना चाहते थे । पर खड्ग उठाने के साथ ही यक्षराज ने उन्हें कील दिया है । राजा को भी महान् आश्चर्य हुआ । वे स्वजनों को लेकर उपवन में जा पहुँचे । वे दुष्ट उसी अवस्था में खड़े थे । लोग उन्हें भिन्न-भिन्न प्रकार के निन्दा-सूचक वाक्य कहकर दुत्कार रहे--'इन दुष्टों को क्या सूझी ? जो प्राणीमात्र के हितैषी, धर्म के आधार, जिनेन्द्र द्वारा प्रतिपादित सत्य धर्म के स्तम्भ, दयामूर्ति मुनिराज का वध करने पर उद्यत हैं । इन्हें शतशः बार धिक्कार है ।'

कुछ मनुष्यों ने सोमशर्मा के घर जाकर कहा कि तनिक उपवन में जाकर अपने पुत्रों की दुर्दशा तो देखो । उन्होंने कैसा घोर अन्याय करने का विचार किया है । शायद तुमने भी उनके जगनिन्द्य कर्म की बात सुन ली हो । उनका धिक्कार सुनकर वे आश्चर्य-से पूछने लगे कि बतलाओ तो भला, हमारे पुत्रों ने आखिर किया क्या है ? तब लोगों ने बतलाया कि अपने पुत्रों की काली करतूत सुन लो । वे दोनों दुष्ट उपवन में जाकर मुनिराज पर खड्ग प्रहार कर रहे थे कि यक्षराज ने उन्हें ज्यों-का-त्यों कील दिया है । वे उसी अवस्था में खड़े हैं । इतना सुनते ही माता-पिता घबराये एवं तत्काल ही उपवन में गये । वहाँ पुत्रों की दुरवस्था देख कर सोमशर्मा एवं अग्निला का चित्त बड़ा दुःखी हुआ । उनके नेत्रों से अविरल अश्रु-धारा प्रवाहित हो चली । वे कहने लगे--'हाय पुत्रों ! तुम किस दुरवस्था में पड़े हो ।' सात्विकी मुनिराज के चरण-कमलों में गिरकर उन्होंने प्रार्थना की--'हे स्वामी ! आप समस्त जीवों पर दया करते हो, हमारे पुत्रों को भी जीवन-दान दो । यही हम अनुग्रह-याचना करते हैं । साधु वही है, जो दुष्ट को क्षमा कर दे ।' जिस समय ये दोनों रुदन कर रहे थे, उसी समय मुनिराज का ध्यान भग हुआ । उन्होने नेत्र खोल कर देखा कि द्विज-पुत्र कीलित अवस्था में काष्ठ की तरह खड़े हैं । मुनिराज को लेशमात्र भी रोष न हुआ कि ये उनका वध करने के लिए खड़े थे, वरन् उन्होंने करुणा-भाव से कहा--'किस दयालु यक्षराज ने यह चमत्कार किया है ? वह अपने स्वरूप का प्रकाश करे एवं कृपापूर्वक द्विज-पुत्रों मुक्त कर दे ।'

सात्विकी मुनिराज के पुण्योदय से उनकी इच्छानुसार उसी समय यक्षराज हाथ में दण्ड लिए हुए प्रकट हुआ । उसने मुनि को प्रणाम कर कहा--'हे मुनिराज ! आप किंचित् भी चिन्ता न करे, आपका कथन भी यथार्थ है । किन्तु मैं निष्प्रयोजन तो वध नहीं करता । कल रात्रि में जब ये दुष्ट ब्राह्मण आपकी हत्या

करने के उद्देश्य से खड्ग प्रहार करने वाले थे, तब मेरा विचार हुआ कि मैं इन्हें प्राणदण्ड दूँ। किंतु आपके लोकापवाद के भय से मैंने इनके प्राण न लेकर इन्हें कील दिया, ताकि लोग इनकी दुष्टता प्रत्यक्ष देख लें। हे नाथ ! अब मैं सबके समक्ष इन अभिमानी ब्राह्मणों को नष्ट कर दूँगा।' इतना कहकर यक्षराज दण्ड लेकर सर्वप्रथम तो नगर के राजा पर ही प्रहार के लिए झपटा। उसने राजा को प्रताड़ित करते हुए कहा--'अरे दुष्ट राजा ! क्या तेरे राज्य में ऐसे ही वधिक ब्राह्मण बसते हैं, जिनके हृदय में लेशमात्र भी करुणा का स्थान नहीं, जो मुनीश्वरों का वध करने में रंचमात्र भी नहीं हिचकते ?' उस समय राजा अत्यन्त भयभीत हुआ। उसने यक्षराज से प्रार्थना की कि उसे इसकी रंचमात्र भी सूचना नहीं थी कि ये दुष्ट मुनि के प्राण लेने को प्रयत्नशील हैं। यदि उसे पूर्वाभास होता एवं उन्हें नहीं रोकता, तो वह अवश्य अपराधी था। मुनिराज ने यक्षराज से कहा--'जब राजा को सूचना नहीं थी, तो उसका कोई अपराध नहीं है।' मुनि की उक्ति सुनकर यक्ष ने राजा को मुक्त कर दिया। पर वह कुपित तो था ही, अतः दण्ड लेकर द्विज-पुत्रों की ओर अग्रसर हुआ। उस समय मुनि ने यक्षेन्द्र को निषेध करते हुए कहा--'तुम मेरे लिए उन्हें भी क्षमा कर दो। उपसर्ग सहन करना मुनियों का स्वभाव होता है। जिनेन्द्रदेव ने यति-धर्म का वर्णन किया है कि उपसर्ग पर विजय ही तप है। उपसर्ग सहन करने से कामरूपी शत्रु नष्ट हो जाता है।'

मुनिराज का उपदेश सुनकर यक्षराज ने प्रार्थना की--'हे दयासिन्धु ! आप इन अपराधियों को दण्ड देने से मुझे वंचित न करें। आप अपना धर्म-ध्यान कीजिये। इस ओर आपका ध्यान देना उचित नहीं। मैं इन दुराचारियों को शीघ्र यमराज के यहाँ पठा देता हूँ।' जब मुनिराज देखा कि यक्ष की क्रोधाग्नि से द्विज-पुत्रों की रक्षा होना कठिन है, तब उन्होंने कहा--'हे यक्षराज ! इन्हें प्राण-दान देने का एक विशेष कारण है। ये दोनों बाईसवें तीर्थंकर श्री नेमिनाथ स्वामी के वंश में श्रीकृष्णनारायण के पुत्र होंगे एवं उसी भव से कर्मो का क्षय कर मोक्ष प्राप्त करेंगे। अतएव इनका वध कर देना कदापि वांछनीय नहीं।' मुनि की उक्ति से यक्षेन्द्र बड़ा प्रभावित हुआ। उसने अपने संकल्प का परित्याग कर मुनिराज को नमस्कार किया एवं राजा तथा समग्र मनुष्यों के सामने द्विज-पुत्रों को कीलित अवस्था से मुक्त कर दिया। तत्पश्चात् जैन धर्म की प्रभावना कर यक्षराज वहाँ से प्रस्थान कर गया। यह अपूर्व चमत्कार देखकर राजा एवं प्रजा को जैनधर्म पर दृढ़ आस्था उत्पन्न हुई। वे बड़े ही प्रसन्न हुए। सत्य ही है, धर्म की प्रभावना देखकर किसे

प्रसन्नता नही होती अर्थात् सबको होती है ।
बन्धन-मुक्त होने पर अग्निभूति एवं वायुभूति (द्विज-पुत्रों) ने श्रद्धापूर्वक मुनिराज को नमस्कार
किया । उन्होंने प्रार्थना की--'हे कृपा सिन्धु ! हमने घोर अन्याय किया है । आप हमें क्षमा करें ।' उत्तर
में मुनिराज ने कहा--'मैं तो पहिले ही क्षमा कर चुका हूँ । मेरी तो जीवमात्र से उत्तम क्षमा है, अब मैं
कौन-सी नवीन क्षमा धारण करूँ ? जीव को अपने कर्मानुसार दुःख सुख भोगना पड़ता है । जिसने किसी
को पूर्व-जन्म में दुःख दिया होगा, उसे इस जन्म में वह दुःख देता है । यदि उपकार किया होगा, तो
ऋण-शोधन में वह उपकार करेगा । पूर्व-भव के कर्म-उपार्जन ही दुःख-सुख, लाभ-हानि, जय-पराजय
में कारणभूत होते हैं । तुम लोग इसकी रंचमात्र भी चिन्ता न करो ।' मुनिराज के वचनों से दोनों द्विज-पुत्रों
को वैराग्य उत्पन्न हुआ । वे इन्हें बारम्बार नमस्कार कर कहने लगे --' हे दया के सागर ! हमारी एक
प्रार्थना है । आप धर्मरूपी गृह के सुदृढ़ स्तम्भ हैं । आपकी काया धर्म का साधन एवं आत्म-कल्याण का
साधन है । हमने अपनी दुर्बुद्धि से आपकी पूज्य काया को ही विनष्ट करने का निश्चय किया था । इसमें
संशय नहीं कि हमें वज्र-पाप का बन्ध हुआ होगा । अतएव कृपा कर हमें ऐसा व्रत-जप-तप बतलाइये,
जिसके पालन से हमारे इस कर्म-बन्धन में शिथिलता आ जाये ।'

मुनिराज ने उत्तर देते हुए कहा--'हे द्विज-पुत्रों ! मैं तुम्हारे लिए धर्मरूपी महावृक्ष के बीज रूप एवं
पापरूपी वृक्ष को काटने में जो कुठार सदृश तीक्ष्ण हैं, ऐसे व्रतादि का वर्णन करता हूँ । रत्नत्रय धर्म में
सर्वप्रथम सम्यक्दर्शन आता है । यह पच्चीस दोषों से रहित, निःशंकित, निःकांक्षित आदि अष्ट अंगों
सहित है । अणुव्रत पाँच प्रकार के हैं--अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं परिग्रह-परिमाण । शिक्षा-व्रत
चार प्रकार का है--देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास एवं वैयावृत्य । गुणव्रत तीन प्रकार के कहे
गये हैं--दिग्व्रत, अनर्थदण्ड एवं भोगोपभोप-परिमाणव्रत । इस प्रकार गृहस्थ श्रावकों के लिए सागार-
धर्म द्वादश प्रकार के होते हैं । इनके अतिरिक्त रात्रि-भोजन एवं दिवस-मैथुन का त्याग करना चाहिए ।
षट् कर्म--देव-पूजा, गुरु उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप एवं दान भी नित्य प्रति करना चाहिये । तीन
मकार--मद्य, माँस एव मधु का त्याग भी करना चाहिये । कन्द-मूलादि का आहार करना अत्यन्त निन्द्य
है । पुष्प तथा अन्य वस्तुएँ जिनका जैन शास्त्रों में निषेध है, जैसे--घुने धान्य एवं पुष्पित वस्तुओं का सर्वथा

त्याग कर देना चाहिये । परोपकार में सदा प्रवृत्ति हो एवं पर-निन्दारूपी पातक से बचना चाहिये । इस प्रकार जिनेन्द्रदेव ने उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन एवं ब्रह्मचर्य--ये दश धर्मो का वर्णन किया है, जो सत्पुरुषों को संसार समुद्र से पार कर देते हैं । अतः हे द्विज-पुत्रों ! पाप-नाशक-धर्म का संचय करो । यही सार वस्तु है ।'

मुनिराज द्वारा धर्म का स्वरूप सुनकर अग्निभूति एवं वायुभूति दोनों द्विज-पुत्रों ने अपने माता-पिता के साथ गृहस्थ-धर्म स्वीकार कर लिया । उन्हें जिन-भाषित सम्यक्त्व प्राप्त कर अतीव हर्ष हुआ । यह ठीक ही है, धर्मरूपी रत्न प्राप्त कर किसे प्रसन्नता नहीं होगी ? अमृत-पान से सबको सन्तोष होता है । उस समय द्विज-पुत्रो की कुछ लोग प्रशंसा करने लगे एवं कुछ लोग उनके पूर्वाचरण की निन्दा । वे मुनिराज को नमस्कार कर निज गृहस्थान को लौट गये । जिनेन्द्र भगवान के चरणों में तथा जिन-धर्म में लीन हो वे सुख से रहने लगे । जिन चैत्यालयों में आयोजित धर्मोत्सवों एवं गुरु-वन्दना में दोनों द्विज-पुत्रों को अग्रगण्य स्थान प्राप्त हुआ । किन्तु उनके माता-पिता मिथ्यात्व परिणति के प्रभाव से जैन-धर्म से उदासीन हो गये ।

एक दिन उन्होंने पुत्रों को बुलाकर कहा--'हे पुत्रों ! वेद मार्ग के विपरीत जैन-धर्म का पालन करना अनुचित है । उस समय तो ऐसा अवसर ही आ गया था कि अनिच्छा होते हुए भी जैन-धर्म ग्रहण करना पडा था । किन्तु अब तो कार्य सिद्ध हो गया है । अतः जैन-धर्म के पालन की अब आवश्यकता नहीं रही, क्योंकि उससे नीच गति ही प्राप्त होगी ।' किन्तु अग्निभूति एवं वायुभूति पर उनके परामर्श का कुछ भी प्रभाव न पड़ा । वे समझ गये कि मिथ्यात्व की ओर इनकी प्रवृत्ति है, फिर भी कुछ समय तक द्विज-पुत्रों का चित्त बेचैन रहा । वे सोचने लगे कि क्या किया जाय, हमारे माता-पिता की प्रवृत्ति मिथ्यात्व की ओर लगी हे, पर उन्होने स्वयं सन्तोष धारण कर गृहस्थों के द्वादश व्रत एवं सम्यक्त्व का पालन किया । मुनि, अर्जिका, श्रावक, श्राविका रूप--चार प्रकार के संघ को नवधा-भक्ति से दान दिया । दोनों अष्ट-द्रव्य से जिनेन्द्रदेव की पूजा की एवं अन्त मे समधि-मरण के प्रभाव से स्वर्गलोक को गये ।

स्वर्ग में सदा देवांगनाओं के नृत्य होते रहते हैं । द्विज-पुत्रों के जीव स्वर्ग में उपपाद शैय्या पर उत्पन्न हुए । वहाँ नृत्य, गीतादि सुनकर दोनों चकित हुए । ये विचार करने लगे कि वे लोग कहाॅ आ गये हैं ?

वहाँ का जयजयकारपूर्ण शब्द सुनकर उनकी उत्सुकता बढ गयी, पर रहस्य समझ में न आया । तत्पश्चात् अवधिज्ञान से उन्हें ज्ञात हो गया कि वे सौधर्म नामक प्रथम स्वर्ग में इन्द्र तथा उपेन्द्र हुए हैं । यह जिन-धर्म का पालन एवं पुण्य का माहात्म्य है । यही कारण है कि यहाँ उन्हें शैय्या, विमानादि तथा अन्य प्रकार के भोगोपभोग की सामग्रियाँ प्राप्त हुई हैं । भाग्यहीनों के लिए यह स्वप्न में भी सम्भव नहीं । ऐसा विचार कर उन्होंने देवगति में भी प्रसन्नचित्त से जैन-धर्म की शरण ली एवं सम्यक्दर्शन धारण किया । अपने पूर्व-जन्म कृत कर्मों का स्मरण कर उनकी जिन-धर्म पर अगाध श्रद्धा हुई । द्विज-पुत्रों ने पाँच पल्य पर्यंत ऐसे आल्हादकारी सुख भोगे, जिनकी कोई उपमा नहीं दी जा सकती । धर्म के प्रभाव से ही प्राणी को मनोवाँछित पदार्थ, सुन्दरता, गम्भीर बुद्धि, वाकपटुता, चातुर्य, चित्त की निर्मलता, धन-धान्यादिक, तीनों लोक की श्रेष्ठतम वस्तुएँ एवं निर्मल यश भी सरलता से प्राप्त हो जाता है । पूर्व-जन्म के संचित पुण्य के प्रभाव को समझ कर सत्पुरुषों को चाहिए कि वे श्रद्धापूर्वक धर्मरूपी अक्षय-धन के संचय में संलग्न हों ।

सप्तम सर्ग

भरतक्षेत्र में स्वर्ग सदृश रमणीक कोशल नाम का एक देश है । स्वर्ग एवं कोशल में समानता इसलिये है कि स्वर्ग में अप्सरायें हैं एवं कोशल में स्वच्छ जल के सरोवर हैं । यहाँ के उद्यानों में चम्पक, अशोक, युनाग, नारिंग आदि के भिन्न-भिन्न वृक्ष लगे हैं, जिन पर तरह-तरह के सुगन्धित पुष्प शोभा दे रहे हैं । यहाँ की निर्मल जल से पूर्ण बावड़ियाँ, उनकी सुवर्ण-जडित सीढ़ियाँ एवं उनमें खिले हुए कमल एक नूतन स्वर्ग का ही आभास देते हैं । सरोवरों में हंस एवं सारस पक्षियों के कलरव को देखकर मानसरोवर का-सा आभास होता है । यहाँ की गम्भीर नदियों में तरंगें ऐसी शोभा देती हैं, मानो निर्मल बुद्धि हो । स्वच्छ जल के विशाल सरोवर नगर के चतुर्दिक है । भूमि इतनी उर्वरा है कि गन्ने की सघन खेती हो रही है । यहाँ पर जगह-जगह दानशालायें बनी हैं । यहाँ के ग्राम परस्पर इतने निकट हैं कि एक गाँव का कुक्कुट उड़कर सरलता से अन्य ग्राम में पहुँच जाता है । सम्पत्ति का अभाव तथा शत्रुओं के उपद्रव यहाँ कभी नहीं होते । न तो दुर्भिक्ष की आशंका कभी होती है एवं न चोरी आदि के उपद्रव होते हैं । आतंक एवं आधि

व्याधि की कभी भी सम्भावना नहीं रहती । किसी का तिरस्कार तो होता ही नहीं । कोशल देश के निवासी वैभवशाली, धार्मिक, न्यायी एवं गुणज्ञ होते हैं ।

ऐसे कोशल देश में स्वर्ग सदृश रमणीक अयोध्या नाम की एक नगरी है । वह देव-पूजादि कर्मों से त्रिभुवन में प्रख्यात हो चुकी है । श्रीनाभिराज के पुत्र ऋषभनाथ स्वामी (प्रथम तीर्थंकर) के जन्मोत्सव के अवसर पर कुबेर ने स्वयं इस नगरी का निर्माण किया था । इस नगरी के चतुर्दिक सुदृढ़ दुर्ग निर्मित होने से शत्रु इसमें प्रवेश नहीं कर सकता । नगरी के इस छोर से उस छोर तक पुण्यात्माओं का ही निवास है अर्थात् पापात्मा तो वहाँ रहते ही नहीं । वहॉ के निवासी शोभा में चन्द्रमा से भी अपूर्व हैं--विशेषता यह है कि चन्द्रमा गोल है, जब कि वहॉ के मनुष्य निष्कलंक एवं निर्दोष हैं । चन्द्रमा सोलह कलाओं से युक्त है, जब कि लोग बहत्तर कलाओं से परिपूर्ण हैं । कृष्ण पक्ष में चन्द्रमा न्यून होता जाता है, जब कि वहॉ के मनुष्यों के गुण सदा बढ़ते रहते हैं । चन्द्रमा निशाचर होता है, किन्तु मनुष्य अवगुणी नहीं होते । प्रत्येक घर में गीत, नृत्य-कला, केलि, लीला, कटाक्ष, विक्षेपादि से युक्त रूपवती स्त्रियॉ थीं । वहॉ की विवेकी प्रजा सदा षट् कर्मों का पालन करती थी एवं त्यागी, शूरवीर, जिन-धर्म परायण धर्मात्मा वहाँ विपुल संख्या में विद्यमान हैं । इस पुनीत अयोध्यापुरी में तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि महापुरुष जन्म लेते हैं । जहॉ देवों द्वारा जन्म-कल्याणादि महोत्सव सम्पन्न होते हैं, वहॉ की शोभा का वर्णन कहॉ तक किया जाय ?

किसी समय इस अयोध्या नगरी में अरिञ्चय नामक एक राजा राज्य करता था । उसका अरिञ्चय नाम इसलिये सार्थक था कि वह शत्रु विजयी एवं परोपकारी था । उसके यहॉ रथ, गजराज, अश्व आदि की संख्या इतनी अधिक थी कि उनकी गणना नहीं की जा सकती थी । राज्य के कर्मचारी कुलीन एवं राजभक्त थे, उन्हें देखकर शत्रुओं का दल कॉप उठता था । राजा उत्तम लक्षणों से सम्पन्न, कुबेर के समान वैभवशाली एवं प्रजापालक था । अरिञ्जय के दान देने की क्षमता देखकर कल्पवृक्ष भी लज्जित होते थे । कामदेव के सदृश सुन्दर देहयष्टि इस राजा ने दीर्घ काल तक इस पृथ्वी पर राज्य किया । उसकी रानी प्रियंवदा अनिन्द्य सुन्दरी एवं गुणवती थी । उसे राजा इतना प्यार करते थे, जितना इन्द्राणी को इन्द्र एवं रोहिणी को चंद्रमा । रानी धर्मात्मा, पतिव्रता एवं सर्वगुण-सम्पन्न थी ।

उक्त नगरी में ही समुद्रगुप्त नाम का एक सेठ रहता था । वह पुण्यात्मा, श्रावकोत्तम, निर्दोष वंश में

उत्पन्न, शंकाकांक्षादि पच्चीस दोषों से वर्जित रत्नत्रय (सम्यकदर्शन, सम्यकज्ञान, सम्यक्चारित्र) से मण्डित था। उसकी षट्-कर्म पालन तथा जिनेन्द्र-पूजा में इन्द्र के समान अचल भक्ति थी ; वह त्रेपन क्रिया एवं क्षमा, मार्दव आर्जव दश धर्मों का धारक था। देशव्रत पालन करते हुए उत्तम, मध्यम, जघन्य पात्रों को वह नवधा-भक्ति से दान दिया करता था। इसके अतिरिक्त गृहस्थ कर्म में उसकी पवित्रता स्पर्धा की विषय-वस्तु थी। वह देव-शास्त्र-गुरु का उपासक एवं दयालु था। उसकी पत्नी धारिणी भी सर्वगुण-सम्पन्ना थी। उत्तम कुल में उत्पन्न होने के कारण वह सुन्दरी एवं पतिव्रता थी। सेठ ने अपनी पत्नी के साथ विहार करते हुए दीर्घ काल व्यतीत कर लिया, तब उन्हें पुत्र की कामना हुई। पुण्य के प्रभाव से स्वर्ग के इन्द्र तथा उपेन्द्र (पूर्व-जन्म के अग्निभूति एवं वायुभूति) के जीवों ने उनके यहाँ जन्म धारण किया। युगल पुत्र उत्पन्न होने की खुशी में समुद्रगुप्त के यहाँ महान उत्सव का आयोजन हुआ। याचकों को मनवाँछित दान दिया गया, जिन-मन्दिरों में पूजा का विधान हुआ तथा नगर में राजा से अभयदान दिलवाया। अपनी शक्ति के अनुसार उसने बन्धन में पड़े हुए पशु, पक्षी, मनुष्यादि को मुक्त करवा दिया। इस प्रकार निरन्तर ६ दिवस पर्यन्त उत्सव सम्पन्न हुए। समग्र कुटुम्बी तथा मित्र एवं पुरजन आमंत्रित कर बुलाये गये एवं पुत्रों का नामकरण किया गया। जिस पुत्र का पहिले जन्म हुआ था, उसका नाम मणिभद्र तथा दूसरे का नाम गुणभद्र रक्खा गया। वे दोनों ही भ्राता चन्द्रकला की भाँति बुद्धिमान हुए। जब पुत्रो की अवस्था पाँच वर्ष की हुई, तो सेठ समुद्रगुप्त ने उन्हें जिन-मन्दिर में ले जाकर विधिपूर्वक देव-गुरु एवं शास्त्र की उनसे पूजा करवायी। तब वे जैन उपाध्याय के यहाँ विद्याभ्यास के लिए भेज दिये गये। पुण्य के प्रभाव से दोनों ने अल्पकाल में ही विद्याभ्यास पूर्ण कर लिया। वे शास्त्र, पुराण, सिद्धान्त ग्रन्थ आदि का अध्ययन कर प्रवीण हो गये। जब उनकी योग्य युवावस्था हुई, तब माता-पिता ने वैभव-सम्पन्न तथा उत्तम कुल की योग्य कन्याओं से उनके विवाह कर दिये। इस प्रकार धर्म, अर्थ, काम--इन तीनों पुरुषार्थों को प्राप्त कर समुद्रगुप्त के दोनों पुत्र अपना समय व्यतीत करने लगे।

एक बार अयोध्या के निकटवर्ती उद्यान में महेन्द्रसूरि मुनिराज का आगमन हुआ। वे सर्वथा निर्दोष, मति-श्रुति-अवधि तीनों ज्ञान के धारण करने वाले थे एवं विभिन्न कलाओं मे कुशल थे। उनके साथ अन्य अनेक मुनियों का संघ भी था। मुनिराज के शुभ आगमन के प्रभाव से उद्यान पुष्प एवं फलों से सुशोभित

श्री प्रद्युम्न चरित्र

हो गया--उसकी शोभा अपूर्व हो गयी । वृक्षों में षट् ऋतु का आभास होने लगा, मानो मुनिराज के समागम से उत्फुल्ल होकर वे तत्काल प्रकट हो गये । गाय का बछड़ा एवं व्याघ्र का शावक, बिल्ली एवं हंस के शिशु, मृग एवं सिंह के शावक, मोर एवं सर्प के शिशु अपना-अपना बैर-भाव विस्मृत कर क्रीड़ा करने लगे । तत्पश्चात् उपवन का रक्षक माली आया । उसे वृक्षों को ऋतु का उलंघन कर फूलते-फलते देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ । उसने सोचा कि ऋतु का यह अस्वाभाविक परिवर्तन अवश्य ही अशुभ-सूचक है । इसकी गवेषणा के लिए वह उपवन में चतुर्दिक भ्रमण करने लगा । जब उसकी दृष्टि मुनिराज पर पड़ी, तो उनके आनन्द का पारावार न रहा । उसे निश्चय हो गया कि यह इन परम तपस्वी सन्त का ही अतुलनीय प्रताप है, जिससे उद्यान की अपूर्व शोभा हो गयी है ।

तब मुनिराज के आगमन का शुभ सम्वाद देने के लिए वह माली सभी ऋतुओं के फल-पुष्प लेकर राजा अरिञ्जय के महल की ओर बढ़ा । राजमहल में जाकर उसने दूर से ही राजा को नमस्कार किया । फिर द्वारपाल की आज्ञा से उसने फल-पुष्पादि महाराज की सेवा में भेंट किये । उसने नम्रतापूर्वक कहा--'हे राजन् ! मत्त कोयलों की ध्वनि से गुंजित आप के उद्यान में एक परम तपस्वी मुनिराज का शुभागमन हुआ है । उनके आगमन से वृक्षों में अद्‌भुत परिवर्तन आ गया है । ऋतु के विपरीत समग्र वृक्ष पुष्पित हो गये हैं । ऐसे प्रभावशाली मुनिराज की कृपा से आप चिरकाल तक शासक पद पर आसीन रहें एवं दीर्घजीवी हों ।' यह शुभ सम्वाद सुनते ही राजा को बड़ी प्रसन्नता हुई । अपने सिंहासन से उठकर उन्होंने सप्त पग प्रमाण अग्रसर होकर उस दिशा की ओर परोक्ष रूप से प्रणाम किया, जिस ओर मुनिराज विराजमान थे । पुनः माली को पंचाग प्रसाद (पाँचों कपड़े) तथा षोडश आभरण पुरस्कार में दिये । प्रसन्नता के साथ माली ने वहाँ से वन की ओर प्रस्थान किया । तत्पश्चात् राजा ने आनन्द-भेरी बजवा कर नगर में यह सूचना प्रसारित करवा दी । सारे नगर में उत्साह का संचार हो गया । सब लोग प्रसन्नता के साथ पूजा की सामग्री लेकर राजा के द्वार पर आ गये । उनके हृदय जिन-भक्ति एवं मुनि वन्दना के लिए उत्सुक हो रहे थे । नगरवासियों के एकत्रित हो जाने पर राजा अरिञ्जय ने अपने कुटुम्बियों के संग गजराज पर आरूढ़ होकर मुनिराज की वन्दना के लिए प्रस्थान किया । धर्म-परायण प्रजाजन भी उनके संग-संग चलने लगे । जब वे सब उद्यान के निकट पहुँचे, तब गजराज से उतर कर राजा ने सारे राज्य-वैभव के

श्री प्रद्युम्न चरित्र

सूचक अलंकारादि अपनी देह से त्याग दिये । उन्होंने मुनिराज के निकट जाकर भक्तिपूर्वक पंचाग नमस्कार किया एवं उनकी तीन प्रदक्षिणा दीं । इसके पश्चात् अन्य मुनियों को नमस्कार कर वे सामने विनीत भाव से बैठ गये ।

अन्य भव्य जीव भी नमस्कार कर यथास्थान बैठे । अवसर पाकर राजा अरिञ्जय ने हाथ जोड़कर एवं मस्तक नवाकर मुनिराज से प्रश्न किया--'हे स्वामी ! बन्ध तथा मोक्ष का स्वरूप क्या है ? किस कारण से संसारी जीवों को कर्म का बन्ध होता है तथा किस उपाय से कर्म-बन्धन को तोड़कर वे अत्यन्त दुर्लभ मोक्ष अवस्था को प्राप्त करते हैं ? कृपया इस विषय को विस्तार में समझाइये ।'

राजा के प्रश्नों का उत्तर देते हुए मुनिराज ने कहा--'हे भूपाल ! भगवान श्री जिनेन्द्र ने मिथ्यात्व अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग--ये पॉच कारण बन्ध के बतलाये हैं । मिथ्यात्व के दो भेद कहे गये हैं--प्रथम निसर्गज अर्थात् अगृहीत तथा दूसरा गृहीत मिथ्यात्व । गृहीत मिथ्यात्व के एकान्त मिथ्यात्व, विपरीत मिथ्यात्व, संशय मिथ्यात्व, विनय मिथ्यात्व तथा अज्ञान मिथ्यात्व पॉच भेद हैं--इस मिथ्यात्व कर्मयोग से आठों प्रकार के कर्म उत्पन्न होते हैं । इसलिये भगवान श्री जिनेन्द्र ने इसे बन्ध का कारण बतलाया है । हे राजन् ! मिथ्या के फलस्वरूप ही इस समय तीन सौ तिरेसठ प्रकार के मत फैले हुए हैं । षट्काय के जीवों की हिंसा का त्याग न करना, पंचेन्द्रिय को वश में करना--ये बारह प्रकार की अविरति है । कषाय में स्त्री-कथा, राज-कथा, भोजन-कथा तथा देश-कथा--ये चार विकथाएँ हैं । क्रोध, मान, माया, लोभ--ये चार कषाय तथा इन्द्रियाँ, निद्रा तथा योग--इस प्रकार पन्द्रह प्रमाद हैं । अनन्ताबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान तथा संज्वलन के भेद से क्रोध, मान, माया, लोभ रूप १६ भेद तथा नौ हास्य, रति, अरति आदि कषाय सब मिलकर २५ कषायें हैं । चार मनोयोग, चार वाग्योग, पॉच काययोग, एक आहारक काययोग तथा आहारक मिश्रयोग--कुल १५ योग हैं । ये सब बाह्य के कारण होने से बन्ध स्वरूप हैं । जीव को कर्म बन्धन से मुक्त करानेवाले सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र ही हैं तथा वे ही मोक्ष के कारण हैं । जीव, अजीव, आसव्र, बन्ध, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष--इन सप्त तत्वों पर श्रद्धान करना ही सम्यक्त्व है । बिना सम्यक्त्व के न तो किसी की मुक्ति अब तक हुई है एव न ही भविष्य में आगे होगी । शुक्ल ध्यानरूपी अग्नि से कर्मों का क्षय होता है । इसमें

विचार करना पड़ता है कि कार्य भिन्न हैं एवं आत्मा भिन्न है । कर्म जड़ हैं तथा आत्मा चैतन्य । जिनागम में सम्यक्दर्शन के दो भेद कहे गये हैं--प्रथम निसर्गज तथा दूसरा अधिगमज । निसर्गज सम्यक्त्व वह है, जो बिना गुरु आदि के स्वतः होता है तथा अधिगमज वह है, जो उपदेशादि श्रवण करने से होता है । श्रीजिनेन्द्र भगवान ने सम्यक्त्व अन्य तीन प्रकार से भी बतलाये हैं--उपशम सम्यक्त्व, क्षयोपशम सम्यक्त्व तथा क्षायिक सम्यक्त्व । इस प्रकार विवक्षा से सम्यक्त्व एक प्रकार, दो प्रकार, तीन प्रकार आदि भेद रूप वर्णन किया है । सम्यक्ज्ञानी उसे कहते हैं, जो नव पदार्थ, सप्त तत्व तथा पुण्य-पाप के स्वरूप (अन्यून, यथार्थ, अधिकता रहित, विपरीत रहित) को समझे । सम्यक्ज्ञान पाँच प्रकार के हैं--मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान तथा केवलज्ञान । मतिज्ञानावरणी के क्षयोपशम से मतिज्ञान, इस प्रकार अपने-अपने कर्म के क्षयोपशम से श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान तथा मनःपर्ययज्ञान होते हैं तथा केवलज्ञानावरणी के सर्वथा क्षय से अर्थात् चार घातिया कर्मों का नाश करने से केवलज्ञान होता है । श्री जिनेन्द्र भगवान ने सम्यक्चारित्र का वर्णन तेरह प्रकार से किया है--५ समिति, ३ गुप्ति तथा ५ महाव्रत, जिसे प्रत्येक प्राणी को ग्रहण करना चाहिये । ये सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ही मोक्ष के मार्ग हैं । तत्वार्थ की रुचि तथा प्रतीति को सम्यक्दर्शन कहते हैं । सत्पुरुषों को सदा स्मरण रखना चाहिये कि देह से चैतन्य आत्मा भिन्न पदार्थ है । जब कर्म के वश होकर आत्मा देह को प्राप्त करती है, तो उसी आकार की हो जाती है । वस्तुतः आत्मा लोकाकाश की तरह असंख्यात प्रदेशी है एवं कर्म लेप से रहित सिद्धस्वरूप है । आत्मा का इस प्रकार ध्यान करना चाहिये कि वह नित्य, विनाश रहित, वृद्धावस्था रहित, जन्म-कर्म रहित, बाधा रहित, गुण रहित अथवा गुण सहित है । जब आत्म-चिन्तन कर्म रहित भाव से होगा, तो अवश्य की कर्मों का क्षय हो जायेगा । सब कर्मों के क्षय को मोक्ष कहते हैं । हे राजन् ! तुम्हारे प्रश्न के अनुसार मैंने संक्षेप में बन्ध एवं मोक्ष के स्वरूप बतलाये हैं । इसका तात्पर्य यह है कि कर्म-बन्धन से प्रेरित होकर यह जीव नरकादि गति को प्राप्त होता है । इसे घोर दुःख सहन करने पड़ते हैं । किन्तु जब कर्म बन्धन से मुक्त होता है, तो मोक्षावस्था में विनाश, भय, जरा, जन्म, वियोग, रोग, शोकादि से वर्जित हो जाता है ।'

इस प्रकार शुद्ध शान्त स्वभाव के धारण करने वाले हितमित भाषी मुनीश्वर श्री नन्दिवर्धन महाराज ने राजा के प्रश्नो का समाधान किया, जिससे उनको बड़ी प्रसन्नता हुई । राजा अरिञ्जय ने प्रसन्न चित्त

से मुनिराज को हाथ जोड़कर पुनः निवेदन किया--'हे दयालु प्रभो ! आपके अमृतमय उपदेश से मुझे संसार के स्वरूप का स्पष्ट पता लग गया । यह संसार क्षण-भंगुर तथा सारहीन है । इसका बन्धन महा दुःखदायी है । सैकड़ों रोगों का आक्रमण होता रहता है । पंचेन्द्रिय भोग विष के तुल्य है । यौवन क्षणस्थायी एवं निस्सार है । यह सुख-दुःखमय जीवन शरद् के मेघों के समान नष्ट हो जानेवाला है । काया-सम्बन्धी भोग भी पिकाक (इन्द्रायण) फल के समान महा दुःखदायी होते हैं । लक्ष्मी-धन-सम्पत्ति गजराज के कर्णों के समान चन्चल हैं । अतएव हे महामुने ! मेरा चित्त अब संसार के भोगादि से विरक्त हो गया है । अब मैं आप के चरण-कमलों के प्रसाद से जिन-दीक्षा ग्रहण करना चाहता हूँ, जिससे संसार-सागर से पार उतरने में सक्षम हो सकूँ । आप कृपा कर मुझे जिन-दीक्षा ग्रहण कराइये, जिससे भव-भवान्तर के जन्म मृत्यु रूपी बन्धन से मुक्त होकर निराकुल अवस्था को प्राप्त होऊँ ।'

राजा अरिञ्जय की प्रार्थना सुनकर मुनिराज ने कहा--'हे वत्स ! तुम्हारा विचार बहुत ही उत्तम है । पुण्य से ही हृदय में ऐसे विचार उठते हैं । स्वर्गादिक की तो तुलना ही क्या, जिन-दीक्षा से मोक्ष तक प्राप्त हो सकता है । अतः तुम्हें दृढ़ होकर जिन-दीक्षा ग्रहण करनी चाहिये ।' मुनि का उपदेश सुन कर राजा अरिन्जय ने अपना राज्यभार पुत्र को सौंप दिया । अनेक वशवर्ती सामन्त-राजाओं के साथ उसने सर्व प्राणियों का हित करनेवाली जिन-दीक्षा ग्रहण की । मुनिराज के उपदेश तथा राजा की वैराग्य बुद्धि देखकर सेठ समुद्रगुप्त को भी वैराग्य उत्पन्न हो गया । वह अपने पुत्रों को व्यवसाय सौंपकर परिग्रह त्यागकर दीक्षित हो गया ।

इसके बाद सेठ समुद्रगुप्त के मणिभद्र एवं पूर्णभद्र नाम के दोनों पुत्रों ने उन मुनिराज को नमस्कार कर कहा--'हे महाराज ! आपने जिस जिन-दीक्षा का उपदेश दिया है, उसे ग्रहण करने के लिए हम अभी असमर्थ हैं । किन्तु कल्पवृक्ष के समान परम्परापूर्वक मोक्षदायक गृहस्थ-धर्म हमें बतलाइये ।' उनके निवेदन पर मुनिराज ने कहा--'हे श्रेष्ठी पुत्रों ! मैं संक्षेप में गृहस्थ-धर्म का वर्णन करता हूँ । सब ध्यान देकर सुनो। जो संसार सागर में पतित होनेवाले की हस्तावलम्बन देकर रक्षा कर लेता है, उसे धर्म कहते हैं । जो समस्त प्राणियों को अपनी आत्मा के समान समझता है, वही धर्मात्मा है । श्रीजिनेन्द्र भगवान के कथनानुसार धर्म के दो स्वरूप हैं--प्रथम अनागार-धर्म एवं दूसरा सागार-धर्म । अनागार-धर्म का पालन तपस्वी लोग

श्री प्र द्यु म्न च रि त्र

करते हैं एवं सागार-धर्म का गृहस्थ । अब हम गृहस्थ-धर्म का वर्णन करते है, जो सम्यग्दर्शन के साथ पॉच अणुव्रत एव सात शीलों वाला होता है । गृहस्थों को मुनि, अर्जिका, श्रावक, श्राविका रूप--चार प्रकार के संघ को आहार, औषध, शास्त्र एवं अभय दान देना चाहिये । साथ ही सम्यक्त्व-विनाशक मिथ्यात्व का सर्वथा त्याग करना चाहिये । पॉच उदम्बर एवं तीन मकार का त्याग करना श्रावकों का अनिवार्य कर्तव्य होता है । इसके अतिरिक्त किसी प्राणी की निन्दा नहीं करना चाहिये, उससे बड़ी दुर्गति होती है । विश्वासघात भी पाप का कारण होता है । प्रत्येक मास में २ चतुर्दशी एवं २ अष्टमी--इन चार पर्वों के दिन उपवास धारण करना चाहिये । निःशंका, निःकांक्षा, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य एवं प्रभावना ऐसे अष्ट अंग सहित चन्द्रमा जैसे निर्मल सम्यग्दर्शन को धारण करना चाहिये । धर्म रत्न का प्राप्त होना ठीक वैसे ही बड़ा कठिन होता है, जैसे समुद्र में गिरे हुए रत्न की प्राप्ति । मिथ्यात्व के नरक में पतित होना पड़ता है तथा सम्यक्त्व से स्वर्ग-गमन अनिवार्य है । धर्म-धारण से भॉति-भॉति के मनोज्ञ इन्द्रियजन्य सुख मिलते हैं, देवियों की सेवायें प्राप्त होती हैं, भीषण युद्ध में वह कवच के समान रक्षा करता है । दुस्तर संसार-समुद्र को पार करने के लिए धर्म-नौका है । कल्पवृक्ष, चिन्तामणि रत्न, कामधेनु जैसे समग्र पदार्थों को प्रदान करने वाला धर्म ही है । भव-भवान्तर में परिभ्रमण करने वाले पथिक-स्वरूप संसारी जीवों को मार्ग में आश्रयभूत धर्म ही पाथेय है । धर्म के प्रभाव से सत्पुरुषों को कभी कष्ट नहीं होता । वे संसार में भटकते हुए भी सभी स्थलों पर सुखी रहते हैं । धर्म में लीन व्यक्ति को ग्रह, भूत, पिशाच, शाकिनी, सर्प आदि भी किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचा सकते । यही नहीं ऐसा जीव तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण, राजा तथा चरम शरीरी (तद्‌भव मोक्षगामी) तक होता है । धर्मात्मा पुरुष को समस्त ऐहिक सुख प्राप्त होते हैं । देश-देशान्तरों की वस्तुएँ--जिनका प्राप्त होना दुष्कर है, वह भी धर्म के प्रभाव से स्वतः प्राप्त हो जाती हैं । धर्म जैसा न तो कोई मित्र होगा एवं न स्वामी । अतएव सत्पुरुषों को चाहिये कि अपना चित्त धर्म की ओर सदा प्रवृत्त करते रहें ।'

मुनीन्द्र द्वारा धर्म का स्वरूप सुनकर मणिभद्र एवं पूर्णभद्र दोनों सेठ-पुत्रों को हार्दिक प्रसन्नता हुई । उन्होंने मुनि को नमस्कार कर सम्यक्त्व धारण किया । उन्होंने गृहस्थों के द्वादश प्रकार के व्रत धारण किये। इसके पश्चात् दोनों विचक्षण भ्राता अपने घर लौट आये एवं जीव-दया का पालन करते हुए धर्मपूर्वक

श्री प्रद्युम्न चरित्र

रहने लगे । उन्होंने जिन-मन्दिर मे अष्ट-द्रव्य से पूजा-प्रभावना की तथा उत्तम पात्रों को चार प्रकार के दान दिये । इस प्रकार उन्होने पाप कर्मों से विरक्त होकर अर्थ-कामादि तीनो प्रकार के पुरुषार्थ किये । वे धर्म के प्रभाव से लीलामात्र में प्राप्त होनेवाली भोगोपभोग की सामग्रियो से आनन्दपूर्वक जीवन बिताने लगे ।

कुछ दिवसों के उपरान्त एक समय वन मे पुन. किन्हीं मुनि महाराज का आगमन हुआ । धर्म-भाव से प्रेरित होकर दोनों सेठ-पुत्र मुनि की वन्दना के लिए चले । संयोग से उन्हें रास्ते में एक चाण्डाल एवं एक कुतिया दीख पडी । उन्हें देखकर दोनों का हृदय पिघल गया एवं उनके प्रति आकस्मिक प्रीति उत्पन्न हुई । सत्य ही है, अन्तरात्मा का ज्ञान विशद होता है । उसमें स्वयं शुभाशुभ का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। सेठ के पुत्रों को देखकर चाण्डाल एवं कुतिया को भी मोह उत्पन्न हुआ । यहाॅ तक कि वे परस्पर आलिंगन की इच्छा करने लगे । तब वे चारो मुनिराज के समीप बड़ी शीघ्रता से गये । वहाॅ सेठ-पुत्रों ने प्रथम तो नम्रतापूर्वक मुनि को नमस्कार किया । इसके पश्चात् उन्होंने भक्तिपूर्वक मुनिराज से पूछा--'हे कृपासिन्धु ! यह तो बतलाइये कि उस चाण्डाल एवं कुतिया को देखकर हमें मोह क्यों उत्पन्न हुआ ?' मुनिराज ने कहा--'हे पुत्रों ! शान्त चित्त होकर सुनो । बिना कारण के कार्य की उत्पति होना कदापि सम्भव नहीं है । ये चाण्डाल तथा कुतिया पूर्व-भव में तुम्हारे माता-पिता थे । इसलिये तुम्हे इनसे स्नेह हो गया है । अन्तरात्मा के ज्ञानी होने से पूर्व-सम्बन्ध का अनुभव हो जाता है ।' मुनि की बातें सुनकर सेठ-पुत्रों ने पुनः प्रश्न किया--'हे भगवन् ! हमारा पूर्व-जन्म वृत्तान्त सुनाइये ।' उत्तर में मुनिवर कहने लगे--

'जिसे तुम अब चाण्डाल के रूप में देख रहे हो, यह पूर्व-भव में शालिग्राम नगर में सोमशर्मा नामक ब्राह्मण था एवं यह कुतिया उसकी पत्नी अग्निला थी । दोनों ही वेद-शास्त्र के ज्ञाता थे । इनका चित्त सदा हिंसात्मक आराधना में लगा रहता था । ये यज्ञ के लिए पशु-वध किया करते थे । जैन-धर्म से इनका बड़ा द्वेष था । तुम दोनों इस जन्म के पूर्व तीसरे भव मे अग्निभूति एवं वायुभूति नामक उनके पुत्र थे । एक बार संयोगवश सोमशर्मा एवं अग्निला की जैन धर्म पर श्रद्धा हो गयी थी । किन्तु अपनी जाति के अभिमान में जीवमात्र को हेय समझते हुए दोनो पापाचारियों ने कठिनता से प्राप्त हुए जैन धर्म का परित्याग कर दिया । इस पाप के कारण मृत्यु के पश्चात् दोनों का नरक में पतन हुआ । उन्हे पच पल्य पर्यन्त

छेदन-भेदन, ताड़न-पीड़न, तापन आदि विभिन्न प्रकार के दुःख सहन करने पड़े । नरक की आयु समाप्त होने पर जिन-धर्म की निन्दा एवं मिथ्यात्व के उदय से सोमशर्मा तो कौशल देश में चाण्डाल हुआ एवं अग्निला कुतिया हुई । जब तुम दोनों इनके पुत्र थे, उस समय वे तुमसे बड़ा स्नेह करते थे--इसलिये इन्हें बड़ा मोह उत्पन्न हुआ है । जिन धर्म का तिरस्कार करना कालकूट विष वृक्ष के समान है । उसमें मिथ्यात्वरूपी जल सिंचन से अशुभ फल उत्पन्न होते हैं । किन्तु तुम दोनों ने चूँकि पूर्व-भव में जिन-धर्म का पालन किया था, अतः मृत्यु के पश्चात् स्वर्गवासी हुए थे । तुम्हारे लिए वहाँ सुख की समस्त सामग्रियाँ उपलब्ध थीं । जिन धर्म के प्रभाव से तुम सेठ-पुत्र हुए हो । हे पुत्रों ! ये सब पाप-पुण्य के फल हैं, ऐसा दृढ़ विश्वास रखो ।'

मुनिराज के कथन से सेठ-पुत्रों को अपना सम्बन्ध ज्ञात हो गया । उन्होंने धर्म-स्नेह के वशीभूत होकर चाण्डाल एवं कुतिया को व्रत ग्रहण कराये । जैन धर्म ग्रहण कर लेने पर चाण्डाल ने मुनिराज से कहा--'हे स्वामिन् ! आपकी कृपा से मुझे पूर्व-भव का स्मरण हो गया है । कहाँ तो मैं उत्तम जाति का ब्राह्मण था एवं आज अधम चांडाल हूँ ! इससे मेरा चित्त चिन्ता से ग्रसित हो रहा है । अतएव मुझे रोग-शोक-भय से आकुल एवं जरा-जन्म-वेदना रहित अर्थात् इस संसार से मुक्त होने का मार्ग बतलाइये ।' मुनि ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर उसे निःशंकादि अष्टांग सहित सम्यक्त्व ग्रहण कराया एवं द्वादश प्रकार के धर्म धारण कराये । चाण्डाल एवं कुतिया ने श्रद्धापूर्वक व्रत ग्रहण किये । चाण्डाल की एक माह उपरान्त सन्यास पूर्वक मृत्यु हुई । जिन-धर्म के प्रभाव से वह नन्दीश्वर द्वीप में पाँच पल्य की आयुवाला देव हुआ । व्रत पालन के सातवें दिन कुतिया की भी मृत्यु हुई एवं वह उसी देश के राजा की पुत्री हुई । वह अनेक शास्त्रों-उपशास्त्रों का अध्ययन कर बड़ी विदुषी हुई । उसकी सुन्दरता देखकर देवांगनायें तक लज्जित होती थीं । एक दिन जब वह क्रीड़ा करने के लिए उपवन में गयी, तब राजा ने उसे देखकर विचारा कि पुत्री अब यौवन-सम्पन्न हो गयी है । उन्होंने विवाह के विचार से स्वयम्बर का आयोजन किया । दूतों द्वारा पत्र भेज कर देश-देशान्तरों के राजा बुलाये गये । जब स्वयम्बर मण्डप राजाओं से भर गया, तब राजकन्या ने षोडश प्रकार श्रृंगार कर मण्डप में प्रवेश किया । संयोग से उसी समय नन्दीश्वर द्वीप का देव (चाण्डाल का जीव) जिन वन्दना के लिए जा रहा था । उसने राजकन्या का स्वयम्बर देखा । उसे पूर्व-भव का स्मरण

हो आया कि यह तो अग्निला नाम की मेरी पत्नी है । इसे समझना चाहिए--यह सोचकर उसने अपने स्वरूप को गुप्त रखकर कहा--'हे राजकन्या ! क्या तू अपने पूर्व-भव को भूल गयी ? कुतिया की दशा में तूने कितने कष्ट भोगे हैं । अब यह पाणिग्रहण का आडम्बर क्यों रचा गया है ? यह ससार का कारण है । इससे भोग एवं लालसा की प्रवृत्ति बढ़ती है । क्या तुझे तीनो भव के दुःखों का स्मरण नहीं ? नरक, कुतिया एव चाण्डाल के भव में हम दोनों ने दु.ख भोगे हैं ।' देव के वाक्यों से राजकन्या को पूर्व-भव का स्मरण हो गया । वह वैराग्यवती होकर स्वयम्बर से बाहर निकल आयी । वैराग्य-विभूषिता राजकन्या ने वन में जाकर श्रुतसागर मुनिराज से जिन-धर्म की दीक्षा ले ली । इससे स्वयम्बर में उपस्थित राजकुमारों को बडा आश्चर्य हुआ । वे राजकन्या की उदासीनता का कारण न समझ सके । राजा को भी अपनी पुत्री के चले जाने का कारण ज्ञात नहीं हो सका । राजकन्या को सम्बोधित कर वह देव भी अपने स्थान को चला गया । उस राजकन्या ने दीर्घ काल तक आर्यिका के व्रत पालन किये एवं आयु के अन्त में मृत्यु का वरण कर स्वर्गलोक प्राप्त किया । जिन-धर्म के प्रभाव से सब कुछ प्राप्त होना सम्भव है । अतएव जिन-धर्म का ही पालन करना चाहिये ।

इस प्रकार मुनिराज ने कथा-प्रसंग से सेठ-पुत्रों को उनके पूर्व-भव के माता-पिता का वृत्तान्त कह सुनाया । वे मुनिवर को साष्टांग नमस्कार कर प्रसन्न चित्त लौट गये । वहाँ जिन-पूजनादि धार्मिक कृत्य करते हुए समय व्यतीत करने लगे । अन्त में सम्यक्त्व पालन करते हुए सन्यासपूर्वक उनकी मृत्यु हुई । वे सौधर्म स्वर्ग में देव हुए । आकाश में वायु के आधार पर उत्पन्न होनेवाले मेघ की भाँति वे स्वर्ग में उपपाद शैय्या से उत्पन्न हुए । इन्द्रधनुष एवं विद्युत समकक्ष सर्वांग सुन्दर वे सेठ-पुत्र पूर्व अवयव सहित वैक्रियक शरीरवाले हो गये । उनकी पूजा करने एवं आरती उतारने के लिये देवांगनायें आ पहुँचीं । देवताओं ने दिव्य वस्त्राभूषण पहिनने को दिये एवं विविध प्रकार से उनकी अभ्यर्थना की । सर्व-शुभ लक्षण सम्पन्न मणिभद्र एवं पूर्णभद्र (दोनों देव) दैवीय वस्त्राभूषणों से भूषित हो विमान पर आरूढ होकर सौधर्म स्वर्ग में निवास करने लगे । सत्य ही है, पुण्य के प्रभाव से ही जीव को स्वर्ग की प्राप्ति होती है । वहाँ जिन चैत्यालयों की वन्दना तथा जिन धर्म की प्रभावना करने वाला देवांगनाओ का अत्यन्त प्रिय होता है । स्वर्ग से देव सदा सुख मे निमग्न रहते हैं, सदा उनकी नवयौवनावस्था बनी रहती है । त्वचा सिकुड़ने, केश श्वेत होने

श्री प्रद्युम्न चरित्र

तथा सप्त धातुओं से रहित उनका शरीर होता है । भोज्य-पदार्थ की इच्छा होने पर उनके कण्ठ से अमृत झरता है, जिससे उनकी तृप्ति हो जाती है । इस प्रकार पुण्योदय से स्वर्ग में सुखभोग करते हुए कितना समय व्यतीत हो जाता है, यह भान नहीं होता । पुण्यात्मा व्यक्ति पुण्य के प्रभाव से स्वर्ग में देव की अवस्था में रहता है अथवा ढाई द्वीप में राजादिक होकर सम्यक्त्व सहित सुख-चैन से काल व्यतीत करता है । वह परम्परा के अनुसार मोक्ष का अधिकारी भी बन जाता है । पुण्यात्मा जीव के लिए तीनों लोक की सारी सुख-सामग्रियाँ उपलब्ध रहती हैं । वह उत्तम योनि प्राप्त कर कामदेव सदृश मनोज्ञ, विशाल राज्य का अधिपति, गुणज्ञ, ज्ञानी, प्रतापी, भाग्यवान, धैर्यशील तथा शूरवीर होता है । अतः सत्पुरुषों को चाहिए कि निरन्तर पुण्य का संचय करें ।

अष्टम सर्ग

जिस कोशल देश का ऊपर वर्णन किया जा चुका है, देव-दानवों द्वारा सुरक्षित उस नगर में पद्मनाभ नामक एक राजा राज्य करता था । उसके बल एवं रूप की चारों ओर प्रसिद्धि थी । उसने अपने प्रताप से शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर अपनी कीर्ति फैलायी थी । स्वर्ग के इन्द्र एवं पाताल के शेषनाग की तरह वह बलवान राजा, न्याय के साथ भूतल पर शासन करता था । उसकी अत्यन्त रूपवती, नवयौवन-सम्पन्न, गजगामिनी, सर्वांग सुन्दरी धारिणी नाम की पत्नी थी । जिस प्रकार इन्द्र को इन्द्राणी तथा शिव की पार्वती प्रिय हैं, उसी तरह पद्मनाभ को धारिणी प्रिय थी । पुण्य के प्रभाव से राजा पद्मनाभ ने इस रानी के साथ इच्छानुसार सुख-सामग्री प्राप्त कर राज्य का उत्तम रीति से संचालन किया । इस प्रकार राज्य करते हुए रानी के गर्भ से स्वर्गलोक से चयकर उपरोक्त दोनों देवों (अग्निभूति एवं वायुभूति ब्राह्मण-पुत्रों के जीव) ने दो पुत्रों के रूप में जन्म लिया । सत्य है, पुण्योदय से मनोवाँछित पदार्थों की प्राप्ति होती है । पद्मनाभ ने पहिले पुत्र का नाम मधु एवं दूसरे का नाम कैटभ रक्खा । पुत्र उत्पन्न होने की खुशी में राजा ने बड़ा उत्सव मनाया । जब वे राजपुत्र सर्वांग सुन्दर यौवन-अवस्था को प्राप्त हुए, तो राजा ने कुलवती, रूपवती एवं गुण-सम्पन्न योग्य कन्याओं के साथ उनके विवाह कर दिये ।

एक दिन राजा पद्मनाभ ने नव-यौवन सम्पन्न दोनों पुत्रों को देखकर विचार किया कि प्रथम तो इस

ससार मे मानव जन्म प्राप्त करना ही बडा दुर्लभ है, उसमें भी उत्तम कुल, राज्य, सुख, पराक्रम, गज, अश्व, रथ, योग्य स्त्री-पुत्र आदि की प्राप्ति दुष्कर है एवं इससे भी अलभ्य है जैन धर्म का प्राप्त होना । किन्तु पुण्य के उदय से सारी सामग्रियाँ मुझे प्राप्त हुई हैं । इस संसार में जितनी योग्य सामग्रियाँ हैं, वे मुझे प्राप्त हो चुकीं हैं । अतः अब मुझे आत्म-कल्याण की ओर झुकना चाहिये, जिससे अजर-अमर अवस्था प्राप्त हो सके । इस प्रकार दीर्घ काल पर्यंत विचार कर राजा पद्मनाभ को वैराग्य उत्पन्न हुआ । उसने सामन्तों के समक्ष अपने ज्येष्ठ पुत्र मधु को राज-तिलक देकर कैटभ को युवराज बना दिया । इसके पश्चात् राजा पद्मनाभ अपनी सहस्रों रानियों रूपी परिग्रह को त्याग कर वैराग्य धारण कर अपने मित्रों को संग लेकर श्री निर्ग्रंथ मुनि की शरण में गया । वहाँ उसने कर्म-आलोचना कर जिन-दीक्षा ले ली अर्थात् वह मुनिपद को प्राप्त हुआ ।

राजा पद्मनाभ के दोनों पुत्र--राजा मधु एवं कैटभ वंश-परम्परा से प्राप्त अपने राज्य का उत्तमतापूर्वक प्राण-संचालन करने लगे । दोनों ही प्रतापी शूरवीर थे । वे प्रजा के सुख की अभिलाषा रखते थे । उनका अनुचरों के साथ बन्धु का-सा व्यवहार रहता था एवं वे सदा शरणागतों की रक्षा किया करते थे । उनका लोहा शत्रु एवं मित्र दोनों ही मानते थे । उनकी कीर्ति का विस्तार चतुर्दिक था ।

एक दिन की घटना है । राजा मधु अपने सामन्तों की मण्डली में बैठा था । उसने नगर के बाह्यवर्ती अंचल से आते हुए कोलाहल के शब्द सुने । उस समय राजा ने द्वारपाल से जिज्ञासा की--'यह कोलाहल क्यों मचा है ? मैंने तो किसी नगर अथवा देश में ऐसे शब्द नहीं सुने । वस्तुस्थिति क्या है ?' द्वारपाल ने निवेदन किया--'हे राजन् ! एक महादुष्ट शत्रु राजा है । उसकी सेना विशाल है एवं उसका दुर्ग बड़ा सुदृढ़ है । वह आपके सारे देश को विध्वस्त कर रहा है । उसकी धूर्त्तता यह है कि गुप्त रूप से मनुष्यों तथा पशुओ के झुण्ड पकड कर वह ले जाता है । हमारे नगर में आग लगा देना उसका नियमित कर्म हो गया है । यदि उमे बन्दी बनाने अथवा रोकने के लिए सेना जाती है, तो वह अपने दुर्ग में जा छिपता है एवं अपनी रक्षा कर लेता है । अयोध्या नगर के बाह्यवर्ती अंचल में निरन्तर उसके द्वारा लूट लिए जाने से यहाँ के निवासी सत्रस्त है एव कोलाहल कर रहे हैं ।' द्वारपालों द्वारा यह निरंकुश काण्ड सुनकर राजा मधु बड़ा क्रोधित हुआ । उसने अपनी आँखे ऊपर को चढ़ा लीं तथा बड़े आवेश में कहा--'कुलीन मंत्रीगण ! यह

श्री प्रद्युम्न चरित्र

घटना क्यों नहीं मुझे बतलायी गयी ? अब तक आप लोग क्या करते रहे ?' मंत्रियों ने निवेदन किया--'हे राजन् ! आप अभी अनुभव-विहीन हैं । उसकी प्रबल सेना एवं सुदृढ़ दुर्ग के कारण हमारी समस्त सेना तथा सहायक राजागण भी उसे परास्त नहीं कर सकते हैं । इसलिये यह तथ्य आप से प्रकट नहीं किया गया ।'

उत्तर में राजा मधु ने कहा--'हे मन्त्रीगण ! क्या सूर्योदय हो जाने पर कहीं अन्धकार का संधान लगता है ? वैसे ही अवस्था में अल्प होते हुए भी मैं उसे परास्त करने में समर्थ हूँ । यह भारी अनर्थ हुआ कि मुझे प्रारम्भ में ही सूचना न दी गयी । अतएव अब आप लोग यथाशीघ्र सेना तैयार करो । मैं शत्रु पर आक्रमण करूँगा एवं उसका दुर्ग विध्वंस किया जायेगा । उस दुष्ट बैरी का अवश्य विनाश होगा ।' राजा का आदेश पाकर मन्त्रियों ने सेना एकत्रित करने के लिए उसी समय युद्ध का डंका बजवा दिया । सारी सेना इकट्ठी हुई । राजा मधु ने युद्ध के लिए प्रस्थान किया । सेना का समूह इतना विशाल था कि मार्ग में गजराजों के दन्तों की टक्कर से वृक्ष टूट-टूट कर गिरने लगे । विभिन्न प्रकार के चक्रों से मार्ग में आने-जाने तक के लिए रास्ता न रहा । अश्वों की टापों से पृथ्वी खण्डित हो चली । जिन नदियों में सेना जाने के पूर्व अथाह जल दीख पड़ता था, उनमें सेना के पार हो जाने पर कीचड़ मात्र रह जाता था । सेना के वेग से उच्च्य भूमि समतल एवं समभूमि विषम हो जाती थी । जब राजा मधु की सेना वटपुर आ पहुँची, तब वहाँ के राजा को यह ज्ञात हुआ । वह राजा मधु से मिलने के लिए आया । उसने भक्तिपूर्वक प्रणाम कर कुशल-प्रश्न पूछे । राजा मधु ने भी यथावत सत्कार किया । इसके उपरांत राजा हेमरथ ने विनयपूर्वक निवेदन किया--'हे स्वामी ! आप प्रसन्नचित्त होकर अपनी चरण-रज से मेरे गृह को पवित्र करें । हे कृपासिन्धु ! एक दिन के लिए मेरी राजधानी आपको आतिथ्य स्वीकार करने के लिए प्रार्थना करती है । मेरी राजविभूति देखकर ही आप देशान्तर के लिए प्रस्थान करें ।' राजा हेमरथ के विशेष आवेदन एवं आग्रह को देखकर राजा मधु ने एक दिन का आतिथ्य स्वीकार कर लिया । राजा हेमरथ की प्रसन्नता का छोर न रहा । वह शीघ्र ही नगर में आ पहुँचा । उसे सारे नगर को सजाने की आज्ञा दी । स्थान-स्थान पर ध्वजा-तोरण बँधवाये । मार्ग में विधिवत् पुष्प बिखराये गये तथा मंगल वाद्य-ध्वनि के साथ राजा हेमरथ ने राजा मधु का नगर में प्रवेश करवाया । राजा मधु राजमहल में जा पहुँचे । रत्नों का चौक पूर के उन्हें

श्री प्रद्युम्न चरित्र

स्वर्ण सिंहासन पर बैठाया गया ।

उस समय राजा हेमरथ ने अपनी रानी चन्द्रप्रभा से कहा-'हे प्रिये ! तू स्वयं जाकर राजा मधु का मंगल आरती उतार कर सत्कार कर ।' चन्द्रप्रभा ने राजा से प्रार्थना की--'हे नाथ ! नीति ऐसा कहती है कि अपनी सबसे प्रिय वस्तु को अन्य राजाओं को नहीं दिखलानी चाहिये, क्योंकि उससे उनका चित्त चलायमान हो जाता है । अतएव आप अन्य किसी रानी को भेजकर यह कार्य करवा लें ।' राजा हेमरथ ने कहा--'हे देवी ! तू नितान्त भोली है । उनके यहॉ तेरे सदृश सैकड़ों रूपवती दासियॉ विद्यमान हैं । हे शुभमुखे ! तेरे ऊपर उनकी पाप दृष्टि कदापि न जायेगी । तुझे शंका नहीं होनी चाहिये । तू राजा मधु का सम्मान अवश्य कर ।' पति के आग्रह से रानी चन्द्रप्रभा ने सुवर्ण के मनोहर थाल में उत्तमोत्तम ब्रहुमूल्य मोती, अक्षत आदि मांगलिक वस्तुएँ रखीं एवं सोलह श्रृंगार करके राजा मधु के पास गई । रानी चन्द्रप्रभा ने तन्दुल, मौक्तिक आदि से राजा मधु की आरती उतारी । किन्तु वहॉ एक विचित्र घटना हुई । सर्वगुण-सम्पन्न, मनोहर रानी चन्द्रप्रभा को देखकर राजा मधु कामबाण से विदग्ध हो गया । उसने विचार किया--'यह लक्ष्मी है या इन्द्राणी । चन्द्रमा की स्त्री रोहिणी है अथवा कामदेव की पत्नी रति । यह यश की मूर्ति है या कीर्ति की छवि । वस्तुतःयह है कौन ? लोग कहते हैं कि चन्द्रमा समुद्र से उत्पन्न होता है, किन्तु मुझे तो कपोलों पर श्वेद-कण में ही चन्द्रमा प्रतीत होती है । शायद ब्रह्मा से चन्द्रमा के सार से ही इसके मुख की रचना की हो, पद्म-पुष्प से इसके भुजा एवं पग बनाये हों एवं हस्ती के कुम्भस्थल से इसके उरोज युगल । सम्भवतः मृगी के नेत्रों से इस सुन्दरी के नेत्र बनाये गये हैं एवं हंसिनी की चाल लेकर गति । इसकी रचना किस प्रकार हुई है, यह मेरी समझ में नहीं आता ? न तो ऐसी कोमलांगी त्रिलोक में है एवं न होगी ।' चन्द्रप्रभा के सम्बन्ध में ऐसा विचार करते हुए राजा मधु कामातुर हुए । वे हृदयशून्य की तरह उस रानी का सौन्दर्य देखते रह गये, मानो उस सुन्दरी ने उनका चित्त ही चुरा लिया हो । पुनः राजा मधु ने विचार किया--'यह जन्म उसी का सफल है अर्थात् मानव जन्म तभी सार्थक है एवं वही कृतकृत्य है या उसी के पुण्य का उदय है, जिसकी यह सुन्दरी प्राणवल्लभा है ।' उधर तो राजा मधु मोहपाश में बॅधे हुए थे एवं चिन्ता में विभोर थे, इधर रानी चंद्रप्रभा आरती कर अपने पति राजा हेमरथ के संग लौट गयी किंतु साथ ही साथ अनजाने में वह राजा मधु का चित्त भी हरण कर लेती गयी ।

अयोध्या के अतिरिक्त राजा मधु विरह में चिन्तातुर हो उठे । उनका चित्त मानो ठगा जा रहा था । वे शैय्या पर पड़ गये । मानसिक कष्ट से उन्होंने आहार-पान, शयन एवं वार्तालाप सब त्याग दिया । राजा की ऐसी स्थिति देखकर उनके चतुर मंत्री ने अनुमान लगाया कि महाराज किसी गम्भीर चिन्ता में लीन हो गये हैं । उसने स्नेहवश जिज्ञासा की--'हे महाराज ! आप ऐसे चिन्तातुर तथा विकल क्यों हैं ? आपकी तो समस्त शोभा ही लुप्त हो गयी है । आपकी देहयष्टि पर न तो पूर्ववत राजसी वस्त्राभूषण हैं एवं न आपकी चेष्टाएँ वीरोचित हैं । हे महाराज ! क्या आप को कुटिल शत्रु की चिन्ता लगी है ? पर उसका तो आप तनिक भी चिन्ता न करें, हम उसे क्षणमात्र में परास्त कर देंगे । यदि आप उदासीन हुए, तो हमारी सेना यह समझेगी कि आप शत्रु से भयभीत हो रहे हैं ।' मन्त्री का कथन सुनकर राजा मधु ने कहा--'हे मन्त्रीवर ! मुझे शत्रु का तनिक भी भय नहीं है ।' मंत्री ने पुनः प्रश्न किया--'तब कौन सा कारण है कि आप चिन्तातुर तथा दुःखी हो रहे हैं ?' राजा ने मन्त्री को निकट बुलाकर कहा--'हे मन्त्री शिरोमणि ! मैं अपने दुःख का कारण तुम पर प्रकट करता हूँ । राजा हेमरथ की रानी चन्द्रप्रभा से रमण हेतु मैं कामातुर हो रहा हूँ । जिस समय से उसके रूप तथा यौवन को देखा है, उस समय से मैं काम-व्यथित हूँ । मेरा चित्त कामाग्नि से दग्ध हो रहा है । मुझे पल भर के लिए भी चैन नहीं पड़ता है ।' राजा की ऐसी गर्हित मनोकामना सुनकर चतुर मन्त्री ने कहा--'हे महाराज ! यह सर्वथा अनुचित विचार है । यह कार्य इहलोक तथा परलोक दोनों के विरुद्ध तथा निन्दनीय है । इससे समस्त लोक में अप्रतिष्ठा होगी, आपके प्रति सुभटों की अनास्था हो जायेगी । नीति वाक्य है कि लोक-निन्दित कार्य कदापि नहीं करना चाहिये ।' राजा ने कहा--'यह तो मैं भी समझता हूँ, किन्तु उसके बिना मैं एक क्षण भी जीवित न रह सकूँगा । यदि तुम्हें मेरे जीवन की आवश्यकता हो, तुम चाहते हो कि मैं जीवित रहूँ, तो चन्द्रप्रभा से समागम का कोई उपाय करो । बिना उसके राज्य-धन-सेना-रत्न-परिवारादि सब व्यर्थ हैं ।' जब मन्त्री ने देखा कि राजा मधु चन्द्रप्रभा पर आसक्त हो रहे हैं, तो उसने अपने कर्त्तव्य का स्मरण कर राजा से कहा--'हे महाराज ! मेरी एक प्रार्थना है, वह यह कि अभी प्रेम सम्बन्धी जो चिन्ता आपके मन में उत्पन्न हुई है, उसका परित्याग कर दें । यदि यह मनोभाव आपके सामन्तों पर प्रकट हो गया तथा वे समझ गये कि महाराज पर-स्त्री में अनुरक्त हैं, तो उनकी आपके प्रति अनास्था हो जायेगी । वे स्वगृह को लौट जायेंगे, सोचिये इससे आपका

कितना अनिष्ट हो सकता है । संग्राम का समस्त प्रस्तुति व्यर्थ हो जायेगी । यदि वे आपके साथ संग्राम में गये, तो भी आपके प्रति सन्देह होने से युद्ध में सफलता नहीं मिल सकेगी । अतएव अभी यह रहस्य गुप्त रखना ही उचित होगा । प्रथम तो सामन्त राजाओं की सहायता से शत्रु परास्त हो जाय, फिर उसके पश्चात् अपने मनोरथ की पूर्ति कीजिये । शत्रु के परास्त होने पर आप जो चाहेंगे, वह सरलता से सिद्ध हो जायेगा।' मंत्री का अब परामर्श सुनकर राजा मधु को कुछ सान्त्वना मिली । उन्होंने मनोरथ की सिद्धि की आशा से मन्त्री से कहा--'मेरे मनोरथ को पूर्ण करना तुम्हारा कर्त्तव्य होगा । तुम मुझे विश्वास दिलाओ, जिससे मेरा यह विह्वल चित्त शान्त हो जाय ।' राजा की इच्छा के अनुसार मन्त्री वचनबद्ध हुआ ।

चतुर मन्त्री के आश्वासन से राजा मधु का चित्त स्वस्थ हो गया । शत्रु को परास्त करने की उत्कण्ठा से उन्होंने सेना के सग प्रस्थान किया । राजा मधु की सहायता के लिए राजा हेमरथ भी अपनी सेना के साथ वटपुर से चल पडा । ये दोनों सेनाएँ बड़े वेग से पर्वतों को ध्वस्त करती हुई तथा मार्ग की नदियों को सुखाती हुई राजा भीम के नगर में जा पहुँची । राजा मधु ने दोनो सेनाओं की सहायता से नगर को घेर लिया । नगाड़ों का कोलाहल सुनकर उस नगर में सर्वत्र त्राहि-त्राहि मच गयी । प्रजा थर्राने लगी, सबको भारी चिंता उत्पन्न हो गयी । राजा भीम ने जब कोलाहल सुना, तो मंत्री से पूछा--'नगर में इतना आतंक क्यों फैल रहा है ?' मंत्री ने निवेदन किया--'हे महाराज ! राजा मधु ने एक विशाल सेना लेकर नगर पर आक्रमण किया है । राजा भीम ने कहा--'हे मन्त्री ! निश्चय किये बिना यह क्या कह रहे हो? क्या ऐसा सम्भव है ? संसार में ऐसा कौन बलवान है, जो मेरा सामना कर सके ? क्या कभी यह सुनने में आया है कि कहीं सिह के ऊपर मृग समूह ने आक्रमण किया हो ? यमराज पर प्राणधारियों का तथा गरुड पर सर्प का आक्रमण करना कदापि सम्भव नहीं हो सकता ।' मंत्री ने शीश नत कर कहा--'हे महाराज वस्तुतः राजा मधु प्रबल सेना लेकर आया है । उसने समस्त नगर को चतुर्दिक घेर लिया है । उसके भय से नगर के समस्त कपाट अवरुद्ध कर दिये गये हैं तथा उसकी सेना युद्धघोष कर रही है ।' शत्रु द्वारा रण का आह्वान सुनकर राजा भीम क्रोधोन्मत हो उठा, उसने कहा--'क्या मेरे नगर निवासी इतने कायर है कि साधारण शत्रु के भय से अपने नगर के कपाट बन्द कर लें ? उन्हें आदेश दे दो कि सिंहद्वार उन्मुक्त करे । मैं अभी युद्ध के लिए प्रस्तुत होता हूँ ।' इतना कहकर राजा भीम एक प्रबल सेना के साथ सिंह की

तरह गरजते हुए नगर दुर्ग के सिहद्वार से सग्राम हेतु बाहर निकला ।

महारथी राजा मधु ने जब देखा कि राजा भीम चतुरंगिणी सेना (गजारूढ़, अश्वारोही, रथी एवं पदातिक) लेकर रणक्षेत्र में आ गया है, तब वह भी युद्ध की व्यूह रचना करने लगा । शीघ्र ही दोनों पक्ष के मदोन्मत्त शूरवीर सुसज्जित होकर परस्पर भिड़ने को प्रस्तुत हो गये । दोनों दलों के वाद्यों के उच्च रव से, बन्दीजनों के जय-जयकार से, अश्वों की हिनहिनाहट एवं गजराजों की गर्जना से आकाश गूॅज उठा। सुभटों के अटटहास एवं धनुष की टंकार से कुछ भी सुनायी नहीं पड़ता था । युद्ध की ऐसी भयानकता देखकर कायरों के कर (हाथ) से शस्त्र गिरने लगे एवं शूरवीरों को रोमांच हो आया । दोनों सेनायें परस्पर भिड़ गयीं । अस्त्र-शस्त्र एवं दॉव-पेंच से भयानक युद्ध होने लगा । खड्ग, कुन्त, बाण, तीर, चक्र, मुद्गर, किर्च, नाराच, भिंडिपाल, गदा, हल, मूसल, तलवार, लाठी आदि सभी शस्त्र प्रयुक्त होने लगे ।

वहॉ की संग्राम-भूमि समुद्रवत प्रतीत होने लगी । समुद्र में जल की तरंगे उठती हैं एवं यहॉ युद्ध में अश्व क्रीड़ा करने लगे । लहरों के उछलने से फेन राशि निकलती है जब कि युद्ध में स्वच्छ चमर ढुल रहे थे । समुद्र तीर पर के पर्वतों को खण्ड-खण्ड कर देता है जब कि संग्राम में गजराजों के उन्नत मस्तक खण्ड-खण्ड हो रहे थे । समुद्र से विभिन्न प्रकार के मोती निकलते हैं जब कि यहॉ गजमुक्तों का ढेर लग रहा था । समुद्र को रत्नों की उत्पत्ति का स्थल कहा जाता है एवं यहॉ योद्धाओं के मुकुटों में से रत्न टूट-टूट कर गिर रहे थे । समुद्र में मगर होते हैं एव यहॉ गजराजों के कटे पग मगर सदृश प्रतीत हो रहे थे । समुद्र में मत्स्य निवास करते हैं एवं युद्ध में अश्वों के छिन्न-भिन्न चरण मत्स्यों के सदृश लगते थे। समुद्र में कछुवे होते हें एवं युद्ध में कटे हुए मस्तक कछुवे के समान हैं । समुद्र में काई होती है एवं संग्राम में सुभटों की ऑत-मॉस-अस्थि आदि । समुद्र में जल भरा रहता है जब कि युद्ध की भूमि रुधिर से पाल्वित थी । इस प्रकार सारी सेना समुद्र के समान दीखने लगी । अनेक सुभट युद्ध में हताहत हुए । किन्तु अन्त में अयोध्या के राजा मधु की विजय हुई । उन्होंने राजा भीम को पराजित कर उसे बन्दी बना लिया। चारों ओर से राजा मधु की जय-जयकार होने लगी । उन्होंने राजा भीम को अपनी अधीनता स्वीकार करा के स्वदेश से निर्वासित कर दिया एवं उसके नगर का शासन-भार अपने विश्वासी सामन्तों को सौंप कर अपने नगर अयोध्या को प्रस्थान किया ।

श्री प्रद्युम्न चरित्र

मार्ग में कितने ही राजाओं ने विजयी राजा मधु का स्वागत किया । राजा मधु के पुण्य के उदय से वे सभी प्रभावित थे । उन पर अपना आधिपत्य स्वीकार करा के राजा मधु अग्रसर हुए । किन्तु राजा को पूर्व घटना स्मरण हो आयी । उन्होंने मन्त्री ने कहा--'मैं सेना के साथ वटपुर अवश्य जाऊँगा, जहाँ मेरे चित्त को अपनी ओर आकर्षित करनेवाली चन्द्रप्रभा रहती है ।' उस समय मन्त्री ने विचार किया कि अवश्य ही राजा के चित्त में अभी तक चन्द्रप्रभा की स्मृति शेष है। इस समय हमें क्या करना चाहिये ? वस्तुतः एक राजा के लिए पर-स्त्री पर अनुरक्त होना उचित नहीं ।' अतः चतुर मन्त्री ने राजा से कहा--'हे महाराज ! जैसी आज्ञा । हम वटपुर ही चलते हैं । आप भी तनिक भी चिन्ता न करें ।' पर मंत्री ने सेनापति को एकान्त में बुलाकर समझाकर कहा--'रात्रि में तुम सेना को प्रस्तुत कर वटपुर को त्याग कर सीधे अयोध्या प्रस्थान कर देना ।' सेनापति ने वैसा ही किया । रात्रि में निद्रामग्न राजा मधु के साथ समस्त सेना वटपुर को त्याग कर अयोध्या की ओर अग्रसर हो चली ।

प्रातःकाल समग्र सेना अयोध्या के समीप पहुँच गयी । राजा मधु का शुभागमन जान कर नगर-निवासियों को अपार हर्ष हुआ । वे स्वागत के लिए तोरण-ध्वजादिक से नगर को सजाने लगे । अयोध्या के प्रमुख श्रेष्ठीगण मांगलिक सामग्री भेंट में लेकर राजा की सेवा में उपस्थित हुए । जब राजा मधु ने देखा कि यह तो अयोध्या नगरी है, तो उसे बड़ा दुःख हुआ । उसने क्रोधित हो अपने मन्त्री से कहा--'रे मूढ़ ! यह तूने क्या किया ? क्या तुझे मेरे साथ ही छल करना था ? तू तो महा असत्यवादी प्रतीत होता है ।' यह सुनकर प्रधानमंत्री ने सेनापति को बुलाकर पूछा--'तू बिना आज्ञा के वटपुर को त्याग कर अयोध्या कैसे चला आया ?' सेनापति ने छद्म भय का अभिनय करते हुए करबद्ध निवेदन किया--'हे स्वामिन ! मेरा अपराध क्षमा हो । मैं रात्रि के अन्धकार में पथभ्रान्त हो गया एवं अयोध्या पहुँच गया । यह अपराध मुझ से अनजाने में हुआ है, इसलिये क्षमा-याचना करता हूँ ।' सेनापति का अनुरोध सुनकर राजा मधु मौन हो गये, किन्तु उनका हृदय कामाग्नि से दग्ध हो रहा था । उधर बन्दीजन जय-जयकार की ध्वनि करने लगे । महाराजा राजमार्ग से अयोध्या में प्रवेश कर अपने महल में आ पहुँचे ।

महाराज के शुभागमन से नगर में प्रफुल्लता छा गयी । सुहागिन स्त्रियों ने नृत्य-गीतादि के आयोजन से अनेकों उत्सव सम्पन्न किये । किन्तु राजा की चिन्ता दूर न हुई । वे असन-वसन-भूषण-सुगन्धित द्रव्यों

से उदासीन हो गये । उन्हें नव-यौवन सम्पन्न, हाव-भाव विलासिनी एवं उन्नत उरोजोंवाली सुन्दरियाँ भी एक चन्द्रप्रभा के वियोग में हलाहल सदृश प्रतीत होने लगीं । राजा की तो यह दशा थी, पर मंत्री ने यह सोचकर राजा के निकट उपस्थित होना उचित नहीं समझा, क्योंकि वहाँ पहुँचते ही चन्द्रप्रभा के समागम की याचना सुनने को मिलेगी एवं विलम्ब हेतु उलाहने में कटु वाक्य भी । इधर विरह की दारुण ज्वाला से राजा की देहयष्टि श्रीहीन एवं शक्तिहीन हो गयी ।

कुछ काल व्यतीत हो जाने पर बसन्त ऋतु का आगमन हुआ । चन्द्रप्रभा के वियोग में राजा को यह ऋतु व्रण (घाव) पर नमक छिड़कने के सदृश प्रतीत होने लगी । वन-प्रान्तर में मन्जरियों से आम के वृक्ष पुष्पित हो गये । उस समय अयोध्या के सरोवरों की छटा निराली हो गयी । उत्फुल्ल पद्म-पुष्पों पर भ्रमरों के समूह नृत्य करने लगे । वे पुष्प त्रिलोक विजयी कामदेव के छत्र के सदृश शोभा देने लगे । कोयलों की कूक, भ्रमरों की गुंजार, मधुर संगीत, सुरीले गीत एवं मलयानिल की सुगन्धित वायु से श्रेणी नृत्य का भान होने लगा । उस समय एक भी ऐसा वृक्ष शेष नहीं था, जिसमें पुष्प न लगे हों एवं ऐसा पुष्प न था, जिस पर भ्रमरों की गुन्जार न होती हो । इस प्रकार चतुर्दिक बसन्त का साम्राज्य छा गया । पर राजा मधु तो चन्द्रप्रभा के विरह में विदग्ध हो रहे थे । उनकी कामाग्नि मोतियों के हार, पद्मपुष्प, केले के पत्ते, पंखे की वायु, चन्दन-लेपन, चन्द्र ज्योत्सना आदि शीतलोपचार से भी शांत न हो सकी । वस्तुः विरहाग्नि से संतप्त पुरुष के लिए पद्म चंदनादि औषधियाँ विष-तुल्य हो जाती हैं । इस प्रकार की वियोगाग्नि में दग्ध होते हुए राजा मधु को देखकर समग्र परिवार एवं कुटुम्ब के लोग शोकग्रस्त हुए । किन्तु मंत्री ने लज्जा एवं भय से राजा को अपना मुख तक नहीं दिखलाया । वियोग की अग्नि से पीड़ित होकर राजा मधु ने आहार-जल सब कुछ त्याग दिया ।

एक दिन विचित्र घटना हो गयी । राजा मधु के जीवन-रक्षा की आशा न देखकर कुटुम्बीजनों ने उन्हें भूमि पर लिटा दिया । जब मंत्री को इस घटना का विवरण ज्ञात हुआ, तो वह तत्काल उस स्थान पर आया, जहाँ पर राजा बेसुध पड़े हुए थे । विनयपूर्वक राजा को नमस्कार कर वह सामने बैठ गया । राजा ने उसकी ग्रीवा में अपनी भुजायें डाल दीं एवं जिज्ञासा की--'हे मन्त्री ! मेरी मृत्यु होने पर तेरे चित्त का समाधान कैसे हो सकेगा ?' वह चतुर मन्त्री भी कुछ काल तक चिन्तित रहा एवं उसने विचार

किया--'राजा तो घोर दुःख मे हैं । मुझे क्या करना चाहिये ? कौन-सा प्रयत्न करूँ ? यदि मै कपट से राजा हेमरथ की प्रिया चन्द्रप्रभा को हर लाऊँ, तो यह निश्चित है कि हमारे राजा की अपकीर्ति फैलेगी एवं यदि उस नव-यौवना को इनसे न मिलाया जाय, तो इसमें संशय नहीं कि राजा का प्राणान्त हो जाये। किन्तु जब दोनों ही कार्य अनुचित हैं, तो मुझे क्या करना चाहिये ?' कुछ काल तक सोच-विचार कर लेने के पश्चात् मन्त्री ने यह निश्चय कर लिया कि चाहे जो हो, राजा की इच्छा पूर्ण होनी चाहिये । अगर राजा की मृत्यु हो गई, तो घोर अनिष्ट होगा । येन-केन-प्रकारेण किसी प्रकार भी चंद्रप्रभा को ले आना चाहिये । ऐसा विचार कर चतुर मन्त्री ने राजा मधु से कहा--'हे महाराज ! आप इस प्रकार चिन्तित एवं दुःखी क्यो हो रहे हैं ? मैं विश्वास दिलाता हूँ कि चन्द्रप्रभा आपसे अवश्य मिलेगी । पहिले तो मैंने यह समझा था कि आप राज-कार्य में प्रवृत्त होकर उसे विस्मृत कर देंगे । किन्तु जब ऐसा न हो सका, तो प्रतीत होता है कि उसके बिना आपके प्राणों पर भी संकट है । ऐसी स्थिति में मेरा कर्त्तव्य हो जाता है कि आपकी इच्छा की पूर्ति करूँ । आगे जो अपकीर्ति फैलेगी, उससे निपट लिया जायेगा । अतएव आप धैर्य्य से रहे । कारण, स्थिर चित्त से किये हुए कार्य में किसी प्रकार के विघ्न की सम्भावना नहीं रहती ।' मंत्री के लुभावने आश्वासन से राजा मधु को बडा सन्तोष हुआ । उन्होंने अपने विरही मन को शान्त किया ।

तत्पश्चात् चतुर मत्री ने एक आडम्बर रचा । उसने अपने मित्र राजाओं को यह सन्देश भिजवाया कि आप लोगो को अपनी-अपनी रानियों के साथ यहाँ शीघ्र आना है । बसन्त ऋतु में राजा मधु सपत्नीक अपने मित्र राजाओ एव उनकी रानियों के साथ उद्यान में क्रीडा करने जायेगे । नृपति मधु का आमन्त्रण पाकर मित्र राजाओ को बडी प्रसन्नता हुई । वे अपनी-अपनी रानियों को साथ लेकर अयोध्या पहुँच गये ।

सुललित अक्षरों में लिखकर एक आमत्रण राजा हेमरथ को भेजा गया । राजा मधु का निमंत्रण पत्र पाकर राजा हेमरथ को बडी प्रसन्नता हुई । उसने अपनी प्रिया चन्द्रप्रभा को बुलाकर कहा--'हे प्रिये ! देखों राजा मधु मुझ पर कितने प्रसन्न है । उन्होंने कृपापूर्वक मुझे स्नेह-स्मरण किया है । इसे तुम भी पढ़ लो ।'

रानी चन्द्रप्रभा पति से लेकर उस पत्र को पढने लगी । उसमें निम्नलिखित वाक्य लिखे थे--'प्रिय

राजा हेमरथ ! तुम्हारी भक्ति से मुझे बड़ी प्रसन्नता है । तुम मेरे परम प्रिय मित्र भी हो । तुम मेरे समस्त सामन्तों में अग्रगण्य हो । मेरे समग्र राज्य को तुम अपना ही समझो । तुम्हें न तो संकोच करना चाहिये एवं न मुझसे भेदभाव रखना चाहिये । मैंने इस बसन्त ऋतु में राज-परिवार के साथ एक मास तक क्रीड़ा करने का विचार किया है । अतएव तुम प्रेम भाव से अपनी प्राणप्रिया को लेकर यहाॅ अवश्य पधारो । अन्य मित्र-राजा भी अपनी-अपनी रानियों के साथ यहाॅ पधार रहे हैं । तुम्हें चन्द्रप्रभा को लेकर अवश्य आना चाहिये ।' पत्र पढ़ लेने के पश्चात् चन्द्रप्रभा ने निवेदन किया--'हे स्वामिन ! मेरे निवेदन पर विचार करें। अपने सामन्त-राजाओं पर इतना स्नेह-भाव प्रकट करना कदापि अकारण नहीं होता । अवश्य ही इसमें कुछ-न-कुछ रहस्य निहित होगा । राजागण कभी निःस्वार्थ प्रेम नहीं प्रकट करते । इसलिये आप वहाॅ जायें भी, तो मुझे संघ ले जाने का हठ न करें । यदि मैं वहाॅ पहुॅच गयी, तो मेरा-आपका वियोग सम्भावित है ।' चन्द्रप्रभा के निवेदन पर राजा हेमरथ को विश्वास न हुआ । उसने चंद्रप्रभा से कहा--'हे मूढ़मते ! तू ऐसा कुवाच्य क्यों कहती ? तुझ जैसी हजारों सुन्दरियाॅ तो राजा मधु की दासी हैं ।' दूरदर्शी रानी ने उत्तर दिया-'हे स्वामिन् ! जैसी आपकी इच्छा । मैंने तो अपनी समझ से उचित परामर्श दिया है । भविष्य की घटनाओं से अपने-आप मेरी आशंका का औचित्य प्रकट होगा ।' इतना कहकर वह मौन हो गयी । किन्तु सरल चित्त राजा हेमरथ के विचार न बदले । उसने कहा--'हे प्रिये ! शुभ-कार्य में विकल्प न करो । हमारा अयोध्या गमन अत्यन्त आवश्यक है ।' इस प्रकार समझा-बुझा कर राजा हेमरथ ने रानी चंद्रप्रभा को सन्तोष दिलाया एवं उसी दिन दास-दासियों के साथ अयोध्यापुरी के लिए प्रस्थान कर दिया । प्रस्थान करते समय अनेक अपशकुन हुए । किन्तु--'विनाशकाले विपरीत बुद्धिः' के अनुसार राजा हेमरथ ने उधर ध्यान नहीं दिया ।

कई दिवसों की यात्रा के पश्चात् हेमरथ अयोध्या के समीप आ पहुॅचे । महाराजा मधु ने अपने परिवार के संग आकर राजा हेमरथ का स्वागत किया । एक सुन्दर महल में उनके निवास की व्यवस्था हुई । राजा हेमरथ एवं रानी चंद्रप्रभा के आदर-सत्कार की तो बात ही क्या थी ? अन्य राजाओं का भी उचित सम्मान हुआ । इस समय राजा मधु ने अपने उद्यान को सुन्दर रूप से सजवाया । यह सारा कृत्य चंद्रप्रभा को फॅसाने के लिए किया गया था । ठीक ही है, ऐसा कौन-सा कार्य है, जो माया के बल पर सिद्ध न किया जा

सके ? उद्यान की शोभा अपूर्व हो गयी । पराग-रज से सुगन्धित कोयलों की मतवाली कूक एवं भ्रमरों के मधुर झंकार से उद्यान गूँजने लगा । पाषाण-खण्डों से रचे हुए विभिन्न कृत्रिम पर्वतों से उद्यान की शोभा द्विगुणित हो गयी । इसके अतिरिक्त उसमें चन्दन के पक एवं कर्पूर-केसरादि सुगन्धित द्रव्यों से पूरित विभिन्न वापिकाएँ निर्मित की गईं । सुवर्ण एवं रजत के तारों से बनी रंग-बिरंगे बन्दनवारों से उद्यान को विभूषित किया गया ।

जब उद्यान की सजावट पूर्ण हो गयी, तब राजा मधु अपने रनिवास तथा सामन्त नरेशों के साथ क्रीड़ा के लिए वहाँ पधारे । उद्यान की मनोहारी शोभा देखने ही बनती थी । लताओं के रमणीय पत्र-पुष्पों की सुगन्ध, भ्रमरों के गुंजन, कोयलों की मधुर-कूक तथा मन्जरी-युक्त आम्र के वृक्षों को देखकर यहां प्रतीत होता था कि ये राजा मधु के स्वागत में अर्घ प्रदान कर रहे हैं । यह रमणीक उद्यान राजा का क्रीड़ा-स्थल बना । उन्होने पिचकारियों में केशर मिश्रित जल भरकर क्रीडाएँ कीं । फिर भी उनके विरही मन को लेशमात्र भी सुख की उपलब्धि न हुई । अन्य सामन्त भी अपनी-अपनी रानियों के संघ क्रीड़ा में रत हुए। इस प्रकार बसन्त ऋतु मे एक मास तक अनत क्रीड़ा का समारोह चलता रहा । क्रीड़ा की अवधि समाप्त होने पर महाराज मधु अपने महल में आये । उन्होंने समवेत राजाओं को वस्त्राभूषणों से सम्मानित कर विदा कर दिया । किन्तु राजा हेमरथ को बुलाकर कृत्रिम स्नेह दर्शाते हुए कहा--'हे मित्र ! कुछ काल पूर्व मैं तुम्हारा अतिथि बना था । उस समय तुमने मेरा जैसा सम्मान किया, उसे मैं कदापि नहीं भूल सकता । अतएव तुम निःसंकोच हो अपनी रानी चंद्रप्रभा को यहाँ छोड़ जाओ । उसके योग्य आभूषण तैयार होने पर मै उसे ससम्मान विदा कर दूँगा ।' यद्यपि राजा मधु के शब्द कृत्रिम थे, फिर भी सरल-चित्त राजा हेमरथ की समझ में न आये । उसने अपनी स्वीकृति दे दी । इसके पश्चात् उसने आकर रानी चंद्रप्रभा से कहा--'हे प्रिये ! मैं राजा मधु से विदा ले चुका हूँ । अतः आज ही वटपुर के लिए प्रस्थान करूँगा । किन्तु तुझे अपने विश्वस्त मंत्री एवं अन्य सैनिकों की देख-रेख में यहाँ छोड़ जाता हूँ । तुम उपहार में आभूषणादि लेकर यथाशीघ्र आ जाना, क्योंकि राजा मधु की ऐसी ही राय है । उनकी आज्ञा की उपेक्षा करना उचित नहीं है ।' राजा का कथन सुनकर रानी चन्द्रप्रभा व्याकुल हो गयी । उसने प्रार्थना की--'हे नाथ ! मैं समझती हूँ कि प्रथम तो आप दुर्भाग्यवश ही मुझे यहाँ लाये हैं एवं अब यहाँ त्याग कर एकाकी लौट रहे

हैं । इससे निश्चय है कि कुछ अनर्थ होगा । राजा मधु अपनी पत्नी बनाकर बलात् मुझे रनिवास में रख लेंगे । अन्त मे आपको पश्चाताप् करना पडेगा ।' चन्द्रप्रभा की आशंका पर अब भी राजा हेमरथ को विश्वास न हुआ । उसने कहा--'अरी मूढमती ! तू बड़ी भोली है, तुझे ऐसा नहीं कहना चाहिये । राजा मधु के ऐसे घृणित भाव नहीं हैं । उनकी चेष्टायें अत्यन्त पवित्र हैं । तुम्हें रोक रखने का कारण यह कदापि नही हो सकता, बल्कि उनकी आन्तरिक स्नेहभावना है । तुम तनिक भी चिन्ता न करो ।'

चन्द्रप्रभा ने पुनः निवेदन किया--'हे स्वामी ! आप राजा मधु के कृत्रिम शिष्टाचार से भ्रमित न होवें। अन्यथा आप पश्चाताप् करेंगे एवं घोर दुःख उठायेगे ।' इस प्रकार रानी चन्द्रप्रभा ने बहुत समझाया, पर मतिभ्रष्ट राजा हेमरथ ने उधर ध्यान ही नहीं दिया । अपशकुन को अनेदखा करता हुआ वह वटपुर की ओर चल पड़ा । ठीक ही है, होनहार का प्रतिकार नहीं किया जा सकता ।

राजा हेमरथ के चले जाने पर एक विचित्र घटना हुई । राजा मधु ने तत्काल मंत्री को बुलाया । उसने कहा--'मेरी प्राणप्रिया कमलनयनी चन्द्रप्रभा को शीघ्र ले आओ, अब विलम्ब सह्य नहीं ।' मंत्री ने कहा--'हे महाराज ! कुछ काल तो धैर्य रखना होगा । रात्रि के समय समागम उचित होगा ।' राजा को किंचित् संतोष हुआ । उसने ज्यों-त्यों करके दिवस की शेष घडियॉ व्यतीत कीं । इसके पश्चात् मन्द गति से सूर्य अस्ताचल की ओर गमन कर गये । वे चक्रवाक को दुःखी, कमलों को संकुचित एवं कामीजनों को प्रसन्न तथा पश्चिम दिशा को रक्त वर्ण करते हुए अस्त हो गये । संध्या ने विचित्र रूप धारण कर लिया । उसका आकाशरूपी ऑगन पंचवर्णी हो गया । सूर्य के प्रखर ताप से जिस अंधकार का लेशमात्र भी संधान नहीं था, वह समय पाकर अपने साम्राज्य का विस्तार करने के लिए चतुर्दिक विस्तीर्ण हो गया। उसके विस्तार से ऊँच-नीच, सम-विषम, स्थिर-अस्थिर अर्थात् सभी वस्तुएँ समान प्रतीत होने लगीं । रात्रि में ताराओ की ऐसा शोभा हुई, जैसे नीलमणि की भूमि पर मालती के पुष्प बिखरे,हों । चन्द्रमा की धवल चॉदनी पृथ्वी तल पर फैल गयी । उसने भूमण्डल को दुःखी देखकर अपने किरणरूपी बाण छोड़े । इस प्रकार रात्रि के प्रथम प्रहर में जब चॉदनी खिल रही थी, उस समय चतुर मंत्री के परामर्श से राजा ने एक दूती को अपनी प्रिया के पास भेजा ।

चतुर दूती चंद्रप्रभा के निकट पहुॅची । उसने चन्द्रप्रभा को विनयपूर्वक नमस्कार किया । उसने

कहा--'हे देवी ! मैं राजा मधु का एक गोपनीय सन्देश लेकर आई हूँ । उसे कृपया ध्यानपूर्वक सुनो ।' चद्रप्रभा की स्वीकृति पर वह कहने लगी--'आज की ही घटना है । महाराज मधु अपने राजमहल मे आसीन थे । अकस्मात् राजा हेमरथ के दूत ने आकर निवेदन किया कि उनके राजा ने मेरे द्वारा सन्देश भेजा है कि यथाशीघ्र चद्रप्रभा को आप रवाना कर दें । यदि उनके प्रति आपका स्नेह है, तो इस कार्य मे विलम्ब न होने पाये । अतः महाराज मधु से आपको आज ही भेज देने का अनुरोध किया है । आप मेरे सग राजमहल तक चलें । आपके आभूषण जो बनाने के लिए दिये गये हैं, वे अभी तक तैयार नहीं हो पाये हैं । इसलिये राजा का विचार है कि अपनी रानियों के ही आभूषण भेंट मे देकर कल ही आप को विदा कर दें ।' दासी के वचनों को सुनकर चन्द्रप्रभा असमंजस में पड़ गयी । उसने विचार किया कि मै क्या करूँ ? यदि में राजा मधु के निकट जाती हूँ, तो वह बलात् अपनी कामवासना की पूर्ति कर लेगा एवं मुझे बाध्य हो उसका पत्नीत्व स्वीकार करना पड़ेगा । यदि उसकी आज्ञा का पालन नहीं करती हूँ, तो वह क्रोधित हो उठेगा । अतः वहाँ जाना ही उचित है । ऐसा विचार कर चद्रप्रभा दुःखित हृदय से अपने साथ आये हुए भृत्यों एवं दासियों के साथ राजा मधु के महल की ओर चल पड़ी ।

उस समय महाराज मधु अपने महल के सप्तम खण्ड में आसीन थे । चतुर दासी ने अन्य सेवकों को नीचे ही छोड़ दिया एवं चंद्रप्रभा को लेकर राजा के यहाँ गयी । राजा बडे प्रसन्न हुए । दासी ने करबद्ध नमस्कार किया । वह चन्द्रप्रभा को वहीं छोड़कर नीचे उतर आयी, तब चन्द्रप्रभा को घोर चिन्ता हुई । उसने राजा मधु को कक्ष में एकाकी पाया । वह घबरा गयी, उसका सर्वांग थर-थर काँपने लगा । लज्जावश मौन धारण कर वह एक कोने में खडी हो गयी । यद्यपि उसकी उदासीनता देखकर राजा मधु भी सहमे, फिर भी कामी हृदय उन्मत्त हो उठा । वे स्वयं चन्द्रप्रभा का कर थाम कर बलात् उसे अपनी सेज पर ले आये । तत्पश्चात् उसे बहकाने के लिए अनेक मोहक शब्दो से प्रशंसा करने लगे--'हे रूपवती ! तुम प्रसन्न रहो । तुम्हे चिन्ता किस बात की ? तुम्हारा पति हेमरथ मेरा ही अनुचर है । यह तो तेरा सौभाग्य है कि तू निम्न श्रेणी से उन्मुक्त हो मेरी प्राणप्यारी बन रही है । तुझे इस सुयोग से हार्दिक प्रसन्नता होनी चाहिये ।' राजा मधु के ऐसे निन्द्य वाक्य सुनकर चन्द्रप्रभा ने कहा-'हे महाराज ! आप उत्तम कुल के भूषण है । धर्मात्मा एवं न्यायी होकर भी ऐसी निन्दनीय चेष्टा क्यो करते हैं ? जब रक्षक ही भक्षक बनेगा, तो

श्री प्रद्युम्न चरित्र

रक्षा कौन करेगा ? संसार में पर-स्त्री सेवन से गर्हित अन्य कोई पाप नहीं है । बुद्धिमान व्यक्ति ऐसी कुचेष्टा स्वप्न में भी नहीं करते एवं जो कुलीन स्त्रियाँ हैं, वे पर-पुरुष को चाहे वह कामदेव सदृश रूपवान ही क्यों न हो, स्वप्न में भी अंगीकार नहीं करतीं । वे दुराचार में प्रवृत्त होकर अपने पति को छल नहीं सकती ।' इस प्रकार चन्द्रप्रभा ने महाराज मधु को पर्याप्त समझाया । किन्तु उस पर किंचित भी प्रभाव न पड़ा । वह कामवासना से पीड़ित होकर बलात् चन्द्रप्रभा से रमण करने लगा । शनैः-शनैः राजा मधु ने उसे वचनों से, परिहास से, चुम्बन, विसत, रत, कुटिल दृष्टि, आदि काम-चेष्टाओं से कामासक्त कर दिया । फलस्वरूप चन्द्रप्रभा भी अपने पति राजा हेमरथ को विस्मृत कर बैठी । वह भी अंगों के संकोच, किंकण शब्द, मनोहर हाव-भाव, विलास-विभ्रम, गीत-नृत्य-इत्यादि से राजा मधु को प्रसन्न करने लगी । दोनों ओर से विविध प्रकारेण हास-परिहास होने लगे । कुछ काल तक यही क्रम जारी रहा । उसके पश्चात् राजा मधु ने चन्द्रप्रभा को अपने महल में रख लिया एवं उससे अपनी वासना की पूर्ति कर अपना जीवन सार्थक समझने लगा । उसने भाँति-भाँति के सुगन्धित द्रव्यों से जल की कई एक वापिकायें भरवायीं । उनमें चन्द्रप्रभा के साथ मनोवाँछित क्रीड़ा करने लगा । इस प्रकार अनेक उपवन, नदी, पर्वत आदि में विहार करते हुए उसने कितना समय व्यतीत किया, इसका भी उसे भान नहीं रहा । इसके पश्चात् चन्द्रप्रभा पर आसक्त होने के कारण उसने उसे अपनी पटरानी भी बना लिया ।

उधर राजा हेमरथ की जो दुर्दशा हुई, उस पर भी ध्यान दें । जो वृद्ध सेवक रानी चन्द्रप्रभा की देखरेख के लिए अयोध्या में छोड़े गये थे, उन्होंने जब यह देखा कि चन्द्रप्रभा राजा मधु की पटरानी बन गयी है, तो वे निराश होकर वटपुर लौट गये । उन्होंने राजा हेमरथ को सरा वृत्तांत कह सुनाया । अपनी प्राणप्यारी के वियोग में उसका हृदय छलनी हो गया । उसे कुछ क्षण के लिए तो मूर्च्छा ही आ गयी, वह अचेत होकर गिर पड़ा । किन्तु चतुर सेवकों ने तत्काल शीतलोपचार आरम्भ किया, जिससे उसकी मूर्च्छा दूर हो गयी । सचेत होते ही उसके नेत्र रक्तवर्ण हो गये । उसने मंत्रियों को आज्ञा दी--'यथाशीघ्र सेना का संगठन करो । मैं अभी अयोध्या पर विजय हेतु प्रस्थान करूँगा एवं राजा मधु को परास्त कर अपनी प्राण-प्यारी को ले जाऊँगा ।' नीतिज्ञ मंत्रियों ने परामर्श दिया--'हे महाराज ! आपका आक्रमण करना कदापि उचित नहीं होगा । महाराज मधु महाबली है । उसे परास्त करना सरल कार्य नहीं है ।' मंत्रियों से ऐसा परामर्श

पाकर राजा हेमरथ ने विचार किया कि वस्तुतः राजा मधु को सग्राम में परास्त करना दुष्कर है । फलत वह निरुद्यमी हो गया । खेद से खिन्न होकर सेज पर पडा रहा । उसकी दशा विचित्र हो गयी--कभी वह निरुद्देश्य हॅसने लगता, तो कभी गाने अथवा रोने लगता था । कभी-कभी सम्पूर्ण दिवस वह दिन गवाक्षो से अवलोकन मे व्यतीत कर देता था । चन्द्रप्रभा के अभाव में महल सूना देख कर वह उच्च-स्वर में रुदन करने लगता--'हे प्रिये,, प्राणवल्लभे ! तुझे अपहरण कराने का कारण मै ही हूँ । किन्तु अब मै क्या करूँ ? किससे कहूँ ।' इस प्रकार नाना प्रकारेण संकल्पों-विकल्पों से उसकी बृद्धि भ्रष्ट हो गयी । वह विचारहीन एवं उन्मत्त होकर इधर-उधर घूमने लगा । राजा हेमरथ की अवस्था दिन-प्रतिदिन बिगड़ने लगी। उसे सिवाय 'हे प्रिये ! हे प्रिये !! कहने के अतिरिक्त कुछ नहीं सूझता था। उस मन्दबुद्धि के मुख की कान्ति जाती रही, देहयष्टि मलीन एव केश रुक्ष हो गये । इस प्रकार मोहवश उन्मत्त (पागल) की अवस्था में राजा हेमरथ दैवयोग से अयोध्या में आ पहुॅचा । वह मार्ग में जाती हुई नारियों को देखकर उनके पीछे लग जाता । उनसे कहने लगता--'चन्द्रप्रभा ठहरो ! मेरा कथन तो सुन लो ।' उसे उन्मक्त समझकर कुछ नारियॉ कंकड़ एवं पत्थर मारने लगीं, जब कि कुछ नारियॉ देखकर ही पलायन कर जाती थी अर्थात् चारों ओर से राजा हेमरथ पर दुत्कारें पडती थीं । वह वीथि (गली) एवं मार्गो (सड़कों) पर भटकने लगा ।

एक दिन की घटना है कि रानी चन्द्रप्रभा गवाक्ष से निहार रही थी । उसकी वृद्धा दासी ने राजा हेमरथ को महल की ओर दौड़ते एवं हाय-हाय करते हुए देखा । वह पहिचान गयी कि ये महाराज हेमरथ है । अपने पूर्व स्वामी महाराज हेमरथ की दुर्दशा देखकर उसे बडी करुणा आयी । वह दु·खित होकर रुदन करने लगी । दासी को रुदन करते हुए देखकर चन्द्रप्रभा ने पूछा--'हे धाय मॉ ! तेरे रुदन से मै भी सन्तप्त हो रही हूॅ । तेरे इस रुदन का कारण क्या है ? क्या किसी ने तेरा अपमान किया है ?' दासी ने कहा--'हे पुत्री ! इस विलाप का कोई कारण नहीं । अनायास ही अश्रु प्रवाहित हो आये ।' जब रानी ने बारम्बार आग्रह किया, तो दासी कहने लगी--'हे पुत्री ! तुम तो सुख मे निमग्न होकर अपने पूर्व पति को विस्मृत कर बैठी हो । किन्तु मेरे प्राणप्रिय राजा हेमरथ की यह अवस्था है कि वह उन्मत्त हो गया है । वह नीच जाति के बालको के सघ यत्र-तत्र मारा-मारा फिरता है । उसकी दुर्दशा देखकर मुझे घोर सन्ताप हुआ है। मै इसीलिये विलाप करने लगी थी । अन्य कोई कारण नहीं है ।' दासी के ऐसे वचन सुनकर रानी चन्द्रप्रभा

को प्रचण्ड क्रोध आया । उसने कहा--'हे धाय माँ ! तूने यह उचित नहीं कहा । जिन रहस्यों से मुझे दुःख हो, उन्हें प्रकट करना उचित नहीं । तू विगत जीवन का स्मरण कराकर मुझे क्यों दुःखी करती है ? तूने अपना दुग्धपान करा कर मेरी जीवन-रक्षा की थी, इसलिये तू माता तुल्य है । यदि ऐसा न होता, तो मैं तुझे कठोर दण्ड देती । जिसका मुख स्वय पूर्ण चंद्र के सदृश है, जिसकी आकृति मनोज्ञ एवं नेत्र चंचल हैं, जिसकी देहयष्टि की रूपरेखा कामदेव को भी परास्त करती है, जिसके अधीन सहस्रों सामन्त राजा हों, ऐसे मेरे पति की तू निन्दा करती है ।' दासी ने समझा कि रानी मेरे कथन को असत्य समझती है । यदि इसकी यही धारणा रही, तो मुझ पर आगे भी रोष करेगी, अतएव राजा हेमरथ से साक्षात्कार करवा देने में ही कुशल है । उस चतुर धाय ने रानी से कहा--'कृपया धैर्य धारण करो । मैं राजा हेमरथ को तत्काल प्रस्तुत करती हूँ ।' चंद्रप्रभा ने कहा--'एवमस्तु ! बतला कहाँ है वह ?' उन्मत्त राजा हेमरथ उसी समय महल के नीचे आया । धाय ने मलिन वेष धारण किये हुए राजा हेमरथ को इंगित से दिखला कर कहा--'हे पुत्री ! आकृति एवं लक्षणों से यह राजा हेमरथ ही प्रतीत होता है । चतुर चन्द्रप्रभा भी समझ गयी कि वह उन्मत्त उसका पूर्व पति राजा हेमरथ ही है, जो 'चंद्रप्रभा-चंद्रप्रभा' कहकर प्रलाप कर रहा है । अपने पूर्व पति की ऐसी दुर्दशा देखकर चंद्रप्रभा भी अब शोक-सागर में निमग्न हो गई । उसने विचार किया--'धिक्कार है, मेरे जीवन को । मैं महापापिनी हूँ, जो मेरे वियोग में मेरे पति की ऐसी दुर्दशा हो रही है । धिक्कार है, इस स्त्री-जीवन को, जिसे सदा परवश रहना पड़ता है ।' जिस समय चन्द्रप्रभा अपने को बारम्बार धिक्कार रही थी, उसी समय राजा मधु भी वहाँ आ गया । चतुर रानी चन्द्रप्रभा अपनी मर्मान्तक पीड़ा को गुप्त रखकर महाराज मधु के सम्मुख उपस्थित हो गयी । उसने राजा मधु का आलिंगन कर प्रेम-सम्भाषण किया । राजा मधु भी पूर्व की ही भाँति महल की छत पर चला गया ।

शरद ऋतु की चन्द्र-ज्योत्स्ना में महाराज मधु चन्द्रप्रभा के साथ नगर की शोभा अवलोक रहे थे । उसी समय एक अन्य वैचित्र्य भी घटित हुआ । नगर का चण्डकर्मा नाम का कोतवाल एक पुरुष को दृढ़ता से बाँधकर ले आया । उसने राजा मधु को प्रणाम कर कहा--'हे महाराज ! इस युवक ने पर-स्त्री का सेवन किया है । इसलिये मैं इसे बाँध लाया हूँ । इसे उचित दण्ड मिलना चाहिये ।' कोतवाल का अभियोग सुनकर राजा मधु क्रोधाभिभूत हो उठा । उन्होंने आज्ञा दे दी--'हे कोतवाल ! इस पापी को ले जाकर

तत्काल शूली पर चढ़ा दो । ऐसे पापी को देखने से भी दोष लगता है ।' राजा मधु की आज्ञा सुनकर रानी चंद्रप्रभा ने विनयपूर्वक कहा--'हे नाथ ! यह पुरुष युवा है । इसे प्राण-दण्ड की आज्ञा क्यों देते है ? इसने ऐसा कौन-सा गर्हित अपराध किया है ?' राजा मधु ने उत्तर दिया--'हे देवी ! यह पर-स्त्रीगामी है । इससे निन्द्य भला अन्य कौन-सा पाप है ?' रानी चंद्रप्रभा ने मुस्कराकर कहा--'मुझे तो इसमें कोई दोष नहीं दीखता । आप व्यर्थ में ही इस निर्दोष को प्राणदण्ड दे रहे हैं ।' तब राजा मधु ने शास्त्र-प्रमाण के साथ उत्तर दिया--

'पर-स्त्री गमनं नूनं देवद्रव्यस्य भक्षणे ।
सप्तमं नरकं यान्ति प्राणिनो नात्र संशयः ॥'

अर्थात् इसमें सन्देह नहीं कि पर-स्त्री गमन एवं देव-द्रव्य अपहरण करनेवाले को सप्तम नरक की प्राप्ति होती है । यदि समस्त पाप एक ओर पड़ले पर रखे जायें एवं पर-स्त्री सेवन का पाप दूसरी ओर पड़ले पर, तो भी अपेक्षाकृत पर-स्त्री-गमन ही भारी होगा । अतएव निश्चय समझ लो कि इससे घोर निन्दनीय अन्य कोई पाप नहीं । पर-स्त्री गमन करनेवाले लोक में कलंक, प्राण-दण्ड एवं परलोक में नरक के पात्र होते हैं । इसलिये पराई स्त्री का सर्वथा त्याग करना चाहिये । वह उच्छिष्ट वस्तु के सदृश होती है, उससे धन-धान्य का विनाश हो जाता है ।'

अब चन्द्रप्रभा को प्रत्युत्तर का सुअवसर मिला । उसने कहा--'हे महाराज ! आप तो प्रकाण्ड शास्त्रवेत्ता बन गये हैं । जब आप पाप-पुण्य के स्वरूप को जानते है, तो मेरा हरण क्यो किया ? क्या आपने मेरे पितृगृह जाकर मेरे साथ परिणय किया था ? यदि नहीं तो क्या आप मेरे सतीत्व भग करने के अपराधी नहीं ठहरेंगे ?' उस समय राजा मधु को तो मानो काठ मार गया । भला, वे क्या उत्तर देते ? उसी समय उन्हें वैराग्य उत्पन्न हो आया । वे अपने दुष्कृत्यों पर विचार करने लगे । मैंने तो घोर निन्दनीय कर्म किये हैं । पर-स्त्री सेवन एवं पर-स्त्री अपहरण सर्वथा अनुचित है । मैं तो धर्माधर्म के स्वरूप को भली प्रकार जानता था, फिर यह दुष्कर्म कैसे हो गया ? असत्य स्वप्न मे भी सत्य के सिंहासन पर आरूढ़ नहीं हो सकता एवं अधर्म त्रिकाल में भी धर्म का पद प्राप्त नहीं कर सकता । इसलिये बुद्धिमानों को चाहिये कि वे अधार्मिक कार्यों का परित्याग कर दें । इस देह की उत्पत्ति माता-पिता के रज-वीर्य से हुई है । यह

मल-मूत्रादि के अशुचि स्थानों में रह कर निन्द्य द्वार से बाहर निकला है । जब यह अपवित्र शरीर सप्त धातुमयी अस्थि-चर्म का पिण्ड है, तो इसे देखकर मोह कैसे उत्पन्न हो सकता है ? यह संसार की घोर विचित्रता है । क्या मेरे अन्तःपुर में रूपवती रानियाँ नहीं थीं ? फिर मेरे द्वारा पर-स्त्री का सतीत्व कैसे भंग हुआ ? मैंने इस भव में जैसा उद्यम-उपार्जन किया, उसका तदनुरुप फल तो भोगना ही पड़ेगा । इस प्रकार विषयों से विरक्त होकर राजा मधु संसार की असारता पर गूढ़ विचार करने लगे । उनकी वैराग्य परिणति उत्तरोत्तर बढ़ने लगी । उन्होंने उस प्राण-दण्ड प्राप्त अपराधी को मुक्त करने की आज्ञा दे दी । संयोग से एक दिन एक निर्ग्रन्थ मुनि आहार के लिए राजमहल की ओर आये । उन्हें देखकर महाराज मधु विनयपूर्वक उनके निकट गये । राजा मधु ने मुनिवर की तीन प्रदक्षिणा देकर, अनुरोध किया--'हे प्रभो ! तिष्ठो, तिष्ठो ! आहार-जल शुद्ध है ।' तत्पश्चात् उन्होंने मुनिराज को प्राणीरहित आसन पर विराजमान कराया, भक्तिभाव से उनका चरण-प्रक्षालन किया एवं उनके चरणोदक को मस्तक पर चढ़ाया ।

मुनिराज की पूजा-वन्दना कर राजा ने अपने को पवित्र किया । तत्पश्चात् रानी चन्द्रप्रभा के संग पापों का प्रत्याख्यान करके महाराज मधु ने नवधा-भक्ति के साथ मुनि को आहार-दान दिया एवं अगाध पुण्य का उपार्जन किया । जब मुनि का निर्विघ्न आहार हो गया, तो आहार-दान के प्रभाव से राजा मधु के यहाँ पंचाश्चर्य प्रकट हुए । वस्तुतः शुद्ध भाव से किये हुए कार्य में सफलता अवश्य मिलती है । मुनिराज आहार ग्रहण करने के उपरान्त वन मे विहार कर गये । कालान्तर में वहाँ उन्होंने घातिया कर्मो का नाश कर दिव्य केवलज्ञान प्राप्त किया ।

वनपाल ने आकर राजा मधु को मुनिराज के केवलज्ञानी होने का शुभ समाचार कह सुनाया । यह शुभ सम्वाद सुनकर राजा मधु की प्रसन्नता का पारावर न रहा । वे गजारूढ़ हो कर नगर-निवासियों के संग मुनि-वन्दना के लिए चल पड़े । केवली भगवान को देखते ही राजा मधु ने राज-चिन्हों का परित्याग कर अष्टांग नमस्कार किया । आशीर्वाद में मुनि ने कहा--'धर्मवृद्धि हो ।' उस समय महाराज मधु पृथ्वी पर बैठ गये । उन्होंने मुनिराज से निवेदन किया--'हे स्वामी ! आप मुझे जिन-धर्म का वास्तविक स्वरूप समझाइये ।' मुनिराज ने कहा--'हे राजन् ! जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे हुए दश प्रकार के धर्मो का मैं संक्षेप में वर्णन करता हूँ ।' धर्म का स्वरूप सुनकर राजा मधु को वैराग्य उत्पन्न हो गया । वे दिगम्बर दीक्षा लेकर

मुनि हो गये । उनकी परिणीता पूर्व-पटरानी ने आर्यिका के व्रत स्वीकार किये । इसी समय राजा मधु के अनुज कैटभ ने भी अपनी पत्नी के साथ दीक्षा ले ली । कैटभ मुनि हुए एव उनकी पत्नी आर्यिका । चन्द्रप्रभा ने देखा कि अब तो मै दोनो ओर से भ्रष्ट हो रही हूॅ--कारण प्रथम पति तो विरह मे उन्मत्त हो गया एव दूसरा दिगम्बर मुनि । तब उसने भी श्रद्धापूर्वक आर्यिका के व्रत की दीक्षा ले ली ।

इस प्रकार सब जीवो ने गुरु-भक्ति मे दत्तचित्त होकर तपश्चरण एव जेन-शास्त्रो का अध्ययन किया। शास्त्र-पारगंत होकर पुण्य-योग से समाधिमरण करके वे सब-के-सब म्वर्गलोक को प्राप्त हुए । चन्द्रप्रभा के जीव ने देवांगना की अवस्था मे राजा मधु के जीव (देव) के साथ दीर्घ काल तक सुख भोग किया, तत्पश्चात् हरिपत्तन नगर के राजा हरि की पत्नी हरिवती से कनकमाला नामकी पुत्री हुई । वही कनकमाला मेघकूट के राजा कालसंवर की रानी हुई । राजा मधु का जो जीव तपश्चरण के प्रभाव से सोलहवें स्वर्ग मे देव हुआ था, वह नारायण श्रीकृष्ण की स्त्री रुक्मिणी के गर्भ मे आया एवं कैटभ का जीव श्रीकृष्ण की रानी जाम्बवती के गर्भ में । पर राजा हेमरथ का जीव आर्त्त भाव से मरण कर चिरकाल तक निम्न योनियो में परिभ्रमण करता हुआ धूमकेतु नामक असुर जाति के देवो का नायक देत्य हुआ । यही दैत्य आकाश-मार्ग से क्रीडा करता हुआ जा रहा था । दैवयोग से उसका विमान द्वारिका नगरी मे रुक्मिणी के महल पर स्तम्भित हो गया । दैत्य को ज्ञात हो गया कि पूर्व-भव मे जिस राजा मधु ने मेरी प्रिय पत्नी का अपहरण किया था, वही मेरा शत्रु यहॉ जन्मा हे । ऐसा विचार कर वह क्रुद्ध दैत्य मात्र षष्ठ दिवस पूर्व जन्मे उस अबोध शिशु को हरकर ले गया । अतएव हे नृपति ! किसी से बैर नहीं करना चाहिये । इससे धर्म का विनाश होता है एव नरकादि की वेदना सहना पडती है । ज्ञानीजनों को ससार के कारणभूत बैर-विरोध का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ।'

इस प्रकार श्री सीमन्धर स्वामी ने अपनी दिव्य-ध्वनि द्वारा पद्मनाभ चक्रवर्ती आदि श्रोताओं को प्रद्युम्नकुमार का पवित्र वृत्तान्त सुनाया, इससे सब जीवधारियों को अतिशय शान्ति मिली । श्रीकृष्ण के पुत्र का वृत्तान्त सुनकर नारद मुनि बड़े प्रसन्न हुए । तीर्थंकर को साष्टाग नमस्कार कर उन्होने वहॉ से प्रस्थान किया । तत्पश्चात् वे नारायण श्रीकृष्ण के पुत्र के दर्शन की अभिलाषा से विजयार्द्ध श्रेणी मे स्थित मेघकूट नामक पर्वत पर चले आये एव राजा कालसवर की सभा मे उपस्थित हो गये । नारद मुनि को देख कर

समस्त सभा सम्मान में उत्तिष्ठ (खडी) हो गयी । राजा कालसम्वर ने उनका यथोचित आदर-सम्मान किया । आशीर्वाद प्रदान कर नारद सुन्दर आसन पर विराजमान हुए। कुछ काल तक परस्पर वार्तालाप होता रहा । तत्पश्चात् नारद ने कहा--'हे राजन् ! मैं तुम्हारा अन्तःपुर देखना चाहता हूँ ।' राजा कालसम्वर ने उत्तर मे कहा--'हे स्वामिन । यह तो आप की महती कृपा होगी, यदि आप मेरे गृह को पवित्र करें ।' श्रीकृष्ण-पुत्र प्रद्युम्न को देखने की अभिलाषा से इस प्रकार नारद रनिवास में आ पहुँचे ।

रानी कनकमाला ने नारद मुनि का बड़ा सम्मान किया । मुनि ने कहा--'हे रानी ! मैंने सुना है कि तेरे गूढ गर्भ से पुत्र की उत्पत्ति हुई, उसे दिखला तो सही ।' रानी कनकमाला ने पुत्र को लाकर मुनि के चरणों में रख दिया । मुनि ने आशीर्वाद देते हुए कहा--'हे पुत्र ! चिरन्जीवी भव । चिरकाल तक सुखी रह । तेरे माता-पिता के मनोरथ सिद्ध हों ।' उन्होंने रानी को सम्बोधित करते हुए कहा--'हे रानी ! तू बड़ी भाग्यशालिनी है । मेरी अभिलाषा है कि यह पुत्र चिरकाल तक जीवित रहे ।' नारद ने श्रीकृष्ण-पुत्र को सर्वाग निहारा एवं फिर वे अन्तःपुर से निकले एव तत्काल रुक्मिणी को सूचित करने के उद्देश्य से उन्होंने त्वरित गति से प्रस्थान किया ।

द्वारिका पहुँच कर नारद सर्वप्रथम नारायण श्रीकृष्ण से मिले, इसके पश्चात् रुक्मिणी से । उन्होंने श्री सीमन्धर स्वामी द्वारा वर्णित प्रद्युम्न-विषयक सम्पूर्ण वृत्तान्त रुक्मिणी से कह सुनाया, अर्थात् उसका स्थान, पूर्व-भव की वार्ता, वय, रूप, लक्षण, आगमन काल, आदि कह सुनाये । साथ ही यह भी कहा कि वह सोलह लाभ एवं दो विद्याओं के साथ द्वारिका में आयेगा । समस्त वृत्तान्त सुन कर रुक्मिणी के आनन्द का पारावार न रहा । इस प्रकार नारद सब को सन्तोष प्रदान कर अपने स्थान को लौट गये । ममता की मूर्ति रुक्मिणी अपने प्रिय पुत्र के आगमन की आशा लगाये सुख से रहने लगी । आचार्य का कहना है--'इसी प्रकार विषयासक्त ससारी जीव निरन्तर नाना योनियों में परिभ्रमण करते हैं । अतएव भव्य जीवों को चाहिये कि स्वर्ग-मोक्ष का प्रदायक तथा जिनेश्वर द्वारा प्रणीत सोम एवं चन्द्रमा के सदृश निर्मल धर्म को सदाकाल धारण करें ।'

नवम् सर्ग

कुमार प्रद्युम्न के बाल्य-जीवन पर पूर्व-पुण्य का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि उसकी सुन्दरता अपूर्व

श्री प्रद्युम्न चरित्र

हो गयी । समग्र प्राणी उसकी ओर आकर्षित हो जाते । वह चन्द्रकला की भॉति दिन-प्रतिदिन वृद्धिमान होने लगा । साथ-ही-साथ राजा कालसम्वर के धन-धान्य (वैभव) की वृद्धि होने लगी । राजा एव रानी दोनों प्रद्युम्न को प्राणो से भी अधिक प्यार करने लगे । सत्य है, ऐसा सौभाग्य पूर्व-भव के पुण्य से ही प्राप्त होता है । कुमार ने क्रम से युवावस्था मे पदार्पण किया । किन्तु युवावस्था में उसे विकार उत्पन्न नहीं हुआ । वह अल्पकाल मे ही शास्त्रो में निपुण हो गया । उसकी कला-कुशलता एवं वीरता अभिमान करने के योग्य हुई । जो शत्रु भी अपने प्रचण्ड सैन्य बल के साथ राजा कालसम्वर पर आक्रमण करते थे, उनसे प्रद्युम्न स्वयं युद्ध करता एवं परास्त कर भगा देता था । उसे ये सारी शक्तियॉ पूर्व-भव के पुण्य से प्राप्त हुई थीं । उसने शत्रुओ पर विजय प्राप्त कर उज्जवल कीर्तिका उपार्जन किया । तत्पश्चात् एक विशाल सेना लेकर वह दिग्विजय के लिए निकल पडा । सग्राम में उसने प्रचण्ड सेनाओं के अधीश्वर अनेक विद्याधर नरेशो को परास्त कर दिया । दिग्विजय प्राप्त कर अपार विभूति के साथ कुमार प्रद्युम्न अपने निवास को लौटा । जब राजा कालसम्वर को उसके आगमन की सूचना मिली, तो उसने मन्त्रियो को आज्ञा देकर सम्पूर्ण नगर को तोरणादि से सजाया एवं विराट महोत्सव के साथ कुमार प्रद्युम्न ने नगर में प्रवेश किया । उसने श्रद्धापूर्वक अपने पिता का चरणस्पर्श किया । उस समय अपने विजयी पुत्र को देखकर राजा कालसम्वर के आनन्द की सीमा न रही । उसने मन मे विचार किया--'यद्यपि मैंने प्रद्युम्न को युवराज पद दे दिया है, किन्तु यह रहस्य अभी गोपनीय है । अतएव मै सर्वसाधारण के सामने उसे युवराज पद प्रदान करूँगा । ऐसा विचार कर राजा कालसम्वर ने शुभ मुहूर्त्त मै देश-देशान्तरो के राजाओ को आमत्रित कर सबके समक्ष कुमार प्रद्युम्न को सम्बोधित कर कहा--'हे प्रिय पुत्र । मेरी घोषणा को ध्यानपूर्वक सुनो । जिस समय तू वन में अपनी माता के गूढ गर्भ से उत्पन्न हुआ था, उसी समय मैंने तुझे युवराज पद प्रदान कर दिया था । किन्तु वह रहस्य अब तक गोपनीय ही था । इसलिये आज मै सर्वसाधारण के समक्ष तुझे युवराज पद प्रदान करता हूँ । इसे स्वीकार कर लेने मे तम्हें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये ।' भला, राज्य किसे प्रिय नहीं होता ? इस महोत्सव की खुशी मे राजा कालसम्वर ने याचको को मुक्त हस्त दान दिया एव स्वजनो-परिजनो के मनोरथ पूर्ण किये । कुमार प्रद्युम्न की कीर्ति चतुर्दिक विकीर्ण हो गयी । समस्त नगर मे उसी को चर्चा होने लगी ।

रानी कनकमाला के अतिरिक्त राजा कालसम्वर की अन्य पॉच सौ रानियॉ भी थी एव उनसे पंच-शतक विद्या-विशारद पुत्र उत्पन्न हुए थे । अपनी-अपनी माता को प्रात काल प्रणाम करना उनका दैनिक कृत्य था । एक दिन उनकी माताओ ने अपने पुत्रों पर क्रोधित होकर कहा--'रे शक्तिहीन कुपुत्रो! तुम्हारे होने, न होने से लाभ ही क्या है ? नहीं देखते हो, जिसके कुल-गोत्र का कोई निश्चय नही, उस दुष्टात्मा ने तुम्हारा राज्य (युवराज पद) हस्तगत कर लिया है । इससे उत्तम था कि सब वीरगति को प्राप्त हो गये होते । अतएव तुम्हें यथासम्भव शीघ्र ही उसका वध कर डालना चाहिये । उसके जीवन काल में तुम सब कुछ भी अर्जित न कर पाओगे ।' उन कुटिल बुद्धिवाले राजपुत्रों ने भी निश्चय कर लिया कि चाहे जो हो प्रद्युम्न का वध करना है । उन्होंने अपनी माताओं से कहा--'जैसी आपकी आज्ञा । हम सब उसके प्राण-हरण का उद्योग करेंगे ।' वे सब-के-सब आकर कामदेव (प्रद्युम्न) से मिले । उन मायावियो ने प्रद्युम्न से यथेष्ट प्रीत-प्रेम बढ़ायी एव आहारविहार-शयन आदि में घात का अवसर ढूॅढ़ने लगे । केवल इतना ही नहीं, प्रद्युम्न के आहार-पान की वस्तुओं में विष मिलाने लगे । किन्तु दैवयोग से वह विष भी अमृत तुल्य आचरण करने लगा । यह तो निश्चित ही है कि पूर्व पुण्य से अनिष्ट पदार्थ भी सुखदायक होते हैं ।

जब किसी प्रकार से दुष्टों का दॉव न चल सका, तो उन्होंने दूसरा मार्ग निश्चित किया । इस हेतु वे अपने ज्येष्ठ भ्राता वज्रदंष्ट्र को अगुआ बना कर कुमार प्रद्युम्न को विजयार्द्ध पर्वत पर ले गये । वहॉ श्रीजिनेन्द्र भगवान का रत्न-सुवर्णमय विशाल मन्दिर था । उसके अन्दर जाकर सबने जिन-वन्दना की । जब वे मन्दिर से बाहर निकले, तो उन्होंने गिरि शिखर पर गोपुर देखा । महाधूर्त वज्रदष्ट्र ने कहा--'हे भ्रातागण ! आज मैं तुम्हें एक लाभप्रद विषय बतलाता हूॅ । विद्याधरों का कहना है कि जो व्यक्ति इस गोपुर में प्रविष्ट होगा, उसे मनोवॉछित फल मिलेगा । इसलिये तुम लोग यही रहो, मैं लाभ प्राप्त कर लौटता हूॅ ।'

उस समय पराक्रमी प्रद्युम्न बोल उठा--'पूज्य भ्राता । आप मुझे आज्ञा दीजिये, मै ही गोपुर में प्रविष्ट होकर इस लाभ को प्राप्त कर लूॅ । कुटिल वज्रदंष्ट्र ने तत्काल कह दिया--'एवमस्तु ! 'निःशंक होकर प्रद्युम्न गोपुर की ओर अग्रसर हुआ । क्रमशः अपना वेग बढाते हुए उसने प्रचण्ड शक्ति से गोपुर के

अवरुद्ध द्वारो को उन्मुक्त करने का प्रयास किया । कोलाहल सुनकर भुजग नामक रक्षक देव जाग्रत हो उठा । उसने नेत्र रक्तिम कर प्रद्युम्न से जिज्ञासा की--'रे दुष्ट ! तूने मेरे पवित्र स्थान को अपवित्र कर डाला ? क्या तुझे ज्ञात नही कि जो मेरे निवास मे अनधिकार प्रवेश करता है, उसे मै तत्काल मृत्यु-दण्ड प्रदान करता हूँ ? क्या तेरा काल आ गया है या किसी ने तुझे बहका दिया है ?' कुमार प्रद्युम्न ने बडी धीरता से उत्तर दिया--'रे असुराधम ! क्यो व्यर्थ मे प्रलाप कर रहा है । यदि तुझमे बल हो तो मुझ से युद्ध कर । ज्ञात हो जायेगा कि कौन अधिक बली है ?' देव ने क्रोधित होकर कुमार पर प्रहार किया । कुमार ने भी वीरतापूर्वक सामना किया । दोनों मे मल्ल-युद्ध होने लगा । वे मुष्टि, चपेट एवं हुँकार की ध्वनि से दीर्घ काल तक सग्राम करते रहे । अन्त मे भुजग देव ने पराजय स्वीकार कर ली । कुमार के चरणो में गिरकर वह कहने लगा--'हे नाथ ! मै आपका सेवक हूँ । आप मेरे स्वामी है । अतएव कृपा कर मेरा अपराध क्षमा करें ।' कुमार के सौजन्य से प्रसन्न होकर उसने उन्हें एक सुवर्णमय रत्नजटित सिंहासन पर विराजमान किया ।' उस पर आसीन होकर कुमार ने देव से पूछा--'तुम कौन हो ? इस गोपुर मे किस उद्देश्य से निवास करते हो ?' देव ने मस्तक नत कर कहा--'मै सत्यासत्य निवेदन कर रहा हूँ कि यहाँ मै आपके समागम हेतु ही निवास कर रहा था । यह रहस्य इस प्रकार है--

इसी विजयार्द्ध पर्वत-श्रेणी मे अलकार नाम का नगर है, वहाँ कनकनाभि नाम का राजा राज्य करता था । उसकी रानी अनिला बडी पतिव्रता थी । उनके यहाँ एक गुणवान पुत्र का जन्म हुआ । उसका नाम हिरण्यनाभि रखा गया । कनकनाभि ने दीर्घ काल तक राज्य-सुख भोगा, किन्तु कालान्तर में चन्चला लक्ष्मी एवं क्षणभंगुर जीवन से उन्हे विरक्त हो गयी । अपने पुत्र को राज्य का भार सौंप कर उन्होने वन मे पिहिताश्रव मुनिराज से दिगम्बरी दीक्षा ले ली । कनकनाभि ने गुरु के समीप द्वादशाग का अध्ययन किया । तत्पश्चात् उग्र तपश्चरण द्वारा समस्त घातिया-कर्मो का विनाश कर वह केवलज्ञानी हो गये । राजा हिरण्यनाभि निष्कंटक राज्य कर रहा था । उसके राज्य मे न तो किसी शत्रु का भय था एवं न कोई अनिष्ट की आशका थी । एक दिन वह अपने महल की छत पर बैठा हुआ था । तब उसने असीम विभूति एव विशाल सेना से सम्पन्न दैत्येन्द्र के राज्य को देखा । इतनी प्रभूत सम्पदा अवलोक कर हिरण्यनाभि ने विचार किया कि इस सम्पदा की तुलना मे मेरी राज्य सम्पदा तो नगण्य है । अतएव धिक्कार है मेरे जीवन

एवं मेरी विभूति को । अब मुझे ऐसा साधन करना चाहिये, जिससे मनोवॉछित फल की प्राप्ति हो सके। ऐसा दृढ़ संकल्प कर उसने राज्य का भार अपने अनुज को सौंप दिया एवं स्वयं विद्या-साधनार्थ वन में जाकर तपस्या करने को उद्यत हुआ । उसने गुरु द्वारा प्राप्त विद्याओं का यथेष्ट साधन किया । अन्त में रोहिणी एवं अन्य विद्याओं का साधन कर स्वदेश लौटा । यहॉ आकर अनुज से राज्य-भार ले कर पुनः शासन करने लगा । विद्याओं द्वारा प्राप्त किये हुए वैभव से हिरण्यनाभि इन्द्र सदृश शोभित था । पुण्य के प्रभाव से उसने चिरकाल तक निष्कटंक राज्य किया ।

किन्तु एक दिन अकस्मात् राजा हिरण्यनाभि को वैराग्य उत्पन्न हो गया । वह यथाशीघ्र राज्य का भार अपने पुत्र को सौंपकर श्री नेमिनाथ स्वामी के समवशरण में गया । उसने जिनेश्वर के चरणों में नमस्कार कर प्रार्थना की--'हे भगवन् ! मुझे यह तथ्य अब भलीभॉति समझ में आ गयी है कि मैं अनादिकाल से इस संसार में भ्रमण कर रहा हूँ । अतएव आप मुझे कोई उत्कृष्ट व्रत प्रदान कीजिये ।' श्रीनेमिनाथ स्वामी ने उत्तर दिया--'हे भव्य ! तुम्हारा यह विचार उत्तम है । जिनेश्वरी दीक्षा बिना अतुल सौभाग्य के नहीं प्राप्त हो सकती । तुझे इस महाव्रत को अवश्य स्वीकार करना चाहिये ।' जब हिरण्यनाभि दीक्षा लेने के लिए प्रस्तुत हुआ, उस समय विद्याओं ने राजा से प्रार्थना की--'हे नाथ ! आप तो जिनेन्द्रभाषित दीक्षा लेने जा रहे हो, तब हम तो अनाथ हो जायेंगी । ऐसी स्थिति में हम क्या करें ?' हिरण्यनाभि ने तत्काल ही श्री नेमिनाथ से पूछा--'हे भगवन् ! आप कृपा कर प्रकट करें कि इन विद्याओं का स्वामी कौन होगा ?' उस समय जिनेन्द्र ने दिव्यध्वनि की--'हे वत्स ! इन विद्याओं का स्वामी बड़ा ही होनहार है । मैं बतलाता हूँ । सुनो--

हरिवंश शिरोमणि नवम् नारायण श्रीकृष्ण (श्री नेमिनाथ तीर्थकर के ज्येष्ठ भ्राता) हैं । उन्हीं के प्रद्युम्न नाम का एक महाबली पुत्र होगा, वह किसी कारणवश इस गोपुर में आयेगा । उस समय वह पराक्रमी इन विद्याओं का स्वामी होगा ।' भगवन के ऐसे वचन सुनकर हिरण्यनाभि ने मुझसे कहा कि जो बलवान एवं सर्वमान्य पुरुष गोपुर में आवे एवं तुझ से युद्ध के लिए प्रस्तुत हो, वही उन विद्याओं का नायक होगा । अतः तुम गोपुर में जाकर रहो । इतना कहकर हिरण्यनाभि ने दीक्षा ग्रहण कर ली । उसने अनेक शास्त्रों का अध्ययन कर आत्म-स्वरूप का ध्यान किया । तत्पश्चात् घातिया-अघातिया कर्मो का

नाशकर वह परम पद को प्राप्त हुआ । उसकी आज्ञा के अनुसार मै उसी समय से आपकी बाट देखता हुआ यहाँ निवास कर रहा हूँ । अब आप कृपा कर इन विद्याओं एव इस निधि को स्वीकार करें ।' विद्याओ ने भी अमूल्य रत्नों का मुकुट एव आभरण प्रदान कर प्रद्युम्न से विनयपूर्वक कहा--'हे स्वामी ! श्रीनेमिनाथ स्वामी ने जैसी दिव्य-ध्वनि की थी, तदनरूप ही आप योग्य है । आप पराक्रमी एव ऐश्वर्यशाली है, हम सब आपकी अनुचर हैं, हमे आप आज्ञा दें ।' कुमार ने कहा--'एवमस्तु । जब कभी मै स्मरण करूँ, तब उपस्थित हो जाना ।'

धूर्त वज्रदंष्ट्र ने देखा कि कुमार को गोपुर में प्रविष्ट हुए पर्याप्त विलम्ब हो चुका है, तो उसने प्रसन्न होकर अपने अनुजों से कहा--'यह सत्य समझो कि कुमार रक्षक दैत्य द्वारा अवश्य निहत हुआ है । चलो, आनन्दपूर्वक नगर को लौट चलें ।' किन्तु जब वे प्रस्थान हेतु उद्यत हुए, तो गोपुर से कुमार निकलता हुआ दिखलाई दिया । कुमार को जीवित अवस्था मे एवं आभूषणो से सजे हुए देखकर उनका अभिमान चूर हो गया । किन्तु अपना कपट-भाव छिपा कर वे पुनः कुमार से मिले एव सरल-हृदय कुमार को कालगुफा की ओर ले चले । कुछ दूर चल कर महाकपटी वज्रदष्ट्र ने कहा--'हे प्रिय भ्राताओं ! इस गुफा मे प्रवेश करनेवाले को सुखदायक इष्ट वस्तुओं की प्राप्ति होगी । अतएव तुम लोग कुछ काल तक यहीं विश्राम करो । मै गुफा मे से सिद्धियाँ प्राप्त कर शीघ्र लौटता हूँ ।' वीरवर कुमार ने निवेदन किया--'हे भ्राताश्री! मुझे ही गुफा में जाने की अनुमति देवें ।' वज्रदष्ट्र ने प्रसन्नता के साथ उसे गुफा-प्रवेश की आज्ञा दे दी। कुमार निर्भय होकर गुफा मे प्रवेश कर गया ।

भीतर प्रवेश कर कुमार ने प्रचण्ड घोष किया । फलतः वहाँ निवास कर रहे राक्षसेन्द्र की निद्रा भग हो गई । वह नेत्र लोहित कर सम्मुख प्रकट हो गया । उसने कुमार से कहा--'अरे नराधम । इस पवित्र स्थान को भ्रष्ट करने का तुझमें साहस कैसे हो गया ? इस गुफा का रहस्य तूने सुना नहीं था ? क्या यमराज के गृह हेतु प्रस्थान का निश्चय कर लिया है ?' कुमार ने भी उसी स्वर में कहा--'रे नीच । केवल वाक्यालाप से वीरता प्रकट नही होती । यदि तुझ मे शक्ति है, तो युद्ध के लिए सन्नद्ध हो ।' राक्षसेन्द्र विकृत मस्तिष्क का तो था ही । वह कुपित होकर कुमार पर प्रहार करने लगा । दोनो ने मल्ल युद्ध आरम्भ कर दिया । किन्तु जब राक्षस ने अनुभव कर लिया कि यह कोई सामान्य युवक नही है वरन् एक अजेय

योद्धा है, तो वह उसके चरणों मे गिर पड़ा । तत्पश्चात् उसने कुमार को दो चॅवर, एक निर्मल छत्र, एक पवित्र रत्न, एक सुन्दर खड्ग, वस्त्राभूषण एवं पुष्प भेंट में दिये । साथ ही यह भी निवेदन किया-'हे नाथ ! मैं आपका दास हूँ, आप मेरे स्वामी हैं ।' कुमार छत्र, चॅवरादि साथ में लेकर कालगुफा से बाहर निकल आया ।

कुमार के दुष्ट भ्राताओं ने देखा कि वह अब भी सुरक्षित है एवं प्रसन्नता के साथ चला आ रहा है, तो वे हतप्रभ हो गये । पर शीघ्र ही उन मायावियों ने कुमार के आने पर कृत्रिम प्रसन्नता प्रकट की एवं उसे नाग नाम की अन्य गुफा की ओर ले गये । दूर खड़े हो कर वज्रदंष्ट्र ने कहा--'इस गुफा में प्रवेश करनेवाला भी मनोवॉछित वस्तुओं का स्वामी बनेगा । अतएव मैं अभी जाकर लौटता हूँ ।' किन्तु साहसी कुमार अबकी बार भी जाने के लिए उद्यत हो गया एवं निर्भय होकर उसने गुफा में प्रवेश किया । वहॉ नागराज को परास्त कर उसे अपने वश में कर लिया । कुमार के अद्भुत पराक्रम से प्रसन्न होकर नागराज ने प्रणाम किया एवं दक्षिणा में नाग-शैय्या, वीणा, सिंहासन, वस्त्र, आभूषण एवं गृह, कारिका, संथा, सैन्य, रक्षिका--ये चार विद्यायें भी दीं । कुमार नागराज को अपना वशवर्ती बनाकर अपने भ्राताओं के सानिध्य में लौट आया । वे मायावी (कपटी) अबकी बार भी प्रसन्नतापूर्वक मिले ।

इसके पश्चात् वज्रदंष्ट्र अपने भ्राताओं के साथ कुमार को एक बावड़ी के तट पर ले आया । वहॉ आकर उसने कहा--'जो व्यक्ति निःसंकोच इस वापिका में स्नान करता है, उसे समस्त निधियॉ प्राप्त होती हैं एवं वह त्रिलोक का स्वामी होता है ।' अग्रज की उक्ति सुनकर कुमार उसी समय वापिका में कूद पडा । वह गजेन्द्र की भॉति जल में किलोल्ल करने लगा । जल के आलोडित होने से वापिका-रक्षक देव अत्यन्त क्रोधित हुआ । उसने बाहर निकल कर कहा--'अरे नराधम ! तूने सुरेन्द्र की निर्मल वापिका क्यों अपवित्र की ? वापिका के निर्मल कमलों को बड़ा आघात पहुँचा है । इसलिये मैं तुझे यमपुरी पठाता हूँ ।' देव के निंद्य वचन सुनकर कुमार ने क्रोध से सन्तप्त होकर कहा--'अरे असुराधम ! व्यर्थ का प्रलाप क्यों करता है ? यदि तुझ में शक्ति है, तो मुझसे युद्ध के लिए प्रस्तुत हो ।' देव भी तत्काल सन्नद्ध हो गया । दोनों में प्रचण्ड युद्ध हुआ एवं अन्त में कुमार विजयी हुआ । कुमार के पराक्रम से देव कातर हो गया । कुमार के चरणों में गिरकर उसने कहा--'हे महाराज ! मैं आपका दास हूँ ।' देव ने कुमार की पूजा

कर उन्हें मकर की एक ध्वजा प्रदान की । उसी समय से प्रद्युम्न का एक नाम मकरकेतु हुआ । वापिका से सफलता प्राप्त कर जब कुमार बाहर आये, तो उनके दुष्ट भ्राताओ को बड़ी निराशा हुई । वे एक दहकते हुए कुण्ड को दिखलाने के लिए उसे ले गये । कुण्ड के समीप जाकर वज्रदष्ट्र ने कहा--मैने वृद्ध विद्याधरो से सुना है कि इस कुण्ड में प्रवेश करनेवाला मनोवॉछित फल प्राप्त करने के साथ-साथ लोक-प्रसिद्ध नरेश भी होगा ।' कुमार तत्काल कुण्ड में कूद पडा । वहॉ के रक्षक-दैत्य एव कामदेव (कुमार) में घोर युद्ध हुआ । अन्त में दैत्य पराजित हुआ एव उसने बडी नम्रता से कहा--'आप मुझ पर प्रसन्न हों । कृपाकर आप अग्नि द्वारा धौत एवं सुवर्ण केतु से बने हुए दो वस्त्र ग्रहण करे ।' कुमार ने वैसा ही किया । वे दिव्य वस्त्र लेकर वे (शत्रु) भ्राताओं के समीप आ गये । वज्रदंष्ट्र अपने उददेश्य की येन-केन-प्रकारेण पूर्ति करना चाहता था । वह कुमार को एक भैषजकार पर्वत पर ले गया । पर्वत के समीप खड़ा होकर उसने कहा--'जो वीर इस पर्वत पर चढ सकेगा, उसे इच्छा के अनुसार फल प्राप्त होगे ।' कुमार अपने भ्राताओं का अभिवादन कर पर्वत पर जा पहुँचा । जब वह शिखर के मध्य में पहुँचा, तो पर्वत के दोनों उच्च शिखर झुक कर परस्पर मिलने लगे । यदि वे मिल जाते, तो कुमार के चूर-चूर हो जाने की आशंका थी । कुमार समझ गया कि यह अवश्य ही किसी देव की माया है । उसने दोनो शिखरों को पकड़ कर बलपूर्वक धक्का दिया । तब पर्वत के शिखर से एक देव प्रकट हुआ । वह कुमार से संग्राम करने लगा । अन्त में देव को अपनी पराजय स्वीकार करनी पड़ी । उसने अत्यन्त विनम्रतापूर्वक कुमार से कहा--'हे नाथ ! मुझे क्षमा करे । मैं आपका दास हूँ ।' उसने कुमार को दो रत्नकुण्डल उपहार में दिये । कुमार को सकुशल लौटते हुए देखकर वज्रदंष्ट्र के भ्राताओं ने क्रोधित होकर कहा--'अब हम स्वयं इस दुष्ट का वध करेंगे । यह जहॉ कहीं जाता है, वहीं से लाभ प्राप्त कर लौटता है ।' लेकिन वज्रदष्ट्र ने समझते हुए कहा--'हे भ्रातागण ! निराश होने की कोई आवश्यकता नही है । किसी-न-किसी जगह वह फॅसेगा एवं द्वन्द युद्ध में निहत हो जायेगा । अभी तो उसकी मृत्यु के हेतु सैकडो उपाय मेरे पास हैं ।' अभी वज्रदंष्ट्र एवं उसके अनुजों में यह चर्चा हो ही रही थी कि कुमार प्रद्युम्न आ गया । वे सब उसे छलपूर्वक विजयार्द्ध पर्वत के एक वन प्रदेश में ले गये ।

उस घने वन में आम का एक विशाल वृक्ष था । वृक्ष के समीप खड़े होकर वज्रदंष्ट्र ने कहा--'इस

श्री प्रद्युम्न चरित्र

आम के वृक्ष मे एक अद्‌भुत गुण है, वह यह कि जो इसके फल का भक्षण करेगा, उसकी युवावस्था सदा विद्यमान रहेगी । वह जरा-मृत्यु से वंचित होकर सदा सौभाग्यशाली बना रहेगा ।' कुमार ने कहा--'ज्येष्ठश्री ! तब क्यो न मैं ही इस अमृत फल का आस्वादन करूँ ?' वज्रदंष्ट्रकी आज्ञा पा कर वह निःशंक वृक्ष पर चढ़ गया एवं उसकी डालियों को झकझकोरने लगा । उस समय वृक्ष पर एक विराट वानर प्रकट हुआ । क्रोध से उसके नेत्र रक्तवर्णी लोहित हो रहे । उसने प्रचण्ड स्वर में ललकार कर कहा--'रे दुराचारी मानव ! तू इस वृक्ष की डालियॉ झकझोर कर पवित्र फलों को पृथ्वी पर क्यों गिर रहा है ?' वानर के दुर्वचन से कुमार भी कुपित हुआ । दोनों भीषण संग्राम में रत हुए । जब कुमार ने वानर को पृथ्वी पर पटकना चाहा, तब वानर रूपी देव प्रकट हो गया । उसने कहा--'हे नाथ ! मुझ दीन पर कृपा करो ।' देव ने एक मुकुट एयवं दिव्य-रस का पात्र कुमार को भेंट में दिया । जब वह वृक्ष से नीचे उतरा, तो सब भ्राता अत्यन्त क्रोधित हुए, किन्तु कपटी वज्रदंष्ट्र ने उन्हें शान्त कर दिया । तब वे कुटिल हृदय राजपुत्र कुमार को कपिल नामक वन में ले गये ।

वज्रदष्ट्र ने बड़ी चतुराई से कहा--'इस वन में प्रदेश करनेवाला समस्त धरातल का स्वामी होता है ।' ऐसा मैंने वृद्ध विद्याधरों के मुख से सुना है ।' साहसी कुमार प्रसन्नता के साथ वन में प्रविष्ट हुआ है । वहॉ उसे विकराल हस्ती के रूप में एक असुर मिला, जिससे कुमार को विकट युद्ध करना पड़ा । पर अन्त में वह भी परास्त हुआ । उसने बडी विनम्रता से कहा--'हे नाथ ! मैंने बड़ी भूल की । मैं आपका सेवक हूॅ ।' इतना कहकर उसने कामदेवरूपी कुमार की पूजा की । इस तरह सफल मनोरथ कुमार अपने भ्राताओं के समीप लौट आया । फिर वज्रदंष्ट्र उन्हें अनुबालक नामक पर्वत पर ले गया । उसने बतलाया कि इसके शिखर पर आरोहण करनेवाला पृथ्वी का एकाधिपति होता है । कुमार उस भी निःशड.क चढ़ गया । वहॉ कुमार ने सर्परूपी देव से दीर्घ काल तक सग्राम किया । पराजित होने पर उस देव ने अश्व, रत्न, क्षुरिका, कवच एवं मुद्रिका--ये वस्तुएँ भेंट कीं एवं भक्तिपूर्वक अभ्यर्थना की । इस तरह कुमार को नवें लाभ की प्राप्त हुई । उसे सफलतापूर्वक लौटते देखकर विद्याधर कुमार परस्पर विचार करने लगे कि अब क्या करें ? अबकी बार वे कुमार को शरावास्य नामक महापर्वत पर ले गये । वहॉ पहुॅच कर ज्येष्ठ भ्राता वज्रदंष्ट्र ने कहा--'इस पर्वत पर आरोहण करनेवाला विद्याधरों की राज्य-लक्ष्मी प्राप्त करता है ।'

ज्येष्ठ की अनुमति से कुमार पर्वत के शिखर पर पहुँच कर उसे प्रकम्पित करने लगा । शीघ्र ही एक देव उपस्थित हुआ एव संग्राम मे उसे भी परास्त होना पडा । उसने कुमार को दिव्य आभूषण-कण्ठी, बाजूबन्द, दो कडे एव करधनी भेंट किये । साथ ही उसने उनकी सम्मानपूर्वक पूजा की । विजयी कुमार को लौटते देखकर शेष विद्याधर राजपुत्रों को बडा आश्चर्य हुआ । वे क्रुद्ध होकर उसे वराहाकार पर्वत पर ले गये। उन कपटी राजकुमारो ने ईर्ष्यावश बतलाया कि इस (शूकर--वाराह) पर्वत पर आरोहण करने वाला समस्त पृथ्वी का अधिपति होता है । वीर कुमार तत्काल ही पर्वत पर चढ गया एव वहाॅ स्थित वराहमुख नामक पराक्रमी देव से संग्राम करने लगा । किन्तु पुण्य बल से कुमार ने उसे भी परास्त किया, कारण ससार की समस्त निधियाॅ पुण्यात्माओं को बड़ी सुगमता से मिल जाती हैं । उस देव ने जयशंख एवं पुष्पमय धनुष देकर कुमार की अभ्यर्थना की ।

कुमार को विजयी देखकर शेष विद्याधर राजपुत्र अत्यधिक क्रोधित हुए । किन्तु वे कर क्या सकते थे । वे पुनः उसको लेकर पद्म नामक महावन की ओर अग्रसर हुए । पूर्व की भाँति खड़े होकर वज्रदंष्ट्र ने कहा--'यह वन पृथ्वी पर अत्यन्त विख्यात है । जो निर्भयता के साथ इस महावन में भ्रमण कर लौट आता है, वह संसार का अधिपति होता है ।' साहसी कुमार ने बड़ी त्वरता से वन में प्रवेश किया । भ्रमण करते हुए कुमार ने देखा कि एक मनोजव नामक विद्याधर एक वृक्ष के तले बन्दी अवस्था में बॅधा है । कुमार ने जिज्ञासा की--'हे विद्याधर ! इस जनशून्य स्थान में तुम्हें किसने बन्दी बनाया है ?' मनोजव ने उत्तर दिया--'हे नाथ ! मेरे पूर्व-भव के शत्रु बसन्त नामक विद्याधर ने मुझे यहाॅ बन्दी बना रखा है । यदि आप अनुग्रह करें, तो मैं मुक्त हो जाऊँगा ।' कुमार ने कहा--'हे बन्धु ! तुम तनिक भी चिन्ता न करो, मै अभी तुम्हें बन्धन रहित कर देता हूॅ ।' मनोजव को मुक्त कर देने के पश्चात् उसका शत्रु बसन्त पुन· उसके पीछे आया एवं शीघ्र ही बाॅध कर उसे कुमार के सामने लाया । उसने निवेदन किया--'हे नाथ ! यह बिना मेरी स्वीकृति के ही भागा जा रहा था, इसलिये मैं इसे बन्दी बना लाया हूॅ ।' इतना कहकर उस विद्याधर ने कुमार को सन्तुष्ट करने के उददेश्य से एक बहुमूल्य हार एवं इन्द्रजाल नाम की एक विद्या प्रदत्त की । तत्पश्चात् कुमार के उद्योग से दोनो का विरोध मिट गया एवं उनमें मित्रता हो गयी । उन्होने प्रसन्न होकर कुमार को एक नवयौवना-सर्वगुण-सम्पन्न-कन्या समर्पित की । आचार्य का कहना है कि पुण्योदय

से विश्व की समस्त विभूतियाँ अनायास मिल सकती हैं ।

जब कुमार उक्त स्थान से भी विजयश्री का वरण कर के लौटा, तो शेष राजकुमार शत्रुतावश अत्यधिक क्रुद्ध हो उठे । वे इस बार उसको कालवन नामक स्थान पर ले गये । वज्रदंष्ट्र ने पूर्व की भाँति कहा--'इस वन में प्रवेश करनेवाला भी उत्तम वैभव को प्राप्त करता है ।' कुमार को इस वन में प्रवेश में भी कोई कठिनाई न हुई । उसने वन में जाकर वहाँ के महाबल नामक दैत्य को परास्त किया । उस दैत्य ने मदन, मोहन, तापन शोषण एवं उन्मादन नामक पाँच विख्यात पुष्प-बाण एवं एक पुष्प-धनुष दिया । कुमार अब यथार्थ में मदन (कामदेव) हो गया । इस प्रकार अमूल्य निधियाँ प्राप्त कर सकुशल लौटते कुमार को देखकर अन्य विद्याधर-राजकुमारों का चित्त अत्यधिक सन्तप्त हुआ । वे दुष्ट छल-कपट की बातें कर उसे सर्प-सर्पिणी-भीमा नाम की भयावह गुफा में ले गये, लेकिन पुण्यभोग से वहाँ भी कुमार को सफलता मिली । वहाँ से पुष्पमय छत्र एवं पुष्पमयी सुन्दर शैय्या ले कर वह लौटा । गुफा के स्वामी देव ने कुमार का यथोचित्त सत्कार किया । पुण्य के प्रभाव से मनुष्य को निरन्तर सुख-लाभ होना स्वाभाविक है । अबकी बार कुमार के लौटने पर उन दुष्ट राजकुमारो ने उसका वध कर डालने का विचार किया । कुटिल वज्रदंष्ट्र ने कहा--'अभी अन्य दो उपाय शेष हैं, जिनमें फँसकर कुमार की मृत्यु हो जाने की सम्भावना है । अतएव वर्तमान में उस पर आक्रमण करना उचित नहीं ।' अभी इन लोगों में वार्तालाप चल ही रहा था कि कुमार आ गया । पूर्व की भाँति अनेक कष्ट उठा कर वे सब विपुल नामक वन में आ गये । वहाँ शस्यों (फल-पुष्प) से सुशोभित जयन्त नामक एक विशाल पर्वत था । उस की ओर इंगित कर दुष्ट राजकुमारों ने कहा--'इस पर्वत के आरोही को अमूल्य निधियाँ प्राप्त होती हैं ।' कुमार निःशंक होकर चढ़ गया । पर्वत के निम्नभाग में जल से परिपूर्ण नदियाँ वेग से प्रवाहमान थीं । तट पर कण्ठ-तमालादि वृक्ष शोभा पा रहे थे । तमाल वृक्ष के तले शिला पर आसन लगाये हुए एक कामिनी बैठी थी । उसे देखकर यही विश्वास होता था कि वह ध्यानमग्न है । वह स्फटिक की माला से जप करती जाती थी । उसकी सुन्दरता का तो कहना ही क्या ? उसके मुख-पद्म से निकलती हुई सुगन्धि के कारण भौंरों के झुण्ड मँडरा रहे थे । उसके उन्नत उरोजों के भार से उसकी कोमल देहयष्टि अवनत हो रही थी । गज-सी-चाल, वीणा के सदृश स्वर, कमल तुल्य चचल नेत्र देखकर कुमार को ऐसा भान हुआ मानो वह

श्री प्रद्युम्न चरित्र

त्रिलोक की समस्त सुन्दरियों को परास्त कर आई हो। वह सर्वांग सुन्दरी को देखकर कुमार चकित हुआ एवं विचार करने लगा। क्या यह सूर्य की पत्नी है अथवा चन्द्रमा की कामिनी अथवा इन्द्राणी, रति आदि मे से कोई नहीं है ? ऐसा मनमोहक रूप, जिसमें भव्यता एवं लावण्यता कूट-कूट कर भरी गयी थी, देखकर कुमार (मदन) काम से विह्वल हो गया। वह पंच-शरो से घायल होकर व्यग्र-चित्त हो बैठ गया। किन्तु संयोग से बसन्त नामक देव का आगमन हुआ। वह कुमार का अभिवादन कर वहीं बैठ गया। शिष्टाचारवश कुशल-प्रश्न के पश्चात् कुमार ने देव से उस सुन्दरी के विषय में पूछा--'हे महाभाग ! तुम मेरे सन्देह की निवृत्ति करो। यह अन्यतम सुन्दरी इस निर्जन स्थान मे कैसे आई ? यह किसकी पुत्री है एवं तपस्या करने का क्या उद्देश्य है ?' बसन्त ने उत्तर दिया--'विद्याधरों का प्रभन्जन नामक एक नायक है, उसकी पत्नी का नाम वाक्र है, यह कन्या उन्हीं की पुत्री है। इसका नाम रति है।' कुमार ने पुनः पूछा--'यह नव-यौवनावस्था में ही तपस्या क्यों कर रही है ?' देव कहने लगा--'एक बार आहार करने के लिए एक योगी इसके पिता के घर आये।' आहार हो चुकने के पश्चात् विद्याधर नरेश प्रभन्जन ने योगी से जिज्ञासा की--'हे स्वामिन् ! कृपया यह तो बतलाइये कि मेरी पुत्री का पति कौन होगा ?' उस योगी ने बतलाया कि द्वारिका के पति नारायण श्रीकृष्ण का पुत्र प्रद्युम्न इसका पति होगा। वह अतुल वैभव-सम्पन्न होकर विपुल नामक वन में पधारेगा एवं उसी समय रति का पाणिग्रहण करेगा। उसी योगी के वचनों पर विश्वास कर वह यह कन्या वन में तप कर रही है। इस कन्या के पुण्य-प्रभाव से ही आपका शुभागमन हुआ है। अतएव आप दोनो का सम्बन्ध हो जाय, तो अति उत्तम हो।' कुमार को अपूर्व प्रसन्नता हुई। वे शीश नवा कर बोले--'मैं तो पुण्य-बल से पर्यटन करता हुआ यहाँ तक आ पहुँचा हूँ। इस सुन्दरी को देखते ही मै कामबाण से बेधित हो गया। यदि आपकी कृपा से यह सम्बन्ध हो जाय, तो मैं अपने को कृत-कृत्य समझूँगा।' कुमार के कथन से देव को सन्तोष हुआ। उसने तत्काल ही दोनों का विधिपूर्वक पाणिग्रहण करा दिया। स्त्री-रत्न की प्राप्ति के पश्चात् कुमार ने एक अन्य लाभ भी प्राप्त किया।

विवाह के पश्चात् उसी रमणीक वन में एक संकट नामक असुर कुमार से आकर मिला। उसने कुमार को नमस्कार कर कामधेनु एवं बसन्त के सदृश मनोहर रथ भेंट किये। उसी रथ पर आरूढ़ होकर प्रद्युम्न ने अपनी प्रिया रति के साथ प्रस्थान किया। जब उसके भ्राताओं ने षोडश लाभ प्राप्त करनेवाले कुमार

को देखा, तो उन्हें बड़ी ग्लानि हुई । कुमार (कामदेव) ने रति के साथ रथ पर आनन्दपूर्वक यात्रा की । उसके शेष भ्राता विद्याधर भी अनुगमन करते हुए चले । वे सब-के-सब नगर की ओर आ रहे थे । इससे यह प्रकट होता है कि पाप एवं पुण्य का फल प्रत्यक्ष घटित हुआ । समग्र नगर-निवासियों ने भी इस सत्य का अनुभव किया ।

रति एवं कामदेव का शुभागमन देखने के लिए नगर की कुलवधुयें अपने-अपने घर से बाहर निकल आयीं । किसी आश्चर्यजनक कौतुक देखने के लिए नारियों में आतुरता के भाव दृष्टिगत हो रहे थे । कामदेव के आकर्षण से अनेक स्त्रियाँ अपना समस्त गृह कार्य छोड़कर परस्पर कलह करने लगीं । एक ने दूसरी स्त्री से कहा--'तू अपने केश बिखरा कर मुझे कुमार को देखने नहीं देती ।' दूसरी ने अपनी सहेली से कहा--'हे सखी ! जिसने कुमार की अनुपम रूप-राशि को नहीं देखा, उसका जीवन निरर्थक है ।' तीसरी ने कहा--'वह माता धन्य है, जिसने कुमार जैसे रत्न को जन्म दिया ।' उसने यह भी कहा--'वह रति धन्य है, जो कामदेव के अंक में सुशोभित होती होगी ।' इस प्रकार नगर की समस्त नारियाँ उस समय कामदेव एवं रति की चर्चा में ही संलग्न थीं । उनमें से अनेक तो अपनी सुध-बुध भी विस्मृत कर चुकीं थीं । उनके केश बिखर रहे थे, आतुरतावश उनमें योग्य-अयोग्य का विचार नहीं रह गया था । सत्य है, जब साक्षात् मदन का दर्शन हो जाय, तो तन-मन की सुध-बुध कहाँ रहती है ? काम का प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष प्रभाव किसी-न-किसी रूप में समस्त नारियों पर पड़ा ।

एक विराट उत्सव के साथ कुमार प्रद्युम्न राजमहल में आ पहुँचा । उसने पिता कालसंवर को भक्तिपूर्वक नमस्कार किया । पिता ने पुत्र का आलिंगन किया, कपोल एवं मस्तक को स्नेह से चूमा । शारीरिक कुशलता पूछने पर कुमार ने निवेदन किया--'हे पिताश्री ! आप के चरण-कमलों की कृपा से मैं सदैव प्रसन्न रहता हूँ ।' इसके अनन्तर वह माता के महल में जा पहुँचा । उसने जननी का चरण स्पर्श किया । कनकमाला ने भी सोलह लाभों को प्राप्त किये हुए पुत्र को आशीर्वाद दिया । उस समय कुमार की सुन्दरता देखने योग्य थी । अपने ऐश्वर्य एवं यश से त्रिभुवन को अभिभूत करने वाला प्रद्युम्न सम्पूर्ण गुणों का आकर (कोश) था । सुकोमल कपोल, विस्तृत केश राशि का आकर्षक विन्यास, सुन्दर नेत्र, शंख के सदृश कण्ठ, चन्द्रमा के सदृश सौम्य मुख, सुमेरु की भाँति वक्षस्थल, सिंह के सदृश कटि प्रदेश

(कमर), हस्ती के सदृश मतवाली गति (चाल) एवं कुन्दन (तपाये हुए स्वर्ण) के सदृश वर्णवाले प्रद्युम्न को अवलोक कर अब कनकमाला भी काम से बिद्ध हो गयी । उसका मुख ऐसा मुरझा गया, जैसे तुषार (पाला) लगा हुआ कमल हो । विरह में उसकी देह सन्तप्त होने लगी । उसने विचार किया-'मेरा यह जीवन, मेरा रूप, मेरी कान्ति, मेरे गुण--तभी सार्थक होंगे, जब मैं कुमार का प्रेमालिंगन करूँ । जिसने ऐसे मनोज्ञ मधुर सौन्दर्य का पान नहीं किया, उसका जीवन व्यर्थ है । बिना कुमार को प्राप्त किये, कोई भी रमणी भाग्यशालिनी नहीं हो सकती । ' इस प्रकार कनकमाला अपने विचारों में उलझी रही एवं कुमार उसे प्रणाम कर अपने महल मे चला गया ।

विरह-विदग्धा कनकमाला अनेक प्रकार से निर्लज्ज चेष्टाएँ करने लगी । उसने कामजनित उष्णता को शान्त करने के लिए चन्दनादि शीतल वस्तुओं का उपयोग किया, किन्तु उनसे कामाग्नि शान्त न हो सकी । उस विद्याधरी के समस्त अंग शिथिल हो गये । उसने अन्न-जल का परित्याग कर दिया । दूर-दूर के वैद्यो ने उसकी नाडी-परीक्षा की, किन्तु कोई लाभ नहीं हुआ । शनैः-शनैः उसका विरह रोग असाध्य हो गया ।

एक दिन कालसम्वर ने प्रद्युम्न से कहा--'हे प्रिय पुत्र ! तेरी माता रोग-शैय्या पर पड़ी हुई है । उसके जीने मे भी सन्देह हो रहा है । क्या अभी तक तूने नहीं देखा ?' प्रद्युम्न ने निवेदन किया--'हे पिताश्री ! इस सम्बन्ध में अब तक मुझे कोई सूचना नहीं थी ।' ऐसा कहकर वह बड़ी शीघ्रता से कनकमाला के महल में गया । माता को दु.खी देख कर प्रद्युम्न ने बड़ी नम्रता से प्रणाम किया । उसकी शारीरिक चेष्टायें तथा आकृति को देखकर प्रद्युम्न विचार करने लगा कि यह रोग तो वात, पित्त, कफ-जनित प्रतीत नहीं होता, किन्तु तब किस विकार से वेदना शुरु हुई है एवं वह कैसे शान्त होगी ? प्रद्युम्न इसी उलझन में निमग्न था कि कनकमाला अंगड़ाई लेती हुई उठ बैठी । दास-दासियो को वहाँ से पृथक कर प्रद्युम्न से सुमधुर शब्दो में वह बोली--'हे कुमार ! यह तो तुम जानते ही हो कि तुम्हारी यथार्थ माता कौन है तथा पिता कौन हैं ?' प्रद्युम्न ने कहा--'ऐसा प्रश्न क्यों पूछती है ? मैं तो समझता हूँ कि आपही मेरी माता हो तथा महाराज कालसम्वर मेरे पिता है ।' कनकमाला ने कहा--'तब तुम अपनी जीवनी की आदि, मध्य तथा अन्त की कथा सुनो--

श्री प्रद्युम्न चरित्र

एक समय मैं पतिदेव के संग वन-क्रीड़ा के लिए गयी थी । हमारा विमान तक्षक नामक पर्वत पर पहुँच कर तुम्हारे पुण्य-बल से रुक गया । नीचे उतर कर हम दोनों ने देखा कि एक विशालकाय शिला तुम्हारे प्रबल श्वांसोच्छवास के वेग से कम्पायमान हो रही है । आश्चर्य से हमने उसे उठाया, तो तुम दिखलाई दिये । मैंने तत्काल ही तुम्हें उठा लिया तथा मन में निश्चय किया कि युवक होने पर तुम्हें अपना अधीश्वर बनाऊँगी । यह सोचकर तुम्हें घर ले आयी तथा बड़े स्नेह से तुम्हारा लालन-पालन करने लगी । अब तुम कामक्रीड़ा के योग्य हो चुके हो, अतएव मेरे संग आनन्दोपभोग करो । यदि ऐसा करने में तुम्हें संकोच होगा, तो मेरी मृत्यु अवश्यम्भावी है एवं तुम्हें नारी-हत्या का पाप लगेगा ।' पालनकर्त्ता माता के ऐसे कुत्सित वाक्य सुनकर प्रद्युम्न को हार्दिक सन्ताप हुआ । उसने कहा--'हे माता ! ऐसे लोक-विरुद्ध वचन तुम्हारे मुख से कैसे निकल पड़े ? कुमार्ग की ओर प्रवाहित होने वाले मन का शमन करना चाहिये ।' ऐसा कह प्रद्युम्न महल से बाहर निकला तथा उसने वन की ओर प्रस्थान किया । वन के एक मन्दिर में अवधिज्ञानी जैन मुनियों के संघ के नायक एक विद्वान आचार्य विराजमान थे । उनका नाम श्री वरसागर था । प्रद्युम्न ने उनके दर्शन किये तथा भक्तिपूर्वक नमस्कार कर वहीं बैठ गया । उसके मन में माता के चित्त के विकार की स्मृति दंश भर रही थी । उसने नम्रतापूर्वक मुनि से निवेदन किया--'हे स्वामी ! माता काम से आकुल होकर मेरे ऊपर क्यों आसक्त हुई ?' प्रद्युम्न का निवेदन सुनकर मुनिराज ने कहा--'हे वत्स ! संसार की समस्त चेष्टाएँ बिना कार्यकारण सम्बन्ध के नहीं होतीं । ऐसा स्नेह तथा बैर पूर्व-जन्म के सम्बन्ध से ही हुआ करता है । ध्यान से सुनो मैं बतलाता हूँ । पूर्व-जन्म में तू मधु नामक राजा था । तूने काम के वशीभूत होकर सामंत राजा हेमरथ की पत्नी चन्द्रप्रभा का अपहरण किया था । उसने दीक्षा लेकर उत्कृष्ट तप किया तथा सोलहवें स्वर्ग में उत्पन्न हुई । वहाँ बाईस सागर पर्यन्त सुखोपभोग कर इस समय कालसम्वर की रानी कनकमाला हुई है तथा तू स्वयं अपने भाई कैटभ के साथ चिरकाल तक सुख भोग कर द्वारिका में यदुवंश तिलक नारायण श्रीकृष्ण का पुत्र हुआ । एक दिन तू अपनी माता रुक्मिणी के साथ निद्रामग्न था, तब पूर्व-जन्म के शत्रु दैत्य ने तुम्हें ले जाकर तक्षक पर्वत की शिला के नीचे दबा दिया । संयोग से कालसम्वर तथा उसकी रानी कनकमाला वहाँ पहुँच गये । वे तुम्हें निकाल कर अपने घर को ले गये तथा पालन-पोषण कर योग्य वनाया । कनकमाला इस समय पूर्वजन्म के सम्बन्ध से

ही काम सन्तप्त हुई है । वह तुम्हे दो विद्याये प्रदान करना चाहती है, तुम्हें उससे छलपूर्वक उन विद्याओ को ले लेना चाहिये ।' प्रद्युम्न ने प्रसन्नता के साथ आचार्य से निवेदन किया--'मैं आपके परामर्श का अक्षरश. पालन करूँगा । किन्तु मेरी एक शंका अन्य है, वह यह है कि बाल्यावस्था में ही मेरी माता (रुक्मिणी) से जो मेरा वियोग हुआ, वह क्या मेरे पापोदय से हुआ या माता के कर्मदोष से ?' मुनिराज ने उत्तर दिया--'हे वत्स यह वियोग तुम्हारी माता के कर्म-दोष से हुआ है । कारण पूर्व के सचित पाप-पुण्य से ही सुख-दु.ख मिलते है । इस सम्बन्ध मे सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनाता हूँ, उसे ध्यान देकर सुनो--

जम्बूद्वीप के सुविख्यात भरतक्षेत्र मे मगध नाम का सम्पन्न एवं उत्तम देश है । वहाॅ के लक्ष्मी नामक एक ग्राम में सोमशर्मा नामक एक ब्राह्मण रहता था । वह शास्त्रज्ञ एवं ब्रह्म विचारक था । उसकी भार्या कमला थी, जिसके गर्भ से लक्ष्मीवती नाम की एक कन्या उत्पन्न हुई । जब लक्ष्मीवती यौवन विभूषित हुई, तो उसका असीम सौन्दर्य प्रकट हो पडा । वह शेष संसार को तृणवत हेय समझने लगी । संयोग से एक दिन एक मासोपवासी मुनिराज उसके गृह पर आहार हेतु पधारे । यद्यपि वे अवधिज्ञानी, कामजीत तथा रत्नत्रय-विभूषित थे, किन्तु उनका सर्वाग धूल से मलीन हो रहा था । लक्ष्मीवती अपने सुन्दर रूप को दर्पण मे निहार रही थी, पीछे से आगन्तुक मुनि की छाया दर्पण में दिखलाई पड़ी । अपने प्रतिबिम्ब के निकट ही मुनि की छाया देखकर उसे बडा अभिमान हुआ । उसने विचार किया कि कहाॅ मेरा मनोज्ञ रूप एवं कहाॅ मुनि का यह निन्दनीय स्वरूप । उसने मुनि के स्वरूप की निन्दा कर घोर पाप अर्जित किया । इस पापोदय से वह कुष्ठ रोग से पीडित हुई । फलस्वरूप उसे असहनीय कष्ट होने लगा । एक दिन वह अपने दु.खों को सहन न कर अग्नि मे कूद पडी तथा आर्तध्यान से मृत्यु प्राप्त कर पापोदय से गर्दभी (गधी) हुई । इसके पश्चात् अगले भव में वह गृह शूकरी (पालतू सुअरी) हुई । कोटपाल के प्रहार से वह प्राण त्याग कर कुतिया हुई । शीतकाल में एक दिन वह तृण (घास) में बैठी थी कि उसमे अचानक अग्नि सयोग हो गया तथा वह कुतिया मृत्यु को प्राप्त हुई । इसके पश्चात् पापोदय से उसने निगम नामक नगर मे किसी धीवर की पुत्री के रूप में जन्म लिया । किन्तु उसकी देह निन्द्य तथा दुर्गन्ध युक्त हुई । इसलिये कुटुम्बवालों ने उसे घर से निकाल दिया । परिवार द्वारा निर्वासित वह धीवरी गंगा तट पर कुटिया बना कर रहने लगी । उसके उदर-पोषण का एकमात्र साधन था--डोगी से यात्रियों को पार उतारना । इस कार्य

श्री प्रद्युम्न चरित्र

से उसे कुछ धन प्राप्त हो जाता था । वह अपने अर्जित द्रव्य मे से कुछ भाग अपने परिवार में भी भेज दिया करती थी । इस प्रकार अपने तीव्र का पाप फल भोगती हुई वह जीवनयापन करती रही । उसका नाम दुर्गन्धा पड़ गया था । एक दिन वही मुनिराज गंगा तट पर पधारे, जिनकी इसने पूर्व में निन्दा की थी। माघ का (महीना) था, इसलिये भीषण शीत का प्रकोप था । योगिराज को देखकर धीवरी ने विचार किया कि ऐसे में योगीन्द्र गंगा तट पर कैसे ठहरेंगे ? उसने मुनिराज के समीप जाकर अग्नि प्रज्वलित कर दी एवं वस्त्र ओढ़ा कर उनका शीत-निवारण करने लगी । वह प्रातःकाल तक उनकी वैयावृत्य करती रही । जब मुनिराज का ध्यान भंग हुआ, तो उन्होंने कहा--'हे पुत्री लक्ष्मीवती ! कुशल तो है ?' अपना नया नाम सुनकर धीवरी ने विचार किया कि योगीन्द्र क्या कहते हैं, यह सुनना चाहिए ? जैन शासन को धारण करनेवाले साधु तो कभी असत्य नहीं बोलते । विचार करते ही उसे मूर्च्छा आ गयी एवं जाति-स्मरण हो गया । सचेत होने पर उसने मुनिराज से प्रार्थना की-'हे योगीश्वर ! मैं किस निम्न दशा में आ पहुँची ? कहाँ पूर्व में ब्राह्मण की पर्याय थी एवं कहाँ अब धीवरी हूँ । आपकी निन्दा कर मैंने जो भारी पाप अर्जित किया था, उसी का यह फल भोग रही हूँ । अब मुझे क्षमा कर दीजिये । वह धर्म मुझे सुनाइये, जिससे इस पाप से मेरी मुक्ति हो ।' विलाप करती हुई धीवरी को सान्त्वना देते हुए मुनिराज ने कहा--'हे पुत्री! वृथा सन्ताप मत करो, क्योंकि यह संसार की दुःख का कारण है । अतएव अब काल व्यर्थ न गँवा कर जिनेन्द्रभगवान के धर्म को धारण करो । तू पूर्व-जन्म के पापों के कारण ही निन्द्य कुल में उत्पन्न हुई है। अब तुम गृहस्थ-धर्म में अनुरक्त होकर अर्हत देव द्वारा उपदेशित जैन-धर्म का पालन करो ।' मुनि महाराज ने सम्यक्त्व सहित द्वादश प्रकार के धर्म उस धीवरी को समझाये । तत्पश्चात् परम दयालु मुनिराज तपस्या हेतु गमन कर गये एवं धीवरी जिन-धर्म के पालन में अहर्निश सन्नद्ध रह कर कुछ काल तक उसी कुटिया में रही । कालक्रम से वह बाक्षाकौशल नगरी में गयी । वहाँ जिनेन्द्र भगवान के मन्दिर में उसे धर्मपालनी नाम की अर्जिका मिली । अर्जिका ने धीवरी को बहुविधि धर्मोपदेश सुनाया । अब तो वह धर्म-ध्यान में पूर्णरूपेण तन्मय हो गयी । एक दिन वह धीवरी पूर्वोक्त अर्जिका के साथ राजगृह नगर में गयी । उसने जिन-मन्दिर में जाकर प्रणाम किया । नगर के बाहर ही गोपुर था । अर्जिका गोपुर की गुफा में प्रवेश कर ध्यानस्थ हो गयी एवं धीवरी गुफा के बाहर ही जप-ध्यान करने लगी । दैवयोग से रात्रि में एक भयावह

श्री प्रद्युम्न चरित्र

व्याघ्र वहॉ आया एव उसने धीवरी का भक्षण कर लिया । जिन-धर्म के प्रभाव से ध्यान-योग मे उसकी मृत्यु हुई । उस समय वह व्रतो का भी पालन कर रही थी, अतएव देह त्याग कर सोलहवे स्वर्ग में इन्द्राणी हुई । पुण्य-प्रभाव से उसने वहॉ चिरकाल तक सुखों का उपभोग किया ।

अन्त मे धीवरी के जीव ने कुण्डनपुर के राजा भीष्म की पुत्री के रुप मे जन्म लिया । उसका नाम रुक्मिणी पडा । पहिले उसके विवाह-सम्बन्ध का निश्चय राजा दमघोष के पुत्र शिशुपाल के साथ हुआ था । नारद मुनि के मुख से प्रशंसा सुन कर वह नारायण श्रीकृष्ण पर अनुरक्त हो गयी । उसने दूत द्वारा गुप्त रूप से श्रीकृष्ण को बुलवाया । श्रीकृष्ण एवं बलदेव दोनों भ्राता कुण्डनपुर जा पहुॅचे । वे शिशुपाल का वध कर रुक्मिणी को पटरानी का पद देकर द्वारिका ले आये । उसी रुक्मिणी के गर्भ से तू उत्पन्न हुआ है । जन्म के छठवे दिन ही तुझे एक दैत्य हर कर ले गया था ।'

प्रद्युम्न ने प्रश्न किया--'हे मुनिराज ! मेरा अपनी माता के वियोग किस पाप के उदय से हुआ है ?' यतिराज बोले-'हे वत्स ! उसमे तेरा कोई भी पाप का कारण नहीं है । यह वियोग तेरी माता के पूर्व-जन्म के पापोदय से हुआ है । जब वह लक्ष्मीवती ब्राह्मणी थी, तब उसने एक मयूर-शावक को उसकी माता से पृथक कर दिया था, उसी वियोग-जनित पाप के कारण तेरा वियोग हुआ है । ये तेरे षोडश वर्ष माता के कर्म फल से उससे पृथक, व्यतीत हुए हैं । हे वत्स । इसलिये किसी का भी वियोग नहीं कराना चाहिये । पाप का फल हानिप्रद ही होता है ।' मुनि महाराज का आदेश सुन कर प्रद्युम्न कनकमाला के महल की ओर गया ।

प्रद्युम्न बिना प्रणाम किये ही कनकमाला के समीप बैठ गया । प्रसन्नता से कनकमाला का मन-मयूर नृत्य कर उठा । उसने सोचा--'ऐसा प्रतीत होता है, आज इसने मेरे प्रति माता का भाव त्याग दिया है, अन्यथा प्रणाम तो अवश्य करता ।' उसने कुमार से कहा-'हे महाभाग कामदेव ! यदि तुम मेरे कथनानुसार चलोगे, तो मै तुम्हे रोहिणी आदि असाधारण विद्यायें प्रदान करूॅगी ।' कुमार ने हॅसते हुए कहा--'मैने कब तुम्हारी आज्ञा का उल्लघन किया है ? मुझे विद्यायें दो या न दो, मैं तुम्हारा आदेश अवश्य मानूॅगा ।' तब सन्तुष्ट होकर कनकमाला कहने लगी--'लो पहिले इन मत्रों को विधिवत् ग्रहण करो ।' उस मूर्खा ने प्रसन्नतापूर्वक कुमार को विद्याये प्रदान कर दीं ।'

विद्यायें प्राप्त कर कुमार कहने लगा--'हे पुण्यरूपे ! जिस समय मेरे शत्रु ने मेरा अपहरण कर पर्वत की कन्दरा में रखा था, उस समय आप ने ही मेरी रक्षा की थी । अतएव आप ही मेरी माता हैं । पुत्र के योग्य जो कार्य कहो, मैं प्रस्तुत हूँ ।' ऐसे वज्रपात सदृश वचन सुन कर वह कुछ कठोर प्रत्युत्तर देना चाहती थी कि कुमार प्रणाम कर अपने महल में चला गया । अब तो कनकमाला क्रोध से तमतमा उठी । उसकी समस्त आशायें धूमिल हो गयीं । उसने सोचा--'छली कुमार मेरी विद्यायें भी हर ले गया एवं मेरी कामना भी पूर्ण न हुई । अब तो इस वंचक का जिस प्रकार भी विनाश हो, वही करना चाहिये ।' ऐसा विचार कर उसने अपने नखों से अपने उरोजों को क्षत-विक्षत कर डाला । फिर अपने केशों को बिखराये हुए वह राजा के समीप जा पहुँची एवं नम्र होकर बोली--'हे नाथ ! आपने जिसे निर्जन वन में मुझे समर्पित किया था, देखिये उसने मेरी क्या दुर्दशा की है ? मेरे निवेदन पर ही आप ने उसे युवराज-पद दिया था । किन्तु आज उसी पापात्मा ने मेरी सौन्दर्य-विभूषित देहयष्टि पर आसक्त होकर यह कुचेष्टा की है । अवश्य ही वह किसी नीच कुल का है, अन्यथा पालनकर्त्ता माता के प्रति ऐसी पाप-बुद्धि नहीं हो सकती । उसने अपनी कामवासना शान्त करने के लिए समस्त उद्योग किये, किन्तु पुण्य-प्रभाव एवं कुलदेवी के प्रसाद से मेरे सतीत्व की रक्षा हुई है । यदि संयोग से मेरा सतीत्व नष्ट हो जाता, तो आप मुझे जीवित भी नहीं पाते । मैं बड़ी कठिनाई से अपने शील की रक्षा कर सकी हूँ । अब तो मुझे तभी सन्तोष होगा, जब मैं अपने नेत्रों से उस दुष्ट का शोणित (रक्त) से लथपथ विछिन्न (कटा हुआ) मस्तक भूमि पर लोटता हुआ देखूँगी ।'

प्रिय पत्नी से अभियोग सुनकर कालसम्वर क्रोधित हो गया । उसने अपने शेष पंच शतक पुत्रों को बुलाकर आज्ञा दी--'हे पुत्रों ! तुम उस महापातकी प्रद्युम्न का यथाशीघ्र वध कर डालो । वह किसी नीच कुल का प्रतीत होता है । मुझे तो ज्ञात नहीं था कि वह किसका पुत्र है ? मैं उसे वन से उठा लाया था । मुझ पर तो सर्वप्रथम उस दिन उसकी दुष्टता प्रकट हुई, जिस दिन वह रथ पर आरूढ़ होकर आया एवं तुम लोग पदाति (पैदल) आये । इसलिये ऐसा कोई उपाय करो कि उसकी मृत्यु भी हो जाये एवं किसी पर सन्देह प्रकट भी न हो ।' पिता के ऐसे मनोभाव सुनकर पुत्रों को अतीव प्रसन्नता हुई । वे तो प्रद्युम्न का अन्त चाहते ही थे, फिर अब तो पिता की आज्ञा भी मिल गयी थी ।

श्री प्रद्युम्न चरित्र

परस्पर विचार-विमर्श कर वे पंच-शतक भ्राता प्रद्युम्न के निकट आये । सबों ने मिलकर उससे प्रस्ताव किया--'हम लोग जल-क्रीडा करने हेतु वापिका को जा रहे हैं, तुम भी चलो ।' कुमार भी गमन हेतु सहर्ष प्रस्तुत हो गया । सब-के-सब मोद मनाते हुए बावडी के समीप जा पहुँचे । वे बावड़ी में कूदने के उद्देश्य से वृक्षों पर चढ़ गये । किन्तु पुण्य के योग से एक विद्या ने आकर कुमार के कर्ण (कान) में कहा--'हे वत्स ! ये सब दुष्ट तुम्हारा वध कर डालने की चेष्टा में हैं । अतएव तुम्हारे हित के लिए कहती हूँ कि भूलकर भी तुम जल में मत बैठना ।' विद्या का परामर्श सुनकर प्रद्युम्न को घोर आश्चर्य हुआ। उसने तत्काल ही बहुरूपिणी विद्या के बल से अपना एक कृत्रिम रूप बनाया एवं स्वयं विद्या-बल से अदृश्य होकर तट पर बैठकर कौतुक देखने लगा । प्रद्युम्न का वास्तविक रूप तो तट पर बैठा हुआ था, जब कि कृत्रिम रूप वापिका में कूद पड़ा । सुअवसर समझ कर वे पंच शतक विद्याधर-पुत्र उच्च स्वर में गर्जना कर उठे--'शीघ्रता से कूदो एवं इस दुष्ट का वध कर डालो ।' ऐसा कहकर वे सब-के-सब वापिका में कूद पड़े । उस समय प्रद्युम्न को प्रचंड क्रोध उत्पन्न हुआ । उसने मन में विचार किया-'किस उद्देश्य से ये लोग मेरा वध करने के लिए सन्नद्ध हुए हैं ? ऐसा प्रतीत होता है कि पथभ्रष्ट माता कनकमाला ने पिताश्री को बहकाया है, जिससे कुपित होकर पिता ने बिना सोचे-विचारे आज्ञा दी है । जो भी हो, जब ये सब कपटी मुझे यमलोक पठाने के लिए तत्पर हैं, तब मैं ही क्यों न इनका वध कर डालूँ ।' ऐसा विचार कर कुमार ने विद्या-बल से एक विशाल शिला उठा कर उस वापिका को ढंक दिया । फिर उसने सबको औंधे कर उसमें लटका दिया । पिता के पास सम्वाद प्रेषण हेतु केवल मात्र एक भ्राता को मुक्त कर दिया । वह त्वरित गति से राजा कालसम्वर के निकट आ पहुँचा एवं समस्त वृत्तान्त कह सुनाया ।

घटना क्रम सुनते ही राजा कालसम्वर की क्रोधाग्नि प्रज्वलित हो उठी । वह स्वयं खड्ग लेकर प्रद्युम्न को प्राणरहित करने के लिए उद्यत हुआ । उस समय चतुर मन्त्रियों ने निवेदन किया--'हे महाराज ! जिस महाबली को अनेक लाभ प्राप्त हुए हैं एवं जिसने आपके पच-शतक पुत्रों को बन्दी बनाकर रखा है, वह क्या एकाकी परास्त हो सकेगा ? इसलिये आप विशाल सेना लेकर जाइये ।' मन्त्रियों का परामर्श राजा को युक्तियुक्त प्रतीत हुआ । उन्होंने रणभेरी बजवायी एवं विराट सेना लेकर वापिका की ओर अग्रसर

श्री प्रद्युम्न चरित्र

हुआ। पिता को सेना के साथ आते देख कर प्रद्युम्न को अत्यधिक आश्चर्य हुआ । उसने विचार किया कि पिताश्री को क्या मतिभ्रम हो गया है, जो दुराचारिणी नारी के बहकावे में आ गये ? कालसवर की सेना निरन्तर अग्रसर हो रही थी । सेना के रथ, गज, अश्व एवं पदाति समूह की गर्जना से भूमण्डल प्रकम्पित हो रहा था । पर इतनी शक्तिशाली सेना को देखकर भी प्रद्युम्न को कौतुक सूझा । उसने विद्या-बल से एक कृत्रिम विराट सैन्य की रचना कर डाली । दोनों सेनायें परस्पर संग्राम रत हुई । दोनों ओर से तुमुल संघर्ष होने लगा । कौतुक-प्रिय नारद मुनि आकाश-मार्ग में हर्ष से नृत्य करने लगे ।

जब प्रद्युम्न के कठिन युक्त से कालसम्वर की सेना का विनाश होने लगा, तब वह चिन्तित हो उठा । उस समय उसे एक युक्ति सूझी । उन्होंने मन्त्री से कहा--'देखो !तुम तब तक किसी प्रकार युद्ध करते रहो, जब तक मैं रानी से दो विद्याएँ लेकर न आ जाऊँ । उनके प्रयोग से शत्रु शीघ्र परास्त हो जायेगा ।' युद्ध की समस्त व्यवस्था मंत्री को सौंप कर मन्द बुद्धि कालसम्वर नगर में गया तथा रानी से बोला--'हे प्रिये ! तुम्हारे पास रोहिणी तथा प्रज्ञप्ति नामक दो अमोघ विद्याएँ हैं, उन्हें मुझे दे दो । मैं शत्रु को परास्त कर तेरी मनोकामना पूर्ण करूँगा ।' इतना सुनते ही कनकमाला फूट-फूट कर विलाप करने लगी । राजा को सन्देह हुआ । उन्हें निश्चय हो गया कि इस व्यभिचारिणी ने विद्यायें किसी को दे दी हैं। पुनः विचार कर कालसंवर ने कहा-'हे प्रिये ! तू क्यों विलाप करती है ? यह समय व्यर्थ गॅवाने का नहीं है, शत्रु बलवान है ।' वह रुदन करती हुई बोली--'हे नाथ ! उस पापी ने मुझे कई बार ठगा है । मैं ने विचार किया था कि वृद्धावस्था में इसके द्वारा हमें सुख मिलेगा । इसलिये मैंने दोनों विद्याओं को अपने उरोजों में प्रविष्ट करा कर उसे शैशवावस्था में पान करा दिया था । मुझे ज्ञात नहीं था कि युवावस्था में वह ऐसा पापी निकलेगा ? हे नाथ ! मैं तो दोनों ओर से भ्रष्ट हो गयी ।' इतना कहकर वह कृत्रिम विलाप करने लगी ।

किन्तु कालसम्वर को उसके कथन पर विश्वास नहीं हुआ । अब कनकमाला की दुश्चरित्रता उस पर प्रकट हो गयी । उन्होंने विचारा-'इस दुष्टा के कारण मैंने दुर्लभ विद्यायें भी खो दीं एवं प्रतापी पुत्र-रत्न भी गॅवा दिया । ऐसी स्थिति में इस जीवन का क्या प्रयोजन ? अब रणक्षेत्र में वीरगति प्राप्त करना ही सर्वश्रेष्ठ होगा ।' ऐसा विचार कर कालसम्वर महल से सीधा रणांगण में जा पहुँचा । कालसम्वर का चित्त

श्री प्रद्युम्न चरित्र

सन्तप्त तो था ही, उसने बडे वेग से शर-प्रहार (बाण चलाना) प्रारम्भ कर दिया । विवश होकर कुमार ने भी एक वेगशाली बाण चलाया, जिसने कालसंवर को ससैन्य नागपाश में बॉध लिया । कितु अब प्रद्युम्न को बडा संकोच एवं पश्चात्ताप हो रहा था । उस समय वह यही कामना कर रहा था कि कोई महापुरुष आकर उसके पिता को बन्धन-मुक्त करवा दे । होनहार व्यर्थ नही जाती । उसी समय नारद मुनि पधारे । उन्होंने सोचा--'यह तो अति उत्तम हुआ कि पिता-पुत्र में विरोध हो गया । अब प्रद्युम्न अवश्य ही मेरे संग द्वारिका गमन हेतु प्रस्तुत हो जायेगा ।' नारद ने आशीर्वाद देते हुए जिज्ञासा की--'यहॉ युद्ध क्यों हो रहा है ?' प्रद्युम्न ने कहा--'हे प्रभु ! माता के मिथ्याभियोग पर विश्वास कर बिना विचारे ही पिताश्री ने ऐसा घोर अनर्थ किया है ।' इसके पश्चात् प्रद्युम्न ने माता कनकमाला का समस्त षडयन्त्र पिता को भी बतलाया । नारद भी विषादपूर्वक प्रद्युम्न से घटनाक्रम सुन रहे थे । उन्होंने कहा-'हे वत्स ! अब रहने दे, परगामिनी नारियों के चरित्र का श्रवण मात्र भी पाप का बन्ध है । वे पति-पुत्र-भ्राता एवं गुरु का प्राणनाश करने में भी नहीं हिचकतीं ।' नारद का उपदेश सुनकर प्रद्युम्न ने कहा--'प्रभु ! मैं गुरुजनों के स्नेह से रहित हो गया । अब मैं किसके निकट जाऊँ ? यद्यपि कालसम्वर मेरे पिता हैं एवं कनकमाला मेरी माता, किन्तु उन्होने मेरे साथ घोर अन्याय किया है । अतएव बतलाइये कि मैं किसकी शरण में जाऊँ ?' नारद कहने लगे--'हे वत्स ! दुःखी मत हो । मैं तुम्हे समस्त वृत्तान्त सुनाता हूँ ।

तेरे पिता तो स्वयं नारायण श्रीकृष्ण हैं । वे यादवो के शिरोमणि एव हरिवंश-कुलभूषण हैं । द्वारिका की पटरानी रुक्मिणी तेरी माता है । उन लोगों ने आदरपूर्वक तुझे लाने के लिए मुझे भेजा है । तुम्हे बुलाने का एक कारण अन्य भी है, जिसे मैं कहता हूँ । अत: ध्यान देकर सुनो--तेरी माता तथा सत्यभामा (उसकी सौत) में बड़ा विरोध है । इसलिये मेरे सग ही प्रस्थान करना उचित होगा ।' अपनी वंशगाथा सुनकर प्रद्युम्न को पूर्ण सन्तोष हुआ । उसमें नारद के प्रति अगाध श्रद्धा उत्पन्न हुई । प्रद्युम्न ने पालक पिताश्री कालसम्वर को मुक्त कर दिया एवं साथ ही समस्त सैन्य को चैतन्य कर दिया । उस समय ग्लानिवश कालसम्वर न तो प्रद्युम्न को कुछ कह सकते थे एवं न ही नारद मुनि से । वे नि:शब्द अपने नगर में लौट आये । उन्होंने कनकमाला से जा कर कहा-'हे प्रिये इसमे तेरा कोई दोष नही । यह सब हमारे कर्मों का फल है ।' कालसम्वर एवं रानी इधर वार्तालाप कर रहे थे कि उनके पंच-शतक पुत्र आ पहुँचे । उन्हें कुमार

ने वापिका से मुक्त कर दिया था ।

सारे नगर में कनकमाला की दुश्चरित्रता की कथा फैल गयी । इसीलिये कहा जाता है कि पाप गुप्त नहीं रह पाता । पापी त्रिकाल में भी विजयी नहीं होते, धर्मात्माओं की ही सदा अन्त में जय होती है । अतएव सत्पुरुषों को उचित है कि वे पाप का सर्वथा परित्याग कर दें । पुण्य के प्रभाव से ही मनुष्य सुखी होता है । इसलिये भव्य पुरुष सदा पुण्य-कार्य में संलग्न रहते हैं । पाप ही दुःख का कारण बनता है एवं पुण्य से सुख की प्राप्ति होती है । प्रद्युम्न को पुण्य के बल से ही समस्त निधियॉ प्राप्त हुई एवं वे सर्वत्र विजयी हुए ।

दशम सर्ग

नारद ने द्वारिका हेतु प्रस्थान के लिए उत्कट अभिलाषा प्रकट की, किन्तु उस समय कुमार ने कहा--'हे मुनिवर । मैं प्रस्थान के लिए तत्पर हूॅ, किन्तु बिना माता-पिता से आज्ञा लिए प्रस्थान करना वॉछनीय न होगा । इसलिये आप कुछ काल तक यहीं ठहरें, मैं शीघ्र ही उनकी सम्मति लेकर आता हूॅ ! नारद को वहीं छोड़ कर तब कुमार राजमहल में जा पहुॅचे । राजा कालसम्वर वहॉ रानी कनकमाला के साथ शोकाकुल अवस्था में बैठे थे । कुमार ने प्रणाम कर प्रार्थना की--'हे पिताश्री, क्षमा कीजिये । यद्यपि मैं अपराधी हूॅ, किन्तु आप ने ही मेरा लालन-पालन किया है । इसलिये आप मेरे अपराधों को क्षमा कर दें । अब मैं अपने जनक-जननी से मिलने के लिए प्रस्थान कर रहा हूॅ, अतएव मुझे सहर्ष अनुमति प्रदान करें । मैं उनसे मिलकर शीघ्र ही लौटूॅगा ।' इस तरह प्रद्युम्न ने कनकमाला से भी निवेदन किया । इसके पश्चात् राज-सेवकों से भेंट कर उसने द्वारिका के लिए प्रस्थान किया । उस समय समस्त गुणग्राही नगर-निवासी वीर कुमार प्रद्युम्न का यशोगान कर रहे थे ।

कुमार की प्रतीक्षा में नारद खड़े थे । कुमार ने आते ही कहा-'हे तात् ! आप यह तो बतलाइये कि यहॉ से द्वारिका नगरी कितनी दूर है ।' नारद ने बतलाया कि यह तो विद्याधरों का देश है एवं द्वारिका मनुष्यों की नगरी है । अतएव वह यहॉ से सुदूर स्थित है, किन्तु मैं तुम्हें शीघ्रगामी विमान में बैठा कर ले चलूॅगा । नारद ने तब एक शीघ्रगामी विमान तैयार किया एवं फिर कुमार से कहा--'हे वत्स ! यह

श्री प्रद्युम्न चरित्र

विमान तुम्हारे योग्य ही बना है । इसलिये इस पर बैठने में शीघ्रता करो ।' नारद के कथन पर प्रसन्न होकर कामदेव (कुमार) ने विनोद मे कहा--'क्या यह विमान मेरा भार वहन कर सकेगा ?' नारद कहने लगा--'वाह । क्यों नही, यह तो पर्याप्त दृढ है ।' कामदेव ने बडे वेग से विमान में अपना चरण धरा, फलस्वरूप उसी समय विमान की सन्धियॉ भग हो गयी एवं उसमे सैकड़ो छिद्र हो गये । परिहास में कुमार कहने लगे-'हे प्रभो ! आप तो शिल्प-विद्या मे बडे प्रवीण हैं । यह विद्या आप ने कहॉ सीखी थी ?' नारद प्रद्युम्न के हास-परिहास से लज्जित तो हुए, किन्तु उन्होंने चतुराई से कहा--'हे वत्स ! मै तो वृद्ध हो चुका हूँ । अब पूर्व-सा कौशल एवं बल कहॉ रहा ? तुम सब विद्याओं मे निपुण एवं यौवन-सम्पन्न हो, तब स्वयं क्यों नहीं एक विमान निर्मित करते हो ?' कुमार ने तत्काल ही एक विमान की रचना कर दी, जो उत्तमोत्तम रत्नो से सुशोभित था । उसका मध्य एव कटि प्रदेश सुवर्ण से निर्मित था । इसके अतिरिक्त वह विशालकाय विमान वापिका-सरोवर आदि से शोभित किया गया था । हंस, चक्रवाकादि पक्षियो से अलकृत वह विमान चॅवर, छत्र एवं ध्वजाओं से सुशोभित किया था । उस विमान को देखकर साक्षात् स्वर्गलोक का भान होता था । ऐसा सुन्दर विमान बना कर शिल्पी कुमार ने नारद मुनि से कहा--'हे तात! यदि यह आपके योग्य बन पड़ा हो, तो आरूढ होइये । कारण मैंने इसका निर्माण अपनी बाल-बुद्धि से किया है ।' इस अनुपम विमान को देख कर नारद को महान आश्चर्य हुआ । वे उस विमान पर आरूढ़ हुए, तब कुमार ने धीरे से उसे गगन की ओर उड़ाया । किंतु एकाएक विमान की गति मन्द होने लगी । उस समय नारद ने कहा--'तेरे वियोग से रुक्मिणी का मुख-कमल आक्रान्त हो रहा है, अतएव मुरझाने उसकी रक्षा करना चाहिये ।' तब कुमार विमान को इतनी तीव्र गति से उड़ाने लगे कि नारद व्याकुल हो गये । उनकी जटा बिखर गयी, उनकी केशराशि यत्र-तत्र उडने लगी, सम्पूर्ण गात प्रकम्पित होने से वे अधीर हो उठे । उन्होंने कहा--'हे वत्स ! रुक्मिणी मेरी पुत्री के तुल्य है, वह मुझ पर पितृ भाव रखती है । तुम्हारे पिता श्रीकृष्ण भी मेरी भक्ति करते हैं, पर तू क्यों मुझे व्याकुल कर रहा है ?' कुमार ने कहा-'ऐसा प्रतीत होता है कि आप का चरित्र भी द्वन्दात्मक है । जब मैं धीरे-धीरे उड़ाता हूँ, तब आप को भाता नहीं एवं जब वेग से चलाता हूँ, तब भी निषेध करते हैं । इसलिये अब आप एकाकी ही जाइये, मैं नहीं जाऊॅगा ।' यह कह कर कुमार ने विमान को आकाश में स्थिर कर दिया । उस समय नारद आवेश

श्री प्रद्युम्न चरित्र

में आकर कहने लगे--'ऐसा प्रतीत होता है तुम विद्याधरों का यह सुखप्रद निवास त्यागना ही नही चाहते । किन्तु यह समझ लो कि यदि तेरी माता का शोक में प्राणान्त हो गया एवं तू उसके उपरान्त पहुँचा, तो तेरा कोई/मनोरथ सिद्ध नहीं हो सकता । इसलिये हे वत्स ! मैं एक रहस्य तुझे बतलाता हूँ । तेर माता-पिता ने तेरे विवाह हेतु अनेक सुन्दरी कन्याओं की याचना की है । विलम्ब से पहुँचने पर तेरा भ्राता उनसे वरण कर लेगा ।' नारद मुनि से हितोपदेश सुनकर कुमार रथ को तीव्र गति से चलाने लगे । विमान बड़े वेग से जा रहा था, उसकी फहराती हुई ध्वजायें समुद्र की तरंगवत् प्रतीत होती थीं । मार्ग में नारद मुनि द्वारा एक मनोरंजक चरित्र का वर्णन हुआ । हे राजा श्रेणिक ध्यान से सुनो । उसको संक्षेप में कहते हैं--

विजयार्द्ध पर्वत को पार कर विमान भूमिगोचरी क्षेत्र में आ पहुँचा । वहाँ की पृथ्वी सघन वनों, सरोवरों एवं नगरों से सुशोभित हो रही थी । नारद मुनि ने सघन वन में खदिरा नाम की अटवी (घाटी) देखी । इसी अटवी में कुमार के शत्रु दैत्य ने उसे शिला के नीचे दबा दिया था । नारद ने उसे कुमार को दिखलाया, तब कुमार को बड़ी प्रसन्नता हुई । विमान तेजी से गन्तव्य की ओर अग्रसर होता गया, नारद मार्ग मे पड़ रहे विशेष स्थानों का परिचय देते जा रहे थे । उन्होंने कुमार से कहा--'देखो, विमान के कर्णप्रिय घण्टों की मधुर ध्वनि सुनकर हरिणियों का समूह क्रीड़ा कर रहा है ।' इस प्रकार नारद ने वन में सिंह व्याघ्र, गजराज आदि जन्तु दिखलाये, जिन्हें देखकर कुमार परम हर्षित हुए । थोडी दूर आगे जाकर नारद ने कहा--'हे कुमार ! देखो, उत्तुंग पर्वतों का स्वामी यह महापर्वत वैसे ही शोभित है, जैसे तुम सामन्त राजाओं के अधिपति होकर विराजते हो ।' आगे बढ़ने पर गंगा नदी मिली, जिसके तट पर पुष्पों के समूह शोभा दे रहे थे एव उनकी सुगन्धि से सुवासित स्वच्छ नीर (जल) प्रवाहमान था । भाँति-भाँति के जलचरों से सुशोभित गगा-नदी को देखकर कुमार अतीव प्रमुदित हुए । नारद ने बतलाया कि यह पवित्र गंगा-नदी है । इसके तट पर देव कन्यायें निवास करती हैं । कुमार के मुख से भी सहसा निकल पड़ा--'अहा ! यह गगा नदी का प्रदेश बड़ा ही रमणीक है ।'

इस प्रकार विस्मयजनक प्राकृतिक शोभा को निहारते हुए दोनों आगे बढ़ते गये । आगे एक जगह चतुरग सेना दिखलाई दी । उस विराट सेना को देखकर कुमार ने नारद से जिज्ञासा की--'हे नाथ ! यहाँ

श्री प्रद्युम्न चरित्र

भूतल पर किस राजा का शिविर स्थापित हुआ है ? ऐसा विशाल सैन्य शिविर तो मुझे विद्याधरो के देश में भी देखने को नहीं मिला ।' तब नारद ने बतलाया--

'हस्तिनापुर में महाप्रतापी राजा दुर्योधन राज्य करता है । पूर्व मे भगवान आदिनाथ के समय इसी कुल मे श्रेयांस नाम का राजा हुआ था । उसके बाद कुरु नाम का राजा हुआ, जिसके नाम से ही यह वश विख्यात हुआ । उसके पश्चात् क्रम से हजारों राजे हुए । अनेक पीढियो के उपरान्त एक धृत नामक राजा हुआ, जिसकी तीन रानियाँ थी--अम्बा, अम्बिका एवं अम्बालिका । तीनों रानियों के गर्भ से तीन पुत्र हुए--धृतराष्ट्र, पाण्डु एवं विदुर । ये तीनों ही बड़े प्रतापशाली हुए । इनमें से धृतराष्ट्र की गान्धारी नाम की रानी हुई । (दूसरे पुत्र पाण्डु की कथा पुराणों में वर्णित है, जिसका संक्षेप मे वर्णन करते है ।)

प्रारम्भ में धृत ने कुमार पाण्डु का विवाह सूर्यपुर के राजा अन्धक-वृष्टि की कन्या कुन्ती से करने का निश्चय किया था । किन्तु किसी ने कुन्ती के पिता से कह दिया कि पाण्डु को कुष्ठ रोग है, इसलिये उन्होंने विवाह-प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया । पाण्डु को जब यह सूचना मिली, तब उसे बड़ा दु.ख हुआ । वह अहर्निश चिन्तित रहने लगा । एक दिन पाण्डु कदली वन में गया था, वहाँ वन में एक शैय्या दिखलाई दी, जो मसली हुई थी । उसने विचार किया-अवश्य ही इस स्थान पर किसी पुण्यात्मा ने अपनी प्रिया के साथ रमण किया है । मै पुण्यहीन हूँ, जिससे मेरी प्रिया मुझे प्राप्त नहीं हुई, वह दुःखित हदय से शैय्या की ओर देखते रहा, तब उसे शैय्या के समीप ही पड़ी हुई एक मुद्रिका मिली, जिसे धारण कर वह यत्र-तत्र भ्रमण करने लगा । कुछ काल पश्चात् शैय्या का स्वामी विद्याधर आ पहुँचा । उसने जब वहाँ मुद्रिका न देखी, तो उसका मुख मलीन पड़ गया । उसे दुःखित देखकर पाण्डु ने कारण पूछा । तब उसने कहा--'मेरी मुद्रिका खो गयी है ।' पाण्डु ने तत्काल ही उसे मुद्रिका दे दी । पाण्डु का उत्तम चरित्र देख कर विद्याधर बडा सन्तुष्ट हुआ । उसने भी जिज्ञासा की--'तुम चिन्तित क्यों हो ?' तब पाण्डु ने अपनी समस्त दुःख-गाथा उसे सुना दी । उसने कहा--'मेरी यह मुद्रिका कामरूपदा है, इसके प्रभाव से अपनी इच्छा की पूर्ति कर लेना एवं जब तुम्हारा कार्य सफल हो जाय, तो मुद्रिका मुझे लौटा देना ।' कुमार पाण्डु ने मुद्रिका ग्रहण कर ली । उसके हर्ष का पारावार न रहा ।

मुद्रिका के प्रभाव से पाण्डु ने अपना स्वरूप कपोत का बनाया एव वहाँ से उडकर कुन्ती के नगर

श्री प्रद्युम्न चरित्र

में जा पहुँचा। रात्रि में महल में प्रविष्ट होकर उसने कामदेव का रूप धरा एवं वहाँ जा पहुँचा, जहाँ कुन्ती निद्रामग्न थी। जब कुन्ती की निद्रा भंग हुई, तब वह एक अपरिचित पुरुष को अवलोक कर भय से प्रकम्पित हो उठी। उसने प्रश्न किया आप कौन हैं एवं मेरे महल में क्यों आये हैं कुमार पाण्डु मुस्कराकर बोला-'हे प्रिये ! तुम मुझसे भय मत करो। मैं तुम्हारे साथ परिणय का अभिलाषी पाण्डु हूँ।' तब कुन्ती कह उठी--'मैंने तो सुना था कि आप कुष्ठ रोगी हैं। पर आप तो वैसे नहीं लगते हैं ?' पाण्डु ने उत्तर दिया--'हे प्रियतमे ! यह सर्वथा निराधार अफवाह किसी शत्रु ने उड़ाई होगी। मेरा तो सर्वांग निरोग है।' इतना सुनकर कुंती भी उसके रूप-पाश में उलझ गयी। पाण्डु ने उस कल्याणरूपा कामिनी के साथ प्रसन्नतापूर्वक रमण किया। इस प्रथम संगम के समय कुंती की देहयष्टि भय से प्रकम्पित हो रही थी। इसके पश्चात् उन दोनों का स्नेह इतना प्रगाढ़ हो गया कि पाण्डु वहाँ सप्त दिवस पर्यंत रहा। सातवें दिन जब उन्होंने प्रस्थान का उपक्रम किया, तब कुंती ने नम्र होकर कहा--'हे नाथ ! आप तो प्रस्थान हेतु तत्पर हो रहे हैं, किन्तु मैं एक रहस्य संकोचवश प्रकट नहीं कर सकती।' पाण्डु ने कहा--'अब लज्जा किस बात की ? निःसंकोच होकर कहो !' कुंती ने बतलाया--'जिस दिन आप का आगमन हुआ, उस दिन मेरे मासिक-धर्म का चतुर्थ दिवस था। यदि मैं संयोग से गर्भवती हो गयी, तो बतलाइये क्या करूँगी ?' कुंती की चिन्ता उचित समझ कर पाण्डु ने अपना कड़ा उतार कर उसे दे दिया। मार्ग में उन्होंने उस उपकारी विद्याधर की मुद्रिका भी लौटा दी।

इधर जब छः मास व्यतीत हुए, तब कुंती की देह में गर्भ के लक्षण स्पष्ट प्रकट होने लगे। सखियों ने समस्त वृत्तान्त उसकी माता से कहा। यह सम्वाद राजा तक जा पहुँचा। उसने लज्जित होकर अपनी रानी से कहा--'तुम जाकर उससे पूछो कि किस दुष्ट से उसने यह गर्भ धारण कराया है ?' रानी ने कुंती से जिज्ञासा की, तब उसने बतलाया--'हे माता ! तुम चिन्ता मत करो। यहाँ पाण्डु स्वयं आये थे एवं उन्होंने मेरे साथ सहवास किया था। साक्षी-स्वरूप उनका यह कड़ा मैं प्रस्तुत कर सकती हूँ।' रानी उस कड़ा को लेकर राजा के समीप गयी। समस्त वृत्तान्त जानकर वे मौन रह गये। जब गर्भ पूर्ण हो गया, तो कुंती के एक पुत्र उत्पन्न हुआ। किन्तु लोक-लाजवश कलंक के भय से राजा ने उसे एक मंजूषा में रख कर यमुना नदी में प्रवाहित करा दिया एवं कालान्तर में कुंती का पाण्डु के साथ विधिवत् विवाह कर दिया।

विवाहोपरान्त कुंती के युधिष्ठिरादि तीन विलक्षण पुत्र उत्पन्न हुए । कौमार्यावस्था में जो पुत्र उत्पन्न हुआ था, उसका नाम कर्ण पडा । कुछ समय बाद महाराज धृत ने धृतराष्ट्र एव पाण्डु को राज्य देकर स्वयं जिन-दीक्षा ले ली । उनके साथ कनिष्ठ पुत्र विदुर भी मुनि हो गया । धृतराष्ट्र के दुर्योधनादि सौ प्रचण्ड बलवान पुत्र उत्पन्न हुए ।

राजा धृतराष्ट्र एवं पाण्डु ने जब यह देखा कि हमारे पुत्र तरुण हो गये, तब उन्होंने क्रमशः अपने-अपने ज्येष्ठ पुत्रों दुर्योधन एवं युधिष्ठिर को राज्य-भार सौप दिया । किन्तु दुर्योधन फिर अपने छल-बल से पाण्डवो का राज्य हस्तगत कर स्वयं महाराजा बन बैठा । दुर्योधन की एक रूपवती पुत्री है, जिसकी देहयष्टि एवं नेत्रों की आभा तारामण्डल के समकक्ष है । वह उदधि कुमारी जब उत्पन्न नहीं हुई थी एवं तुम भी माता के गर्भ में थे, उसी समय दुर्योधन ने उसका विवाह तुम्हारे साथ कर देने की प्रतिज्ञा की थी । फिर उत्पन्न होते ही तुम्हें दैत्य हरण कर ले गया । जब तुम्हारा अनुसन्धान न लगा, तब उदधि कुमारी के पिता ने तुम्हारे अनुज के साथ उसका विवाह करना निश्चित कर दिया है । उसी के साथ यह चतुरंगिणी सेना आयी है ।'

नारद मुनि के रोचक वर्णन को सुनकर अपनी भावी वधू के अवलोकन हेतु कुमार के हृदय में उत्सुकता जाग्रत हुई । उसने नारद से प्रार्थना की--'यदि आप आज्ञा दें, तो मैं जाकर देख आऊँ ।' नारद ने कहा--'हे कुमार ! मैं तुम्हें इसलिये नहीं जाने देना चाहता कि तुम वहाँ जाकर भी कौतुक करोगे । सम्भव है कुछ विघ्न उपस्थित हो जाय ।' तब कुमार ने आश्वासन दिया कि वह किसी प्रकार की चपलता नहीं करेगा, अतः मुनि निश्चिन्त रहें । नारद की आज्ञा लेकर कुमार विमान से नीचे उतरे । समस्त सेना भोजन के लिए बैठी हुई थी । कुमार ने एक भील का भेष बनाया । वह स्वरूप देखने में बड़ा भयानक मालूम पड़ता था । मस्तक पर जटा, गज की सूँड़ के सदृश भुजायें, विशाल वक्षस्थल एवं रक्तवर्ण नेत्र दीख रहे थे । उसके वीभत्स रूप को देख कर दुर्योधन की समस्त सेना परिहास करने लगी । साथ ही कौरव राजकुमार बोल उठे--'रे दुर्मुख ! तू मार्ग में किसलिये खड़ा हो गया ?' भील क्रोधित होकर कहने लगा--'मैं महाराज श्रीकृष्ण की आज्ञा से यात्री कर लेने आया हूँ । मुझे कर चुका कर ही जा पाओगे ।' श्रीकृष्ण का नाम सुनकर कौरव राजकुमार बोले--'हे बन्धु ! तुम्हें क्या लेना अभीष्ट है ? गजराज, अश्व,

रथ, धन-धान्य सभी वस्तुएँ हम दे सकते हैं ।' भील ने कहा--'हे राजकुमार ! मुझे ज्ञात नहीं कि तुम्हारी सेना में कौन-सी सर्वोत्तम वस्तु है ? इसलिये जो वस्तु श्रेष्ठ हो, वही मुझे दो । मैं सत्य कहता हूँ, मेरे योद्धा पथभ्रान्त का पथ-प्रदर्शन एवं योगक्षेम करनेवाले हैं ।' भील की उक्ति सुनकर वे कौरव वीर मुस्कराकर बोले--'रे मूर्ख ! जब तू सर्वश्रेष्ठ वस्तु चाहता है, तो हमारी सेना में राजकुमारी उदधिकुमारी ही सर्वश्रेष्ठ है, क्या उसे तुझे दे दें ?' भील हँसा एवं कहने लगा--'यदि वह कुमारी ही सेना में सर्वश्रेष्ठ है, तो उसी को दे दो । हमें सन्तुष्ट करने से नारायण श्रीकृष्ण भी सन्तुष्ट हो जायेंगे ।' कुरूप भील की ऐसी बेतुकी बातें सुन कर कौरव राजकुमार क्रोधित होकर कहने लगे-'रे मूर्ख ! तू ऐसे निर्लज्जापूर्ण वाक्य क्यों कहता है ? तुझे जैसे कुरूप के योग्य वह कन्या नहीं है । यदि तू उस बाला को पाने की इच्छा करता है, तो अपना मुख कृष्णवर्ती कर ले ।' कुछ सुभटों ने क्रुद्ध होकर कहा--'इस मूर्ख से क्यों विवाद करते हो ? नारायण श्रीकृष्ण असन्तुष्ट हो जायेंगे, तो क्या कर लेंगे ? राजकुमारी इस भील को क्यों दें ? यदि कोई राजकुमार होता, तो सोचा भी जाता ।' ऐसा कहकर उन राजकुमारों ने धनुष पर बाण खींच लिये । भील वेशधारी प्रद्युम्न ने जब देखा कि ये उन्मत्त हो रहे हैं, तो वह खिलखिला कर हँसा । उसने कहा--'क्या तुम लोग कुमारी को मुझे न दोगे? मैं तो श्रीकृष्ण का ज्येष्ठ पुत्र हूँ एवं इस वन में निवास करने वाले भीलों का राजा हूँ । यदि तुम लोग उस कुमारी को मुझे दे दोगे, तो नारायण श्रीकृष्ण को भी परम सन्तोष होगा।' किन्तु कौरवों ने भील का कथन अनसुना कर दिया । वे शीघ्र ही वहाँ से प्रस्थान करना चाहते थे । भील वेशधारी प्रद्युम्न ने अपनी विद्याओं का स्मरण किया । फिर तो क्या था, शीघ्र ही भीलों की एक विशाल सेना प्रस्तुत हो गयी ।

भीलों की कृष्णवर्ती सेना चारों दिशाओं से उमड़ पड़ी । वह सेना सर्वप्रकारेण उत्तमोत्तम आयुधों से सन्नद्ध थी । दोनों ओर के योद्धा परस्पर जा भिड़े । शीघ्र ही कौरव दल के वीर भीलों के प्रहार से व्याकुल हो गये, उनकी समस्त सेना तितर-बितर हो गयी । रथी, पदाति, अश्वारोही सब-के-सब रण क्षेत्र से पलायन करने लगे । भीलों को संग्राम में विजयश्री प्राप्त हुई ।

उसी समय भील वेशधारी प्रद्युम्न ने उदधिकुमारी को बाहुपाश में बाँध लिया । वह उसे लेकर आकाश में उड़ चला एवं भय-प्रकम्पित उस सुकुमारी को ले जाकर अपने विमान में बैठा दिया । वह कुमारी भील

रूपी प्रद्युम्न का विकराल रूप देखकर विलाप करने लगी । विमान पर नारद मुनि को देख कर उसे महान
आश्चर्य हुआ । उसने नारद को लक्ष्य कर कहा--'हा तात ! मेरे पापोदय की ओर ध्यान करे । कहाॅ
महाराज श्रीकृष्ण के पुत्र के साथ मेरा विवाह होनेवाला था, कहाॅ आज भीलों द्वारा अपहृत की गई हूँ ?'
कुमारी ने विलाप करते हुए निवेदन किया--'हे तात ! जब मैं भील द्वारा सतायी जा रही हूँ, तो आप
मेरी रक्षा क्यों नही करते ? साथ ही मुझे एक सन्देह हो रहा है कि यह भील तो दुरात्मा है, पर इसे आकाश
में गमन की शक्ति कहाॅ से प्राप्त हुई ? यह कोई देव है, दैत्य है या राक्षस है ? कहीं विद्याधर का पुत्र
तो नहीं है ? आप यह भी तो बतलाइये कि इस पापी के साथ आप का संघ कैसे हो गया ? मुझे तो ऐसा
प्रतीत होता है कि मेरी तरह आपको भी इसने बन्दी बना लिया है ।' उस समय नारद ने देखा कि यदि
इस कुमारी को सान्त्वना न दी गयी, तो यह शोक से प्राण-त्याग देगी । उन्होंने कहा--'हे पुत्री ! तू हर्ष
के स्थल मे शोक क्यों करती है ? अपने माता-पिता का पुण्य-स्वरूप यह वही रुक्मिणी का पुत्र है, जो
तेरा पति होनेवाला था । विद्याधरों के यहाॅ से आ रहा है । अतएव तुम्हें तो हर्षित होना चाहिये ।' इस प्रकार
कुमारी को आश्वासन देकर नारद प्रद्युम्न से बोले--'हे वत्स ! अब कौतुक करना समाप्त करो । सदैव
परिहास शुभ नहीं होता, अतएव अपने मनोहर रूप को प्रकट कर इस सुन्दरी के नेत्रों को तृप्त करो ।'
नारद का परामर्श सुन कर प्रद्युम्न ने अपना वास्तविक रूप प्रकट किया । उसके मनोहर रूप को देखकर
उदधिकुमारी अत्यन्त सन्तुष्ट हुई । उसी प्रकार प्रद्युम्न भी उस सुन्दरी के प्रेम-पाश में आबद्ध हुआ । दोनों
के हृदयों में जो अनुराग-जन्य भाव उत्पन्न हुए, उनका वर्णन लेखनी से नहीं किया जा सकता, किन्तु नारद
मुनि की उपस्थिति के कारण वे अपने मनोभाव शमित किये रहे । विमान अपनी पूर्व गति से उडने
लगा ।

कुछ दूर आगे बढने पर प्रद्युम्न ने एक रमणीक नगरी देखी । उन्होंने नारद मुनि से पूछा--'हे तात!
यह कौन-सी नगरी है ?' नारद ने उत्तर दिया--'हे वत्स ! यह द्वारिका नगरी है । इसे प्रकृति ने स्वयं अपने
कर से सॅवारा है । इस नगरी की अपूर्व सुन्दरता देख कर ऐसा प्रतीत होता है कि मानो प्रकृति ने स्वर्ग
का एक भूमि-खण्ड ही लाकर यहाँ स्थापित कर दिया हो । यही महाराज श्रीकृष्ण निवास करते हैं । यहाॅ
के नर-नारियो की सुन्दरता को अवलोक कर देव-देवांगनाओं का भान होता है । वस्तुत. द्वारिका की

रमणीयता स्वर्ग से भी बढ़ी-चढ़ी है ।'

नारद प्रद्युम्न से द्वारिका की शोभा का वर्णन करते जा रहे थे कि विमान नगरी के केन्द्र में जा पहुँचा । प्रद्युम्न ने नारद से निवेदन किया--'हे मुनिवर ! यदि आप अनुमति दें, तो मैं नगर में हो आऊँ ।' नारद कहने लगे--'हे वत्स ! यादवों की इस नगरी में तुम्हारा उन्मुक्त भ्रमण हितकर नहीं । सम्भव है तुम्हारी चपलता देखकर यादवगण उपद्रव कर बैठें ।' उदधिकुमारी की भी यही राय थी । किन्तु चंचल कामदेव (कुमार) कब मानने वाले थे ? वे विमान को आकाश में स्थिर कर स्वयं भूतल पर उतर पड़े ।

नीचे उतरते ही प्रद्युम्न ने भानुकुमार को देखा । विभिन्न प्रकार की विभूतियों से सम्पन्न राज-पुत्र को देखकर प्रद्युम्न को बड़ा आश्चर्य हुआ । उन्होंने तत्काल ही अपनी विद्या से जिज्ञासा की कि यह वीर कौन है ? विद्या ने बतलाया कि वह उसकी माता की सौत (सत्यभामा) का पुत्र भानुकुमार है एवं बड़ा प्रतापी वीर एवं सर्वगुण-सम्पन्न है । विद्या का उत्तर सुनकर प्रद्युम्न ने उसी समय 'प्रज्ञप्ती' नाम की महाविद्या का स्मरण किया एवं उसके प्रभाव से उन्होंने एक वेगशाली, चंचल एवं मनोहर अश्व की रचना की । स्वयं एक वृद्ध वणिक बन गया । उस अश्व को लेकर वह भानुकुमार के समीप जा पहुँचा । भानुकुमार ने अश्व को निहार कर जिज्ञासा की--'हे वृद्ध ! यह तो बतलाओ कि यह अश्व किसका है एवं किस उद्देश्य से यहाँ लाये हो ?' वणिक ने उत्तर दिया--'हे श्रीकृष्ण-पुत्र ! यह अश्व मेरा है एवं इसे विक्रय के उद्देश्य से ही यहाँ लाया हूँ । आप सत्यभामा के पुत्र हो, इसलिये यह अश्व आपके योग्य है । यदि उचित समझें, तो इसे क्रय कर लें ।' अश्व को देखकर भानुकुमार सन्तुष्ट तो था ही, अतः उसने मूल्य के प्रति जिज्ञासा व्यक्त की । वणिक ने बतलाया कि वह इस अश्व के मूल्य स्वरूप एक कोटि मुद्रायें लेगा । भानुकुमार ने समझा कि वणिक परिहास कर रहा है । किन्तु वणिक ने स्पष्ट किया कि वह इसे परिहास न समझे, क्योंकि बिना प्रसंग के परिहास करना कुलीनों का लक्षण नहीं । उसने राजकुमार से निवेदन किया कि वह अश्व की परीक्षा करके उसकी उत्तमता का निश्चय कर लें ।

वणिक का प्रस्ताव सुनकर भानुकुमार तत्काल उठा । वह उस चंचल अश्व पर आरूढ़ होकर उसे वेग से फिराने लगा । शक्तिशाली अश्व भी अपनी वक्र चाल से भ्रमण करने लगा । उसकी गति शनैः-शनैः

श्री प्रद्युम्न चरित्र

इतनी तीव्र हो गयी कि भानुकुमार के समस्त वस्त्र एव आभूषण भूतल पर गिर पडे । बाग (लगाम) खीचने पर भी अश्व न रुक सका एव अन्त मे उसने भानुकुमार को ही पटक दिया । जब भानुकुमार पृथ्वी पर गिर पडा, तो अश्व की समस्त चचलता तिरोहित हो गयी । वह शान्त होकर वृद्ध वणिक के समीप खडा हो गया । फलस्वरूप वह वृद्ध वणिक अट्टहास करने लगा । उसने कहा-'हे राजकुमार ! अश्वारोहण मे तो आपकी कीर्ति चतुर्दिक फैली हुई थी । उसे सुनकर ही मैं आपके हेतु यह अश्व-रत्न लाया था । किन्तु आप परीक्षा मे सर्वथा असफल रहे । अब मुझे ज्ञात हो गया कि आपको अश्वारोहण का लेशमात्र भी ज्ञान नही है । वैसे भी जब आप सामान्य अश्व-संचालन मे अयोग्य सिद्ध हैं तो राज्य वैभव का भी उपयोग नहीं कर सकते । अत आपको किसी से अश्व सचालन की कला सीखनी चाहिये।' वृद्ध वणिक की गर्वोक्ति सुनकर वहाँ उपस्थित जन-समुदास परिहास मे हँस पडा । वृद्ध ने भी ताली बजाकर अट्टहास किया । भानुकुमार क्रोध से तमतमा उठा । वह बोला--'रे मूर्ख ! तेरा सर्वांग तो जर्जर एव शिथिल है । क्या तू इस अश्व का आरोहण कर सकता है ? यदि नही, तो अन्य का परिहास क्यो करता है ?' उस वृद्ध ने कहा--'हे कुमार ! यद्यपि मुझमे अश्व-सचालन की सामर्थ्य अब नही रही, फिर भी यदि आप के सुभट मुझे उठा कर अश्व की पीठ पर आरूढ करा सके, तो अपना कौशल दिखलाऊँगा। मै अपनी अश्व-कला मे आपके यशस्वी पिताश्री तक को पराजित कर सकता हूँ ।'

वृद्ध वणिक की दर्प युक्त वाणी सुनकर भानुकुमार ने अपने सेवको को आज्ञा दी कि वे उस वृद्ध को उठा कर अश्व पर आरूढ करा दे, ताकि उसके अश्व-संचालन का परीक्षण किया जा सके । किंतु जब वे सुभट वृद्ध के समीप गये एव उसे उठाने लगे, तो उसने माया के बल से अपना देह-भार अत्यधिक बढा लिया । जर्जर देहधारी उस वृद्ध ने अपनी दन्तपक्ति एव शिखा से ही अनेक सुभटो को धराशायी कर दिया । उसके इस कौतुक से परास्त होकर शूरवीर भूमि पर लुठित होने लगे । उनकी यह दुर्दशा देखकर वृद्ध ने एक अन्य कौतुक किया । वह स्वय ही रुदन करने लगा--'इन दुष्टो ने मुझे पटक दिया है । मुझे बडी व्यथा हो रही है । अब मै अश्व-संचालन का कौशल कैसे प्रदर्शित करूँ ?' पुन भानुकुमार ने अपने शूरवीर अनुचरो को आदेश दिया कि इस वृद्ध को येन-केन-प्रकारेण अश्व पर आरूढ करा दो । अबकी बार भी वही दशा हुई एव पुन वृद्ध प्रलाप करने लगा । तत्पश्चात् नारायण-पुत्र

भानुकुमार स्वय उठा एव वृद्ध को उठाकर अश्व तक ले गया । उस समय वृद्ध ने अपना देहभार हल्का कर लिया था । किन्तु जब वह अश्व के समीप पहुँच गया, तो अपनी देह को हठात् पूर्ववत् भारी कर दिया, जिससे भानुकुमार भूतल पर गिर पडा । भानुकुमार को कुचलते हुए वह वृद्ध अश्व पर आरूढ़ हो गया । भानुकुमार को चिढा-चिढा कर वृद्ध (प्रद्युम्न) ने कलापूर्ण मनोज्ञ गति से अश्व संचालित किया। वह अपनी कुशलता से अश्व को लेकर आकाश में उड चला एवं शनै -शनै वेग बढाते हुए अदृश्य हो गए । भानुकुमार आदि राज-पुत्र चकित दृष्टि से वृद्ध का कौशल देखते रहे । उनकी समझ मे यह रहस्य न आ सका कि वह कोई दैत्य था या विद्याधर !

इसके पश्चात् प्रद्युम्न ने सत्यभामा का मनोहर उद्यान देखा । उसने कर्णपिशाची विद्या से उद्यान का परिचय पूछा । विद्या ने बतलाया कि वह महारानी सत्यभामा का सुरम्य उद्यान है । उस समय प्रद्युम्न ने षोडश वर्षीय युवक का स्वरूप बनाया । उसने पाँच-सात दुर्बल अश्वों को ले जाकर उद्यान के रक्षकों से निवेदन किया कि वे कृपा कर कुछ समय तक उसके इन दुर्बल अश्वों को उस उद्यान मे चरने दे, जिससे वह उन्हे बेच सके । उद्यान रक्षको ने कहा--'तू विक्षिप्त तो नहीं हो गया ? क्या तू नहीं जानता है, यह उद्यान राजकुमार की माता सत्यभामा का है । तुम्हारे जैसे व्यक्ति तो इस उद्यान का दर्शन तक नहीं कर सकते । इस रमणीक उद्यान में केवल भानुकुमार को ही प्रवेश की आज्ञा है ।' उनकी निषेधाज्ञा सुनकर प्रद्युम्न ने कहा--'हे प्रहरियों ! मैंने जो सुना था कि सौराष्ट्र के लोग निष्ठुर चित्त होते हैं, सो यहाँ आकर प्रत्यक्ष देख भी लिया । कितु तुम्हे ऐसा नहीं करना चाहिये । मेरे अश्व बड़े आज्ञाकारी हैं । ये पुष्पादिको का कदापि भक्षण न करेगे । उद्यान की कृत्रिम नदी के तट पर इन्हें तृण चर लेने दो । यदि मेरे कथन का तुम्हें विश्वास न हो तो मेरी यह बहुमूल्य मुद्रिका अपने पास रख लो ।' उद्यान रक्षकों ने लोभ में पडकर कहा--'अपने अश्वों को नदी समीप ही चरा लो । पर स्मरण रहे कि ये फल-पुष्पादि का भक्षण न करने पावें, अन्यथा मुद्रिका लौटाई नही जायेगी ।' प्रद्युम्न ने स्वीकार कर लिया एवं अपने अश्व चरने के लिए मुक्त कर दिये । किन्तु जब तक उद्यान के रक्षको ने ध्यान दिया, तब तक तो अश्वों ने तृण के अतिरिक्त अन्य वस्तुओ पर दृष्टिपात नहीं किया। लेकिन जब वे अन्यत्र चले गये, तो वे मायामय अश्व समस्त उद्यान का भक्षण करने लगे । उन्होंने इन्द्र के नन्दन वन सदृश उस उद्यान को मानो मरुभूमि मे परिवर्तित कर

दिया। साथ ही नदी के समस्त जल का शोषण कर लिया ।

परम कौतुकी प्रद्युम्न आगे बढा । उसे एक अन्य रमणीक उद्यान दिखलाई पडा । विद्या मे जिज्ञासा करने पर ज्ञात हुआ कि यह उद्यान भी सत्यभामा का है । उसी समय प्रद्युम्न ने विद्या के बल से एक वानर बनाया एव स्वय चाण्डाल का रूप धर कर उद्यान रक्षको से प्रार्थना की--'मेरा यह वानर भूख से व्याकुल हो रहा है । इसे कुछ फल भक्षण के लिए दे दो । इससे ही मेरी आजीविका चलती है । यदि इसकी उदर पूर्ति हो गयी, तो इसके कौतुक से तुम लोगो का मनोरन्जन करूँगा ।' प्रहरियो ने क्रोधित हो कर कहा--'तुम्हे उन्माद का रोग तो नहीं हो गया है ? फल-पुष्पो से भरा हुआ यह उद्यान महारानी सत्यभामा का है । यदि महाराज श्रीकृष्ण के सेवक देख लेगे, तो तुम्हे कठोर दण्ड भोगना पडेगा ।' उद्यान रक्षको की अनुमति न मिलने पर भी चाण्डाल (प्रद्युम्न) ने उस वानर को उद्यान मे प्रविष्ट करा दिया । जब वे उद्यान रक्षक उसे पकड़ने के लिये प्रयत्न करने लगे, तो वहाँ सहस्रो मायामयी वानर आ गये एव उद्यान को ध्वस्त करने लगे । उन्होने समस्त वृक्ष-लताओ को उखाड कर समुद्र मे प्रवाहित कर दिया । इस प्रकार उस उद्यान की सर्वनाश करा कर प्रद्युम्न चाण्डाल के वेश को त्यागकर नगर मे चले आये ।

नगर के प्रवेश-द्वार पर ही प्रद्युम्न ने मगल कलशयुक्त एक रमणीक रथ देखा, जो उसकी ओर ही आ रहा था । रथ के विषय मे अपनी विद्या से जिज्ञासा करने पर प्रद्युम्न को ज्ञात हुआ कि वह रथ सत्यभामा का है । रथ की स्वामिनी को अपनी माता की बैरिणी समझ कर प्रद्युम्न ने एक विकृत आकृति बनाई । उसने विद्या बल से एक अशुभ रथ का निर्माण किया, जिसमे गर्दभ एव उष्ट्र (ऊँट) जुते हुए थे । प्रद्युम्न ने उस रथ को सत्यभामा के रथ की ओर बढाया । कृत्रिम रथ की टक्कर ने सत्यभामा के रथ को चूर्ण-विचूर्ण कर डाला । रथ पर आरूढ नारियाँ भूतल पर गिर पडी एव वे क्षत-विक्षत हो गई । पहिले वे गीत गा रही थीं, अब विलाप करने लगी । ऐसे ही विचित्र लीलाये करते हुए प्रद्युम्न अपने रथ पर आरूढ होकर नगर की वीथियो मे भ्रमण करने लगा । उसी विचित्र रथ को देखकर दर्शकगण तालियाँ पीटते थे । लोगो को आश्चर्य हो रहा था कि यह विद्याधर है या कोई अन्य है, जो महाराज श्रीकृष्ण की नगरी मे इस प्रकार निर्भय होकर कौतुक कर रहा है ? इस प्रकार के अनुमान सुनते हुए प्रद्युम्न ने दीर्घ काल तक नगर-भ्रमण किया ।

तत्पश्चात् प्रद्युम्न ने एक अन्य स्वरूप धारण किया । वे चलते-चलते एक सरोवर पर जा पहुँचे, जिसकी सीढियाँ सुवर्णमयी एव रत्नमयी थी । उसकी रक्षा के लिए अनेक सशस्त्र रक्षिकाये नियुक्त थीं । प्रद्युम्न ने वापिका के सम्बन्ध में विद्या से जिज्ञासा की, तब उसने बतलाया कि यह मनोहर वापिका भानुकुमार की माता सत्यभामा की है । विद्या से यह सुनकर प्रद्युम्न अत्यन्त प्रसन्न हुए । उन्होने तत्काल ही एक ब्राह्मण का वेश बनाया । वह कृत्रिम ब्राह्मण छत्र दण्ड कुडी एवं हरी दूब लिए था उसकी आकृति ऐसे लगती थी जिससे दर्शक गण उसे वेदज्ञ ब्राह्मण समझें । किन्तु उसकी स्थूल देह वृद्धावस्था के कारण प्रकम्पित हो रही थी । वह ब्राह्मण वेद-पाठ करता हुआ वापिका के समीप जा पहुँचा । उसने रक्षिकाओ से कहा--'हे पुत्रियो ! मैं तुमसे याचना करता हूँ कि मुझे इस वापिका में स्नान कर एक कमण्डल जल भर लेने दो । जल को ले जाकर किसी को तृप्त करूँगा, जिससे मुझे भोजन भी प्राप्त हो जायेगा ।' ब्राह्मण का अनर्गल प्रलाप सुनकर वे रक्षिकायें कहने लगी--'अरे मूर्ख ब्राह्मण ! क्या तूने महाराज श्रीकृष्ण की पटरानी सत्यभामा का नाम नही सुना है ? यह वापिका उन्ही की सम्पदा है । महाराज श्रीकृष्ण एव भानुकुमार के अतिरिक्त अन्य कोई भी इस वापिका मे प्रवेश नहीं कर सकता । तुम्हारे सदृश दीन भिक्षुक को तो इसके दर्शन तक नही हो सकते ।' रक्षिकाओं का निषेध सुनकर ब्राह्मण वेशधारी कुमार ने कहा--'हे देवियो ! अगर महाराज श्रीकृष्ण का पुत्र इस वापिका में स्नान कर सकता है, तो मुझे स्नान क्यों नही करने देती हो ? मै तो महाराज श्रीकृष्ण का ज्येष्ठ पुत्र हूँ । तुम्हें विश्वास न हो, तो मेरी बात सुनो--

तुम लोगो ने हस्तिनापुर के महाराज दुर्योधन का नाम अवश्य सुना होगा । उसने अपनी पुत्री उदधि कुमारी का विवाह श्रीकृष्ण-पुत्र भानुकुमार के संग करने का निश्चय किया था । इसलिये उसने एक बडी सेना के साथ उसे भेजा था । किन्तु दुर्भाग्य से वह कुमारी मार्ग में ही भीलों द्वारा अपहृत कर ली गयी । भीलो ने उसे अपने स्वामी की सेवा में उपस्थित कर दिया । नवयौवना कुमारी को देखकर भीलराज ने विचार किया कि यह परम सुन्दरी कन्या क्षत्रिय कुल मे उत्पन्न हुई है, अतः इसका विवाह किसी राजकुमार के संग ही होना चाहिये, यह सोचकर उस भील राजा ने उस कन्या को अपने सरंक्षण मे रख लिया । संयोग से मै भ्रमण करता हुआ उस भीलराज के राज्य में पहुँच गया । मुझे पराक्रमी, बलशाली

श्री प्रद्युम्न चरित्र

एव रूपवान समझ कर उसने वह कन्या मुझे समर्पित कर दी । अब तुम्ही बतलाओ कि जो कन्या श्रीकृष्ण-पुत्र के लिए भेजी गयी थी, वह मुझे प्राप्त हो गई, तो मै श्रीकृष्ण-पुत्र हो गया अथवा नही ? फिर भी तुम लोग मुझे वापिका मे स्नान करने नहीं देती हो, यह कितने आश्चर्य की बात है ।' वृद्ध ब्राह्मण की ऐसी बेतुकी बाते सुनकर वे रक्षिकाये कहने लगीं--अरे ब्राह्मण ! वृद्धावस्था मे भी तुझे विनोद सूझता है । विचार करने का विषय है कि कहाँ तू जर्जर वृद्ध एव कहाँ वह कुरुराज की सुन्दरी युवती कन्या ? दूसरा प्रश्न यह कि एक बडी सेना से रक्षित उस कन्या का भीलो द्वारा अपहरण होना नितान्त असम्भव है ।' अभी वे रक्षिकाये कथोपकथन में संलग्न थीं, तभी वह ब्राह्मण धीरे-धीरे वापिका मे पैठने लगा । वापिका की रक्षिकाये कुपित हो गयी तथा उसे पीटने लगी । किन्तु ज्यों ही उस ब्राह्मण के गात (शरीर) से उन रक्षिकाओ का स्पर्श हुआ कि उन नारियो में एक विचित्र परिवर्तन आ गया । वे सब-की-सब रूपवती एवं गुणवती हो गई । जब उन्होने एक दूसरे का रूप देखा, तो चकित हो गयी । वे वृद्ध ब्राह्मण की प्रशसा किये बिना न रह सकीं ।

वे कृतज्ञतापूर्वक कहने लगी--'हे द्विज श्रेष्ठ ! तुमने हमारे ऊपर असीम अनुकम्पा की । हमे तो तुम्हारे सदृश उपकारी कोई अन्य नहीं दीखता ।' वे सब रक्षिकाये अपना-अपना रूप देखने के लिए वापिका से बाहर निकल आयी । जिसके एक नेत्र था, वह सामान्य दो नेत्रो वाली हो गयी, जो गूँगी थी, वह वाचाल हो गयी एवं जो कुरूप थी, वह रूपवती हो गई । वे रक्षिकायें बाहर आकर वार्तालाप में निमग्न थी कि इस मध्य उस ब्राह्मण ने अपना कमण्डल वापिका मे डालकर उसका सब-का-सब जल भर लिया एव बाहर निकल कर वहाँ से प्रस्थान कर गया । इतने में एक रक्षिका अपनी पिपासा शान्ति हेतु जल पीने के लिए वापिका मे गयी । किन्तु वहाँ जाकर उसने पाया कि वापिका शुष्क हो गई है । यह आश्चर्य देखकर उस रक्षिका ने आकर अन्यान्य रक्षिकाओ से कहा कि आज उस वृद्ध ब्राह्मण ने उन सबको ठग लिया है। वह चतुराई से वापिका का समस्त जल अपने कमण्डल मे भरकर ले गया । वे सब-की-सब वापिका की ऐसी दुर्दशा देखकर क्रोध से उन्मत्त हो गयी । वे यह चिल्लाती हुई ब्राह्मण के पीछे दौडी कि तूने यह क्या अनर्थ कर डाला ? किन्तु वह ब्राह्मण तो तब तक नगर मे पहुँच गया था । अब वह नगर मे भिन्न-भिन्न कौतुक करने लगा । उसके अपूर्व कौशल से नगर की समस्त शोभा जाती रही । मणिमुक्ता, आभूषण,

सुगन्धित द्रव्यादि परिवर्तित होने लगे । गज, अश्व, गो एवं भैस आदि अन्य पशुओ मे परिवर्तन होने लगा--अर्थात् गज अब ऊँट प्रतीत होने लगा, अश्वगण वृषभ-से दिखने लगे, आदि । वापिका की रक्षिकाये उसके पीछे-पीछे दौड़ी हुई आ रही थी । जब ब्राह्मण ने देखा कि इनसे पिण्ड छुडाना कठिन है, तो उसने अपने कमण्डल का जल भूमि पर गिरा दिया । अब तो समस्त हाट (बाजार) मे मानो बाढ ही आ गई । जल-प्रवाह में समस्त पुण्य (वस्तुएँ) बहने लगीं । नागरिकों ने समझा कि समुद्र ही नगर मे बढ़ आया है । रक्षिकायें प्रलाप करती हुई अपनी (वापिका) को लौट गई । उधर इतना सब कौतुक कर कुमार प्रद्युम्न भी जन-सामान्य की दृष्टि से विलुप्त हो गया ।

तत्पश्चात् विनोदी कुमार ने एक विप्रकुमार (ब्राह्मण युवक) का वेश बनाया । उसने एक चतुष्पथ पर देखा कि सैकड़ों माली भिन्न-भिन्न प्रकार की मालाये बना रहे है । अपनी विद्या से जिज्ञासा करने पर कुमार को ज्ञात हो गया कि ये मालाये भानुकुमार के लिए प्रस्तुत हो रही हैं । तब विप्रवेशी कुमार ने मालियों से याचना की कि मुझे भिक्षा के लिए सत्यभामा के मन्दिर में जाना है, अतएव तुम लोग मुझे कुछ पुष्प दे दो, जिससे मुझे वहॉ प्रवेश में सुविधा हो । किन्तु मालियों ने बतलाया --'हे विप्र देव ! ये पुष्प-मालायें महारानी के पुत्र भानुकुमार के विवाह के लिए प्रस्तुत हो रही हैं । इनमे से एक भी पुष्प नहीं दिया जा सकता ।' तब कुमार ने उन पुष्पो का स्पर्श किया, जिससे वे सब सुगन्धित पुष्प आक के पत्तों में परिवर्तित हो गये ।

इस प्रकार प्रद्युम्न कौतुक करते हुए आगे बढे । उनका सब से विचित्र कौतुक यही होता था कि उत्तम कोटि की वस्तु के स्थान पर निम्न कोटि की वस्तु रख देना--जैसे गज के स्थान पर गर्दभ, अश्व के स्थान पर खच्चर एवं कस्तूरी के स्थान पर हीग रख देना । रत्न कॉच के टुकडे हो गये, सुवर्ण हो गया पीतल एवं पीतल मिट्टी हो गया । ऐसी विचित्र क्रीडा करते हुए प्रद्युम्न उस मनोहर राजमार्ग पर आ पहुँचे, जहॉ मदोन्मत्त गज झूम रहे थे । वहॉ प्रद्युम्न ने एक मनोरम महल देखा । तब उन्होंने अपनी विद्या से जिज्ञासा की । विद्या ने बतलाया--'हे नाथ ! यह स्वर्ग सदृश रमणीक महल श्रीकृष्ण के पिता महाराज वसुदेव है।' प्रद्युम्न ने पुनः विद्या से प्रश्न किया कि उनकी रुचि किस ओर अधिक रहती है ? विद्या ने बतलाया कि वे मेढों का युद्ध देखने मे रुचि रखते हैं । प्रद्युम्न ने तत्काल अपने विद्या-बल से एक मेढा बनाया एवं

उसे लेकर महल की ओर बढे । शीघ्र ही वे मणिमय अलकारो से सुशोभित उस महल मे जा पहुँचे । उन्होने सभा के मध्य विराजमान अपने पितामह के दर्शन किये । उनकी देह की आभा चन्द्रमा सदृश थी, भुजायें गजराज के सूँड के सदृश थीं, वक्षस्थल विस्तीर्ण एवं केश घुँघराले थे । अपने सर्वाग-सुन्दर पितामह को देखकर प्रद्युम्न को देखकर प्रद्युम्न को परम सन्तोष हुआ । उन्होने वसुदेव को आदरपूर्वक प्रणाम किया । वसुदेव भी एक नवयुवक विप्र एवं उसके मेढे को देखकर प्रसन्न हुए । उन्होने ध्यान से उस मेढे की ओर देखा एव फिर विप्रकुमार से जिज्ञासा की कि वह सुन्दर मेढ़ा किसका है तथा उसे वहॉ लाने का क्या उद्देश्य है ? नवयुवक ने उत्तर दिया--'यह मेढा मेरा है । मैंने सुना था कि आप मेढ़े का युद्ध देखने मे रुचि रखते हैं, इसलिये इस अजेय मेढे की परीक्षा के लिए आपके समक्ष लाया हूँ ।' वसुदेव ने कहा--'ऐसी बात है, तो इस मेढे को मेरी जघा पर टक्कर लेने दो । यदि मेरी जंघा टूट गयी, तो मै समझ लूँगा कि ऐसा बलवान अन्य मेढा इस पृथ्वी पर नही है ।' विप्रकुमार निवेदन किया--'मैं इस मेढ़े को आप पर नही उकसा सकता, कारण यदि इसने आपको आहत कर दिया, तो आपके सेवक मुझे मृत्युलोक का मार्ग दिखला देगे । इसलिये आप किसी अन्य रूप मे इसकी परीक्षा लें ।' किन्तु पुन. वसुदेव ने कहा--'तुम निर्भय होकर अपने मेढे को मेरी जघा पर प्रहार करने दो, इसमे तुम्हारा कोई भी अपराध नहीं समझा जायेगा ।' सब सेवको ने भी कहा--'अरे मूर्ख ! भला यह साधारण-सा मेढा महाराज वसुदेव सदृश बलवान पुरुष को आहत कैसे कर सकता है ?' तब विप्रकुमार ने (कृत्रिम) मेढे को बन्धन मुक्त कर इगित किया । मेढे ने वेग से वसुदेव पर प्रहार किया, फलतः वे मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पडे । चतुर्दिक कोलाहल मच गया । सेवकगण मलय, अगरु, चन्दनादि से अपने स्वामी का शीतलोपचार आदि करने लगे ।

इस प्रकार प्रद्युम्न अपने पितामह को गर्वरहित कर वहॉ से निकल आया । उसने पथ मे एक भव्य प्रासाद देखा, जहॉ पुत्र के विवाह का आयोजन हो रहा था । प्रद्युम्न ने कर्णपिशाची विद्या से जिज्ञासा की--'यह उत्तम महल किसका है ?' उस विद्या ने उत्तर दिया--'यह लोक प्रसिद्ध महल महारानी सत्यभामा का है ।' प्रद्युम्न ने विचार किया कि अपनी विमाता के प्रासाद का दर्शन अवश्य करना चाहिये।' उसने तत्काल ही एक चतुर्दश वर्षीय किशोर का सुन्दर रूप धर लिया एव वेद-पाठ का उच्चारण

करता हुआ सत्यभामा के महल में पहुँच गया । वहाँ सत्यभामा को सिंहासन पर बैठे हुए देखकर विप्र-रूपधारी कुमार ने कहा--'हे नारायण के मानसरोवर में निवास करनेवाली राजहसिनी ! विस्तृत पुण्य को धारण करनेवाली सत्यभामा देवी । आपका कल्याण हो । मैं कुलीन वंशोत्पन्न विप्र कुमार इस समय क्षुधा से व्याकुल हूँ । कृपया मुझे मनवॉछित भोजन करवा दें ।' उसका निवेदन सुन कर सत्यभामा मुस्कुराने लगी । उसी समय विवाह हेतु आमंत्रित अन्य विप्रगण भी सत्यभामा के प्रासाद में आ पहुँचे । वे एक विप्र किशोर को भोजन की याचना करते हुए देखकर कहने लगे--'अरे अभागे विप्र ! तु महारानी से भोजन की याचना करता है ? ये जिस पर कृपा कर दें, उसका तो भाग्योदय हो जाता है । तू रत्न, सुवर्ण, भूमि, धन, गोधन अथवा सुन्दरी कन्याओं की याचना क्यो नही करता ?' विप्र वेशधारी कुमार ने चतुरता से कहा--'हे द्विजगण ! आप सब मुझे मूर्ख क्यो कहते हो ? संसार की समस्त निधियो की याचनायें भोजन के लिए ही की जाती है । इसलिये मैने महारानी से भोजन की याचना की है । हे सत्यभामा ! अपने पुत्र की मगल कामना के लिए मुझे भरपेट स्वादिष्ट भोजन करवा दो ।' फलस्वरूप सत्यभामा प्रमुदित हो गई । उसने अपने सेवको को आदेश दिया--'इस विवेकी द्विज कुमार को मेरी पाकशाला मे ले जाकर इच्छा भर भोजन करा कर तृप्त कर दो ।' किन्तु द्विज वेशधारी कुमार ने कहा--'हे कल्याणी ! मैं इन मूर्ख एव नीच द्विजों के साथ भोजन नहीं करूँगा । जो पाखण्डी क्रियाहीन एव वेदादि से अनभिज्ञ है, उनके साथ भोजन करनामेरे लिए कदापि सम्भव नहीं है । हे देवी ! इन पतित द्विजों को भोजन कराने से तेरे अभिप्राय की क्या सिद्धि होगी ?' सत्यभामा वाचाल द्विज किशोर की गर्वोक्ति सुनकर भी उत्फुल्ल हुई । उसने आदेश दिया--'इस वेदज्ञ द्विज को आदरपूर्वक भोजन कराने के लिए लेकर जाओ ।' वहाँ जाकर द्विज-वेशधारी कुमार अग्रगण्य आसन पर आसीन हो गया । जब अन्य द्विजों ने उसे प्रधान आसन पर विराजमान देखा, तो वे अत्यन्त कुपित हुए । उन्होंने कहा--'यह तो बड़ा ही कलहप्रिय है । न तो इसकी जाति ज्ञात है एवं न कुल । साथ ही गोत्र, प्रवरादि का भी निश्चय नहीं है । ऐसी स्थिति में इसके साथ भोजन कैसे किया जाय ?' यह विचार कर वे द्विजगण अन्य भोजन-कक्ष में चले गये । किन्तु वहाँ भी वही विप्र कुमार प्रधान आसन पर आसीन दृष्टिगोचर हुआ । अब तो द्विजों के क्रोध का पारावार न रहा। उन सभी वेद-विशारद विप्रों ने निश्चय किया--'इसे अवश्य प्रताड़ित करना चाहिये । यह विप्र-द्वेषी है,

इसका तो वध करने पर भी पाप का भागी नहीं होना पड़ेगा ।' विप्रो का ऐसा निश्चय सुनकर वह विप्रकुमार कहने लगा--'हे विप्रों ! तुम लोग तो वेदज्ञ बनते हो, पर तुम मे द्विजत्व के लक्षण कहाॅ है ? जिन व्यक्तियों द्वारा यज्ञ में अश्व, मनुष्य, राजा, माता-पिता तक हवन कर दिये जाते हैं एवं वे उस दुष्कृत्य को पुण्य या धर्म कह कर व्याख्या करते हैं, उन्हें हम ब्रह्म-ज्ञानी कैसे कह सकते हें ? जिस धर्म में मधु-मद्य-मॉस को भक्ष्य बतलाया गया हो, जहॉ कुपेय को पेय कहा जाता हो, वह धर्म कैसा ?' विप्रकुमार के ऐसे कटु-वचनों से समस्त द्विज कुपित हो गये । उन्होंने निश्चय कर लिया कि इस क्रियाकाण्ड-विरोधी द्विज की हत्या कर डालो, क्योंकि ऐसे धर्म-विरोधी दुष्ट का वध कर डालने मे रंचमात्र भी पाप का बंध नहीं होता । क्रोध से उन्मत्त वे द्विजगण तब कुमार की ओर झपटे । प्रद्युम्न ने जब देखाकि ये द्विजगण तो वास्तव में उसका प्राणनाश करने को तत्पर हैं, तब उसने अपनी विद्या की सहायता से उन्हें परस्पर लड़वा दिया । वे एक दूसरे पर प्रहार करने लगे । इस प्रकार वे मूढ़ अपनी खोटी करनी के फलस्वरूप धराशायी हो गये ।

विप्रों की ऐसी दुर्दशा देखकर सत्यभामा ने हास्यपूर्वक कहा--'हे विप्रो ! आप लोग व्यर्थ में परस्पर युद्धरत क्यों हैं ?' विप्रकुमार रूपी प्रद्युम्न से भी उसने कहा--'हे बटुक ! तू इन विप्रो से क्यों कलह करता है ?' तब वह बटुक सत्यभामा के निकट जाकर कहने लगा--'हे रानी ! यह सब तेरी ही माया है । इन विप्रों से तू मेरी हत्या करवाना चाहती है, अन्यथा इन्हें निषेध क्यों नहीं करती ?' सत्यभामा ने कहा--'हे बटुक ! मैं समस्त घटना-चक्र देख चुकी हूॅ । अतः तुम मेरे समक्ष ही भोजन कर लो ।' विप्र-वेशी प्रद्युम्न भोजन करने हेतु सन्नद्ध हुआ । पक्वान्नादि स्वादिष्ट व्यंजन परोस दिये गये । बटुक ने आरम्भ में ही सत्यभामा से स्वीकृति ले ली कि जब तक उसकी तृप्ति न हो जाय, तब तक भोजन अविराम परोसा जाय । वह क्षुधित गजराज की भॉति भोजन करने लगा । आगे-पीछे जो अन्न लाया जाता, उसे वह चट कर जाता था । विवाह में निमंत्रित होकर जो नारियॉ आई थीं, वे भी कौतुकवश बटुक को भोजन परोसने लगीं । सत्यभामा के घर में जितना पकवान था, वह सब परोस दिया गया एवं उसे विप्रकुमार ने उदरस्थ कर लिया । यहॉ तक कि गज, अश्व आदि पशुओं के आहार के लिए जो अन्न सुरक्षित रखा गया था, उसे भी वह उदरस्थ कर गया ।

अब तो भारी कोलाहल मचा । लोगो ने समझा कि विप्रकुमार का वेश धारण कर कोई भूत या प्रेत ही आ गया है । कौतुक देखने के लिए दल-की-दल नारियाँ एवं पुरुष आने लगे । इधर विप्रकुमार की थाली खाली पड़ी थी, वह चिल्ला रहा था--'मेरी थाली में अन्न क्यों नहीं परोसा जाता ? क्या सत्यभामा कृपण या दरिद्र है ? जिसके भानुकुमार समान तेजस्वी पुत्र हो, नारायण स्वयं स्वामी हों, विद्याधरों का नायक जिसका पिता हो, वह भी कृपणता करे, यह महान् आश्चर्य का विषय है ।' चिल्लाते-चिल्लाते वह बटुक शनैः-शनैः अधिक उत्तेजित हो गया एवं बोला--'जब मेरे समान अल्पाहारी व्यक्ति की उदरपूर्ति नहीं हुई, तो स्थूलकाय एवं भोजनभट्ट अन्य विप्रगण कैसे सन्तुष्ट होंगे ? तुम सदृश कृपण का अन्न मेरे उदर में टिक नहीं सकता ।' इतना कहकर उसने समस्त आहार का वमन कर दिया, जिसमें सत्यभामा सहित उपस्थित नारियाँ और महल की समग्र वस्तुएँ डूबने-उतराने लगीं । तत्पश्चात् जल ग्रहण कर प्रद्युम्न वहाँ से चल पड़ा । कुमार ने आगे एक भव्य मन्दिर देखा, जिसमें उत्सव सम्पन्न हो रहे थे । विद्या ने बतलाया कि यह उसकी माता रुक्मिणी का मन्दिर है । कुमार ने एक क्षुल्लक का वेश धारण किया । अपना सर्वांग इतना विकृत बना लिया कि उसे देखते ही घृणा आती थी । उसने क्षुल्लक के वेश में अपनी माता के मन्दिर में प्रवेश किया । वह रत्न-खचित मन्दिर उस समय विभिन्न प्रकारके वाद्यों से मुखरित हो रहा था । वह चन्दन तथा अगुरु के धूम्र से व्याप्त होकर सारे नगर को सुगंधित कर रहा था । मन्दिर में प्रवेश करते ही क्षुल्लक ने देखा--जिन-प्रतिमा के सम्मुख कुशासन पर रुक्मिणी विराजमान है । उसके चतुर्दिक कामिनियों का समूह खड़ा था । रुक्मिणी को देखकर क्षुल्लक वेशधारी कुमार सोचने लगा--'क्या यह इन्द्राणी हैं अथवा महादेव की पार्वती ? शायद नारायण श्रीकृष्ण के निमित्त समस्त जगत् की सुन्दरता का सार मिल कर इनका निर्माण हुआ हो ।' अपनी माता को जिनेन्द्र भगवान की आराधना में तल्लीन देखकर कुमार बड़ा प्रसन्न हुआ । उसने मन-ही-मन उन्हें प्रणाम किया है । सत्य है, उत्तम कुल में उत्पन्न ऐसा कौन व्यक्ति है, जो अपने गुरुजन में श्रद्धा नहीं रखता ?

क्षुल्लक को देखकर रुक्मिणी बड़ी प्रभावित हुई । उसने मस्तक नवाकर उसे नमस्कार किया । उसके आसन के लिए रुक्मिणी ने रत्नजड़ित सिंहासन प्रम्तुत किया एवं स्वयं सम्मान में खड़ी हो गयी । पर देर तक खड़ी रहने से एवं पृथुल उरोजों के भार से उसकी क्षीण कटि पीड़ित हो रही थी । क्षुल्लक ने इंगित

श्री प्रद्युम्न चरित्र

से बैठने का निर्देश दिया । फलत. वह बैठ गयी । दोनों में धर्म-चर्चा होने लगी कुछ काल पश्चात् क्षुल्लक ने कहा--'हे माता ! सम्यक्त्व मे आपकी प्रसिद्धि सुनकर ही मैं यहाँ आया हूँ । किन्तु मुझे दुःख है कि वैसा आपको नहीं पा रहा हूँ । मैं यात्रा के श्रम से क्लान्त हूँ, तदुपरान्त भी आपने चरण-प्रक्षालन के लिए प्रासुक जल-व्यवस्था नहीं की ।' रुक्मिणी चित्त में विचारने लगी--'वस्तुत. इस समय मुझसे यह भारी त्रुटि हुई है ।' उसने तत्काल ही उष्ण जल लाने के लिए सेवकों को आदेश दिया । सेवक जल की व्यवस्था हेतु दौड़े, किन्तु कुमार ने अपने विद्याबल की माया से अग्नि स्तम्भित कर दी, फलतः जल उष्ण न हो सका । क्षुल्लक ने फिर कहा-'हे माता ! उष्ण जल नहीं मिल सका तो न सही, पर मुझे भोजन तो करवा दे ।' रुक्मिणी शीघ्रता से उठी एवं स्वयं ही अग्नि प्रज्वलित करने के लिए प्रस्तुत हुई । किन्तु वह प्रयत्न करते-करते व्याकुल हो गयी, फिर भी अग्नि प्रज्वलित नहीं हुई ।' उसे व्याकुल देखकर क्षुल्लक कहने लगा--'हे माता ! आपके भण्डार में पूर्व निर्मित पकवान ही हो, तो मुझे दे दो । मैं क्षुधा से व्याकुल हो रहा हूँ ।' रुक्मिणी ने भण्डार में सब ओर देखा, पर कहीं भी पकवान नहीं मिले ।' हाँ ! कुछ मोदक महाराज श्रीकृष्ण के लिए रखे हुए थे । वे इतने बड़े-बड़े थे कि नारायण श्रीकृष्ण भी एक से अधिक नहीं खा सकते थे । उन्हें देखकर रुक्मिणी ने सोचा--'यदि इस कृशांगी क्षुल्लक को ये मोदक (लड्डू) देती हूँ, तो अवश्य ही अपच से उसकी मृत्यु हो जायेगी, किन्तु यदि नहीं देती हूँ, तो वह क्रोधित हुए बिना नहीं रहेगा ।' उसे इस प्रकार उहापोह में पड़ा देखकर क्षुल्लक उच्च स्वर में पुकार उठा--'हे माता ! तू कृपणतावश मोदक देना नहीं चाहती । ऐसा ज्ञात होता है कि मुझे आहार करवाने की इच्छा नहीं है ?' रुक्मिणी ने तब उसके सामने मोदक रख दिये । वह तत्काल ही उन्हें चट कर गया । इसके पश्चात् वह अन्य भोज्य पदार्थ लाने के लिए प्रस्तुत हुई, किन्तु क्षुल्लक ने यह कहकर निषेध कर दिया कि उसकी क्षुधा शान्त हो चुकी है । इस प्रकार अपनी जननी की परीक्षा लेकर क्षुल्लक वेशधारी कुमार प्रद्युम्न पूर्णरूपेण सन्तुष्ट हुआ ।

जिस समय क्षुल्लक एव रुक्मिणी में धर्म-सम्बन्धी चर्चा हो रही थी, उस समय श्री सीमन्धर स्वामी के कथनानुसार कुमार के आगमन के चिन्ह प्रकट होने लगे । रुक्मिणी के महल के सम्मुख का अशोक वृक्ष पुष्पित हो उठा, गूँगों मे वाक्शक्ति आ गयी, कुरूप सुरूपवान हो गये, नेत्रहीनों को दृष्टि मिल गई--यही

श्री प्रद्युम्न चरित्र

नहीं शुष्क वापिकायें जल से परिपूर्ण हो गयीं एवं असमय में ही ऋतुराज बसंत का आगमन हो गया । यद्यपि ये शुभ लक्षण देखकर रुक्मिणी प्रसन्न हो रही थी, संग ही उसके उरोजों से पय (दुग्ध) की धारा प्रवाहित हो चली थी तथापि अपने प्रिय पुत्र प्रद्युम्न का आगमन उसे समझ में नहीं आया । उसने सोचा--'कहीं यह क्षुल्लक ही मेरा प्रद्युम्न न हो । किन्तु क्या मेरा पुत्र इतना कुरूप हो सकता है ? यदि वास्तव में ऐसा ही हुआ एवं यही मेरा पुत्र हो, तो सत्यभामा के समक्ष मेरा क्या मान रह जायेगा ? वह अवश्य ही मेरा उपहास करेगी । ऐसे नाना विधि कल्पना कर रुक्मिणी कुछ काल तक मौन रही । पर कुछ काल पश्चात् ही उसने विचार किया--'क्या यह भी सम्भव हो सकता है कि नारायण श्रीकृष्ण का पुत्र ऐसा कुरूप हो । मेरे गर्भ से उत्पन्न पुत्र में प्रतिभा तो होनी ही चाहिये । स्वयं नारद मुनि ने तो कहा था कि तेरे पुत्र का विद्याधर के यहाँ लालन-पालन हो रहा है, वह समस्त विद्याधरों का स्वामी होकर लौटेगा। ऐसी स्थिति में मैं क्या समझूँ ? हो सकता है, वह मेरी परीक्षा ले रहा हो । फिर भी षोडश लाभों का प्राप्त करनेवाला एवं अनेकों विद्याओं का अधिपति ऐसी असहाय अवस्था में तो नहीं हो सकता है ।' ऐसे संकल्प-विकल्प में पड़ी हुई रुक्मिणी तब क्षुल्लक से कहने लगी--'हे प्रभु ! मैं आपसे एक जिज्ञासा करती हूँ । कृपया अपने जनक-जननी तथा स्वयं का परिचय देकर मुझे सुखी करें ।' क्षुल्लक ने कहा--'जिसने घर-द्वार, माता-पिता को त्याग दिया, उससे उसके कुल का परिचय क्यों जानना चाहती हैं ? हे माता ! आप सदृश सम्यक्त्व धारण करने वाली नारी को ऐसे अनर्गल प्रश्न नहीं करने चाहिये । फिर भी जब आपने जिज्ञासा प्रकट की है, तो स्पष्ट करता हूँ--नारायण श्रीकृष्ण मेरे जनक हैं एवं आप मेरी माता हैं, कारण श्रेष्ठ श्रावक ही यतियों के माता-पिता हुआ करते हैं ।'

जिस समय क्षुल्लक एवं रुक्मिणी में वार्तालाप हो रहा था, उसी समय सत्यभामा को उस प्रतिज्ञा का स्मरण हो आया, जो पूर्व काल में की जा चुकी थी । उसने एक नापित (नाई) के साथ अपनी दासियों को रुक्मिणी के समीप भेजा । वे गाती हुई रुक्मिणी के महल में जा पहुँची । एकाएक उनका आगमन ज्ञात होने पर रुक्मिणी के शोक का पारावार न रहा । उसके नेत्रों से अश्रुओं की अविरल झड़ी लग गयी। रुक्मिणी की ऐसी विचित्र दशा देखकर कुमार ने प्रश्न किया--'हे माता ! यह तो बतलाओ कि तुझे सहसा तीव्रतम शोक क्यों उत्पन्न हुआ ? तब वह कहने लगी--'सत्यभामा नाम की मेरी सौत है, जो हर प्रकार

से कला, विद्या एवं सौन्दर्य में अपूर्व है । यद्यपि मैं उतनी गुणवती नही हूँ, तब भी महाराज श्रीकृष्ण मेरे ऊपर विशेष अनुग्रह ग्खते हैं । एक समय हम दोनों ने परस्पर प्रतिज्ञा की कि जिसके पहिले पुत्र उत्पन्न हो, उसका विवाह भी पहिले हो । उस विवाह के समय दूसरी अपनी शिखा (चोटी) के केशो से पुत्रवती के पग पूजे । संयोग से पहिले मेरे गर्भ मे पुत्र उत्पन्न हुआ, किन्तु उसी दिवस सत्यभामा के गर्भ से भानुकुमार की उत्पत्ति हुई । पर दुर्भाग्य का कोई क्या करे ? मैं ऐसी पुण्यहीन निकली कि मेरे पुत्र को दैत्य हर कर लेगया । अब भानुकुमार का विवाह हो रहा है, इसलिये सत्यभामा ने मेरे केश लेने के लिए अपनी दासियाँ भेजी है । प्रतिज्ञा के अनुसार मैं केश देने के लिए बाध्य हूँ । एक बार मैं केश देने के भय से नगर के बाहर जाकर प्राण-त्याग करना चाहती थी कि नारद मुनि आ गये एवं उन्होंने मेरे पुत्र (प्रद्युम्न) के सकुशल होने तथा निकट भविष्य में आगमन की घोषणा की । इसलिये मैंने प्राण-त्याग की इच्छा का परित्याग कर दिया था । किन्तु मैं अब तक न तो अपने प्रिय पुत्र का कमलवत् मुख देख सकी एवं न ही प्राण-त्याग कर सकी । सच मानो तो मैं दोनों ओर से ही भ्रष्ट हो गयी ।

क्षुल्लक को अपना दुखड़ा सुनाकर वह फूट-फूटकर रुदन करने लगी । कुमार माता को समझाने लगा । उसने आगन्तुक दासियों के समक्ष विक्रिया प्रारम्भ की । कुमार ने माया से एक कृत्रिम रुक्मिणी की रचना की । उस कृत्रिम रुक्मिणी को उसने सिंहासन पर आसीन कर दिया एव वास्तविक रुक्मिणी को अन्तर्ध्यान कर स्वयं कंचुकी के वेश मे सिंहासन के समक्ष खडा हो गया । नापित के साथ सत्यभामा की दासियाँ आ चुकी थीं । वे कहने लगी--'हे माता ! इसमें हमारा किंचित् भी दोष नहीं है । हमतो आपकी सेविका है । जो कुछ हो रहा है, वह महारानी सत्यभामा की आज्ञा से हो रहा है । उन्होंने हमें आपकी शिखा (चोटी) लाने के लिए भेजा है.।' कृत्रिम रुक्मिणी ने कहा--'एवमस्तु ! तुम लोगों को भयभीत होने का कोई कारण नहीं । मैं प्रतिज्ञानुसार स्वय अपनी शिखा देने के लिए प्रस्तुत हूँ ।' दासियो ने हर्षित होकर दधि, दूब, अक्षत आदि मांगलिक द्रव्यों को रुक्मिणी के समक्ष रख दिया एवं नापित अपनी छुरिका लेकर आगे बढ़ा । मायामयी रुक्मिणी ने अपना केश-विन्यास उन्मुक्त कर दिया एवं नापित से कहा--'लो निर्भय होकर मेरी शिखा (चोटी) काट लो ।' यह अनुमति पाकर नापित उसके केशराशि पर छुरिका चलाने लगा एव दासियाँ मंगल गीत गाने लगी । उस समय एक विचित्र घटना हुई । नापित का

हाथ बहक गया एवं उसने रुक्मिणी की शिखा के स्थान पर स्वयं अपनी नासिका का अग्रभाग काट लिया। फिर भी राजाज्ञा की अवहेलना के भय से उसने बारम्बार प्रयास किया एवं फलतः उसकी अगुलियाँ तथा संग में आई दासियों के नासिका-कर्ण आदि क्षत-विक्षत हो गये । पर कुमार की माया से उन्हें कष्ट का ज्ञान नहीं हुआ, उनके चित्त पर विभ्रम छाया हुआ था । वे दासियाँ तथा नापित रुक्मिणी की प्रशंसा करते रहे । अब उन्हें रुक्मिणी के प्रतिज्ञा-निर्वाह पर श्रद्धा हो चली थी । इस प्रकार रुक्मिणी का गुणगान करती हुई वे सब उसके महल से बाहर निकले । उनकी विकृत आकृति देखकर मार्ग में दर्शक हँसते थे । पर वे दासियाँ हर्ष से नृत्य करती हुई सत्यभामा के महल में जा पहुँचीं । वे स्वामिनी से निवेदन करने लगीं कि रुक्मिणी अत्यन्त सुशीला एवं सत्यभाषिणी है, उसने प्रसन्नतापूर्वक अपनी शिखा कटवा ली । नापित एवं दासियों को विकृत आकृति में देख कर सत्यभामा को महान आश्चर्य हुआ । उसने जिज्ञासा की--'अच्छा ! यह तो बतलाओ कि तुम्हारी नासिका एवं कर्ण किसने काट लिये ?' सत्यभामा की ऐसी अशुभ-सूचक बातें सुनकर नापित तथा समस्त दासियाँ अपने नासिका कर्ण टटोलने लगे । जब उन्हें ज्ञात हुआ कि दोनों अंग कट गए हैं, तो वे संकोच से व्याकुल हो गये । अब उन्हें बड़ी वेदना होने लगी । उनकी दुर्दशा देखकर सत्यभामा आग-बबूला हो गई । उसने अपने नेत्र रक्तवर्णी करके प्रश्न किया--'यह निन्दनीय काण्ड किसके द्वारा हुआ ? मैं तो समझती थी कि रुक्मिणी ने प्रसन्नता से अपने केश लेने दिये होंगे, किन्तु वहाँ तो मेरे सेवकों का ही अंग भंग किया गया है । यह निश्चित है कि भृत्य के पराभव से स्वामी भी परास्त समझा जाता है । अवश्य ही यह कृत्य विवेकहीन श्रीकृष्ण (गोपाल) ने किया होगा । बिना उनकी सहमति के रुक्मिणी का ऐसा साहस कदापि नहीं हो सकता था । यदि उसे केश देना स्वीकार नहीं था, तो प्रतिज्ञा से मुकर जाती ।' इस प्रकार क्रोधरूपी दावानल बनी सत्यभामा अपने पार्षदों से कहने लगी--'आप लोग जाकर समस्त वृत्तान्त श्रीकृष्ण की राजसभा में बलदेवजी को सुनायें ।' सत्यभामा की आज्ञा के अनुसार उसके पार्षद नापित एवं दासियों को लेकर नारायण श्रीकृष्ण की सभा में गये । जब श्रीकृष्ण की दृष्टि सत्यभामा की कनकटी एवं नकटी दासियों पर पड़ी, तो वे अट्टहास कर उठें । पार्षदों ने सभा में उपस्थित होकर बलदेव से समस्त वृत्तान्त कह सुनाया ।' श्रीकृष्ण ने जिज्ञासा की कि इनके नासिका, कर्ण एवं केश आदि कैसे काट लिए गये ? श्रीकृष्ण का कथन सुनकर बलदेव बड़े क्रोधित हुए।

उन्होंने कहा--'यह प्रतिज्ञा सम्पूर्ण यादवों की साक्षी देकर हुई थी । यदि इस प्रकार का उपद्रव रुक्मिणी करती है, तो मैं उसका समस्त अभिमान क्षण भर में विनष्ट कर दूँगा ।' उन्होंने अपने सेवकों को आज्ञा दी कि वे जाकर रुक्मिणी का महल लूट लें ।

सत्यभामा की दासियों के चले जाने के पश्चात् कुमार कंचुकी का रूप बदल कर पुनः क्षुल्लक के वेश में आ गये । उस समय रुक्मिणी को विश्वास हो गया कि यह क्षुल्लक ही विद्याधर के घर में पालित उसका ही पुत्र है । उसने कुमार से कहा--'हे पुत्र ! अब तू माता के समक्ष कौतुक मत कर । तू अपनी माया समेट कर प्रकट हो जा । तू समस्त विद्याओं का नायक है । मैंने तुझे बुलाने के लिए ही नारद मुनि से प्रार्थना की थी ।' माता की स्नेहपूर्ण उक्ति सुनकर कुमार ने कहा--'हे माता ! मैं नारद मुनि के साथ ही आया हूँ । किन्तु मुझ जैसे कुरूप पुत्र से आपको कौन-सी सिद्धि प्राप्त होगी ? वस्तुतः आपको जगत् के समक्ष लज्जित ही होना पड़ेगा । इसलिये मुझे अनुमति दें कि मैं कहीं अन्यत्र प्रस्थान कर जाऊँ ।' किन्तु रुक्मिणी अधीर हो उठो । उसने कहा--'हे पुत्र ! कुरूप होते हुए भी तुझे मैं कहीं भी जाने नहीं दूँगी ।'

कुमार ने देखा कि यदि वह प्रगट न हुआ तो, माता की अधीरता उत्तरोत्तर बढ़ती ही जायेगी । इसलिये उसने तत्काल ही अपना सर्वांग सुन्दर रूप धारण किया । कान्तिपूर्ण देहयष्टि, चन्द्रमा के सदृश मुख तथा विशाल वक्षस्थल वाले कुमार ने जननी को प्रणाम किया । उस समय रुक्मिणी की प्रसन्नता का क्या ठिकाना ? उसने सहर्ष पुत्र को वक्ष से लगा लिया । उसके कपोलो एवं शीश का चुम्बन करते समय उसके नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी । विद्याभूषित पुत्र की कान्ति को देखकर रुक्मिणी कहने लगी--'हे पुत्र ! मैं अभागिनी तेरी शैशवावस्था न देख पायी । राजा कालसम्वर की रानी कनकमाला धन्य है, जिसने तेरा मनोहरी बाल्यकाल देखा एवं पालन कर तुझे इतना बड़ा किया । मैं अत्यन्त अभागिनी ठहरी, जो नव मास गर्भ धारण करके भी पुत्र का बाल्यकाल देखने का सौभाग्य प्राप्त न कर सकी । मैं किसे दोष दूँ? यह सब मेरे भाग्य का ही फल है ।'

माता का उत्कट वात्सल्य देखकर कुमार अबोध शिशु बन गया । वह बालकोचित लीलाएँ करता हुआ भूमि पर सरकने लगा । माता बड़ी प्रसन्न हुई । वह झट से अंक में उठा कर उसे दुग्ध-पान कराने लगी। क्रीड़ा चतुर बालक धीरे-धीरे घुटने के बल से चलने लगा । उसकी पैजनियों की 'रुन-झुन' ध्वनि तथा

श्री प्रद्युम्न चरित्र

उसकी तोतली बोली से रुक्मिणी का चित्त प्रफुल्लित हो उठा । वह कभी धूल में खेलता एवं कभी माता की ग्रीवा से लिपट जाता था । इस प्रकार कुमार की क्रीड़ा बड़ी देर तक होती रही । एकाएक क्षुधा का अनुभव कर वह रुदन करने लगा । उसे विलाप करते हुए देखकर रुक्मिणी अत्यन्त दु:खित हुई । उसने कहा--'हे पुत्र ! रुदन मत कर । मैं यह सहन नहीं कर सकती ।' इतना सुनना था कि वह अपने वास्तविक स्वरूप में आ गया । उसकी आकृति युवा पुरुष की हो गयी । उस समय रुक्मिणी ने पुत्र का कपोल-चुम्बन कर कितना सुख प्राप्त किया, यह वर्णनातीत है । इधर माता-पुत्र में वार्तालाप हो रहा था, उधर बलदेव के भेजे हुए दूत रुक्मिणी के महल तक आ पहुँचे । उन्हें शस्त्र लिये हुए आते देखकर कुमार ने माता से जिज्ञासा की--'यह कौन हैं एवं किसलिये आ रहे हैं ?' रुक्मिणी ने बतलाया--'ये बलदेवजी के सेवक हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने मुझ पर क्रोधित होकर दण्ड देने के लिए इन्हें भेजा है । शायद सत्यभामा की दासियों की दुर्गति से ही वे क्रोधित हुए हैं, क्योंकि वह प्रतिज्ञा उन्हीं की साक्षी देकर हुई थी ।' कुमार ने कहा--'हे माता ! चिन्ता मत करो । मैं जाता हूँ एवं अपने कर्तव्य का पालन करूँगा ।' रुक्मिणी नहीं चाहती थी कि उसका प्रिय पुत्र बड़े-बड़े शूरवीरों से उलझे । किन्तु स्वाभिमानी कुमार को यह सब कह्य था ? उसने अपनी विद्या का स्मरण किया एवं महल के सम्मुख की वीथि (गली) में जाकर एक स्थूलकाय ब्राह्मण का रूप धारण कर लिया । वह स्थूलकाय ब्राह्मण बलदेव के सुभटों के आने के पूर्व ही रुक्मिणी के महल में प्रवेश-पथ को अवरुद्ध कर भूमि पर पड़ रहा । जब वे सुभट आये तो उनमें से एक के अतिरिक्त शेष सभी स्तम्भित (कीलित) हो गये । उस एक ने जाकर बलदेव को सूचना दी। तब वे अत्यधिक क्रोधित हुए । उन्होंने कुपित होकर कहा-'क्या रुक्मिणी विद्याधरी हो गयी है ? शायद मंत्र-बल से ही श्रीकृष्ण उसके वश में हैं । अब मैं चल कर उसके मंत्रों की परीक्षा करता हूँ ।'

बलदेव क्रुद्ध होकर रुक्मिणी के महल की ओर अग्रसर हुए । वीथि में वही स्थूलकाय ब्राह्मण भूमि पर लेटा हुआ मिला । उन्होंने नम्रतापूर्वक कहा--'हे द्विजराज ! मैं आवश्यक कार्य से जा रहा हूँ । कृपाकर आप मार्ग प्रदान करें ।' ब्राह्मण कहने लगा--'हे क्षत्रियराज ! मैं सत्यभामा के यहाँ से भोजन कर के लौटा हूँ । प्रथम तो मेरी काया ही स्थूल, तदुपरान्त भोजन भी गरिष्ठ था । इसलिये आप अन्य मार्ग से चले जायें, तो उत्तम हो ।' बलदेव कुपित हो गये । उन्होंने कहा--'अरे अधम ! मुझे आवश्यक कार्य है एवं मैं इसी

पथ से जाऊँगा । तू दक्षिणा का अन्न खाकर मेरा मार्ग अवरुद्ध करता है ?' तब ब्राह्मण ने भी कहा--'अरे मूर्ख ! व्यर्थ क्यों छेड़ता है ? यदि तुझे इतनी शीघ्रता ही है, तो मेरे ऊपर से लांघ कर चला जा ।'

ब्राह्मण के कटु-वाक्य सुनकर बलभद्र उसे पकड़ कर नगर के द्वार तक ले गये । किन्तु जब वे लौट कर आये, तब देखा कि ब्राह्मण जहाँ पहिले सोया था, वहीं पड़ा हुआ है । अब तो उनका क्रोध प्रचण्ड दावानल बन गया । वे कहने लगे --'ऐसा प्रतीत होता है कि अनुज-वधु मेरे ऊपर ही अपनी माया का प्रयोग करने पर तत्पर हो गयी है । वह रुक्मिणी के स्थान पर डाकिनी तो नहीं हो गयी ?' बलभद्र को इस प्रकार व्याकुल एवं बडबड़ाते हुए देखकर कुमार ने अपनी माता से प्रश्न किया--'यह शूरवीर पुरुष कौन है ? इसकी चेष्टाओं से प्रतीत होता है कि यह संग्राम का अभिलाषी है ।' रुक्मिणी ने बतलाया--'ये यादवों के पूज्य परम पराक्रमी तुम्हारे काका बलदेव हैं । इस समय इनके समान दुर्द्धर वीर पृथ्वी पर नहीं है ।' प्रद्युम्न ने बड़ी सरलता से जिज्ञासा की--'हे माता ! ये किसके साथ द्वन्द-युद्ध करने की इच्छा रखते हैं ?' रुक्मिणी ने कहा--'इन्हें सिंह के साथ युद्ध करने में सर्वाधिक प्रसन्नता होती है ।' तब कुमार ने बलभद्र के साथ द्वन्द-युद्ध करने की इच्छा प्रकट की । माता के निषेध करने पर भी अपनी माया समेट कर ब्राह्मण का लोप कर दिया एवं स्वयं सिंह का रूप धारण कर लिया । प्रचण्ड आकार एवं भयंकर मुद्रा के सिंह को देखकर बलभद्र के विस्मय का पारावार न रहा । वह सिंह राजमहल के भीतर से ही गरजने लगा । अब तो उन्हें दृढ़ विश्वास हो गया कि यह सब रुक्मिणी की ही माया है । बलभद्र क्रोधित तो थे ही, वे सिंह से जा भिड़े । उनमें दीर्घ काल तक द्वन्द-युद्ध होता रहा । अन्त में सिंह वेश-धारी कुमार ने बलभद्र को धराशायी कर दिया एवं अपना वास्तविक रूप धारण कर माता के समीप चला आया ।

महापराक्रमी पुत्र से रुक्मिणी कहने लगी--'हे पुत्र ! अब तक तूने नारद मुनि की कुशल क्षेम नहीं सुनायी । बता कि वे कहाँ हैं ?' प्रद्युम्न ने उत्तर दिया--'वे मेरे साथ ही विमान पर आये हैं । इस समय वे आकाश में स्थिर विमान पर आरूढ़ हैं । उनके साथ आपकी पुत्र-वधू भी है ।' पुत्र-वधू के सम्बन्ध में सुनकर रुक्मिणी को घोर आश्चर्य हुआ । उसने जिज्ञासा की--'तुझे उदधिकुमारी कहाँ मिली ?' प्रद्युम्न कहने लगा--'राजा दुर्योधन ने जिस उदधिकुमारी को मेरे लिए भेजा था, उसे मैने भील का रूप धारण

कर मार्ग में ही हस्तगत कर लिया । वह भी नारद मुनि के साथ विमान पर आरूढ़ है ।' इसके पश्चात् भानुकुमार का गर्व-भंग, सत्यभामा के उद्यान का विनाश, आदि लीलायें उसने रुक्मिणी से कह सुनायीं। समस्त वृत्तान्त ज्ञात होने पर रुक्मिणी बड़ी ही प्रसन्न हुई । उसने आतुरतापूर्वक कहा--'हे पुत्र ! मुझे नारद मुनि के दर्शन की उत्कट लालसा है । उन्हें सादर यथाशीघ्र मेरे समीप लाओ ।' प्रद्युम्न कहने लगा--'हे माता ! उन्हें तो बुला दूँगा, किन्तु अभी तक मैं अपने कुटुम्बीजनों से नहीं मिल सका हूँ । उन लोगों से मिलने के पश्चात् ही नारद मुनि को ले आऊँगा ।' रुक्मिणी ने बतलाया--'यादवों एवं पाण्डवों की सभा में तुम्हारे पिता (श्रीकृष्ण) विराजमान होंगे, उन्हें जाकर प्रणाम करो ।' वह कहने लगा--'हे माता ! उत्तम कुल में उत्पन्न होने वाले का यह नियम नहीं कि वह स्वयं अपने कुल आदि का परिचय दे । अतएव मैं कैसे कह सकूँगा कि मैं आपका पुत्र हूँ । इससे तो यही उत्तम होगा कि पहिले मैं उन लोगों को अपना पराक्रम दिखला दूँ, तत्पश्चात् परिचय दूँ ।' रुक्मिणी भयभीत हो गयी । उसने अपने लाड़ले पुत्र से कहा--'हे प्रिय पुत्र ! यादवगण बड़े धनुर्धर हैं । उन्हें अनेक भीषण युद्धों में विजयश्री प्राप्त हुई है । अतएव उनसे युद्ध करना कदापि उचित नहीं होगा ।' किन्तु कुमार कहने लगे--'हे माता ! मैं देखना चाहता हूँ कि केवल भगवान नेमिनाथ के अतिरिक्त अन्य यादव कितने बलवान हैं ? पर मैं आपसे एक कार्य करवाना चाहता हूँ । आप मेरे संग अपनी पुत्र-वधू के समीप चलें, वह विमान में नारद मुनि के संग बैठी है । उसको आपकी छत्रछाया में सौंप कर मैं अपनी इच्छानुसार कार्य करूँगा ।' रुक्मिणी भी असमंजस में पड़ गयी।' उसने सोचा--'यदि मैं बिना नारायण श्रीकृष्ण की आज्ञा के पुत्र के साथ जाती हूँ, तो पतिव्रत से विचलित होती हूँ एवं यदि नहीं जाती हूँ, तो पुत्र असन्तुष्ट होता है । सम्भव है, वह पुनः विद्याधरों के देश में न लौट जाय । इसलिये पुत्र की इच्छापूर्ति करना ही श्रेयस्कर होगा ।' रुक्मिणी की अनुमति मिलने पर कुमार उन्हें आकाश में ले गया । उस समय रुक्मिणी के आभूषणों की छटा से समस्त दिशायें सुवर्णमयी हो गयीं ।

तत्पश्चात् कौतुकी प्रद्युम्न ने एक विचित्र लीला की । अपने विद्याबल से रचित कृत्रिम रुक्मिणी का कर (हाथ) थामे वह यादवों की सभा में आ गया । उसने श्रीकृष्ण एवं बलदेव को सम्बोधित करते हुए कहा--'यहाँ उपस्थित समस्त यादव एवं पाण्डव वीरों ! यद्यपि आप लोगों ने दुर्धर संग्रामों में विजय प्राप्त

की है, तथापि आज एक विद्याधर का पुत्र अर्थात् मैं भीष्म की पुत्री एवं श्रीकृष्ण की प्रिया साध्वी रुक्मिणी को हरण कर लिए जा रहा हूँ। जिसके लिए बलदेव एवं श्रीकृष्ण ने निरीह शिशुपाल का वध किया, उसे आज मैं हर कर ले जाऊँ, तो आप सबके जीवित रहने अथवा न रहने का क्या प्रयोजन ? यदि आपमें शक्ति हो, तो मेरे बन्धन से रुक्मिणी को मुक्त करा लें। आपकी समस्त सेना के एकत्रित हो जाने पर भी मैं बिना युद्ध किये न रहूँगा। न तो मैं चोर हूँ एव न व्यभिचारी, पर आपकी शक्ति की परीक्षा के लिए रानी रुक्मिणी को लिए जा रहा हूँ।' विद्याधर-पुत्र के कटु वाक्यों से यादवों की सभा में कोलाहल मच गया। बलदेव मूर्च्छित होकर गिर गडे। किंतु शीघ्र ही उनकी मूर्च्छा की निवृत्ति हुई। उनका सर्वांग क्रोधाग्नि से प्रज्वलित हो उठा। उस समय पाण्डव भीम एवं अर्जुन भी उत्तेजित होकर उठने लगे। किन्तु युधिष्ठिर ने संकेत करते हुए समझाया कि युद्ध आरम्भ हो जाने दो, वहीं उनकी वीरता की परीक्षा हो जायेगी। इस प्रकार कितने ही राजपुत्र अपने खड्ग तथा अस्त्र-शस्त्र चमकाने लगे। क्रोध से विह्वल यादवों का तेज देखने योग्य था। कुछ विद्वान सभासद लोग यह भी कहने लगे कि तुम्हारे सदृश सामान्य वीरों से उस विद्याधर-पुत्र का परास्त होना सर्वथा असम्भव है। अतएव रणभेरी का नाद हो, जिससे युद्ध की घोषणा सर्व-साधारण पर प्रकट हो जाय। अतः रणभेरी बजी। समस्त वीर एकत्रित हुए। युद्ध की सम्भावना में आनन्दातिरेक से वे इतने फूले कि उनके वक्ष के कवच तक भी टूटने लगे।

समस्त सेना राजमहल के विस्तृत प्रांगण में एकत्रित हुई। तत्पश्चात् महारथियों के नेतृत्व में सेना वहाँ से आगे बढ़ी। आगे-आगे गजराजों का समूह चला, मानो प्रलयकाल के मेघ जा रहे हों। उनके मद की वर्षा से भूमि पकयुक्त हो रही थी। तदुपरान्त द्रुतगामी अश्व-समूह चला, जिसका मध्य भाग दिव्य शस्त्रों से सुशोभित हो रहा था। इसके पश्चात् अपनी लम्बी-लम्बी ध्वजायें फहराते हुए रथों का समूह चला। सबसे अन्त मे कवचादि से सुशोभित समस्त पदाति सेना बढ़ चली। मार्ग में विभिन्न प्रकार के अपशकुन होने लगे, फिर भी योग्य-अयोग्य का विचार बिना किये ही यादवों एवं पाण्डवों की वह संयुक्त सेना आगे बढ़ती गई।

उधर प्रद्युम्न ने अपनी माता को विमान पर बैठा लिया। नारद को देखकर रुक्मिणी बडी प्रसन्न हुई। उसने भक्तिपूर्वक नारद को नमस्कार किया नव-वधू ने भी अपनी सास को प्रणाम किया। कुमार सबको

आकाश में ही स्थिर कर स्वयं भूतल पर उतरा । उसने अपने विद्याबल से यादवों के सदृश रथ, गज, अश्व तथा पदातिक अर्थात् चतुरंगिणी सैन्य की रचना की । श्रीकृष्ण की सेना में जिस प्रकार केशवादि नाम के मित्र राजा थे, उसी प्रकार प्रद्युम्न की सेना में भी वही मित्र राजा दृष्टिगोचर हुए । दोनों सेनायें एक समान नाम की हो गई । दोनों ओर से जुझारू वाद्य बज उठे । बन्दीजन विरुदावली गाने लगे । युद्ध के लिए प्रस्तुत दोनों सेनाओं को देखकर नगर की नारियाँ परस्पर वार्तालाप करने लगीं ।

एक चन्द्रमुखी महल के वातायन पर खड़ी थी । उसने कहा--'यह युद्ध यही समाप्त हो जाय तो उत्तम होगा ।' अन्य ने कहा--'मुझे तो ऐसा प्रतीत हो रहा है कि नारायण श्रीकृष्ण के ग्रह उत्तम नहीं । एक नारी के लिए उत्तम कुलोत्पन्न शूरवीरों का विनाश करवाना क्या उचित होगा ?' तृतीय ने टिप्पणी की--'मेरा उत्साही पति रथ पर आरूढ़ है ।' चतुर्थ नारी बोल उठी-'वही मेरा पति है, जिसके शीश पर मुकुट शोभा दे रहा है ।' किसी ने अपनी सखी से कहा--'जिसकी बन्दीजन स्तुति कर रहे हैं, वह मेरा पति है ।'

दोनों सेनायें परस्पर जा भिड़ीं । पर्वताकार गजराजों के घण्टों एवं हुँकार से कोलाहल मच गया । नगाड़े एव दुन्दुभी की तुमुल ध्वनि से समस्त दिशायें व्याप्त हो गयीं । उस समय ऐसी धूल उड़ी कि समस्त व्योम अन्धकारमय हो गया । शायद वह धूल श्रीकृष्ण का पथ अवरोध करने के लिए ही उड़ी थी कि यह आपका शत्रु नहीं वरन् पुत्र है । किन्तु गजराज के मद-जल ने अपनी वर्षा से उन्हें बैठा दिया । धूल को निवारण कर देने का अभिप्राय यही था कि तुम क्यों व्यर्थ में युद्ध-विराम का प्रयत्न करती हो ? यहाँ प्राणियों का वध नहीं होगा । यह तो कौतुक मात्र है । जिस समय दोनों सेनाओं में परस्पर युद्ध हो रहा था, उस समय देव एवं दैत्य आ-जाकर व्योम (आकाश) से कौतुक देखने लगे । दोनों ओर की विराट सेनायें देखकर कोई भी भविष्यवाणी नहीं कर सकता था कि विजयश्री किसका वरण करेगा ।

प्रद्युम्न ने जैन-धर्म में अपनी अविचल आस्था के प्रभाव से ही भानुकुमार का मान-मर्दन किया, सत्यभामा के वन-उपवन नष्ट किये तथा अपनी माता के आत्म-सम्मान की रक्षा की । अतएव भव्य जनों को चाहिये कि वे सदा कल्याणकारी जैन धर्म का ध्यान करें, क्योंकि धर्म से ही समस्त सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं ।

श्री प्रद्युम्न चरित्र

एकादश सर्ग

यादवो एवं प्रद्युम्न की सेना में जो विकट संग्राम हुआ, उसका संक्षिप्त वर्णन यहॉं किया जा रहा है । प्रलयकाल की तरह प्रचण्ड वे उभय सेनाये परस्पर युद्ध रत थीं । रथी, अश्वारोही, पदातिक सब-के-सब प्राणांतक युद्ध करने लगे । उस रणस्थली में बडा विकट संग्राम हुआ । यद्यपि संग्राम निष्प्रयोजन था, फिर भी बाणो के प्रहार से आहत योद्धा छिन्न-भिन्न हो भूलुठित होने लगे । गजराजों ने भी अनेक सुभटों को धराशायी कर दिया । वे विशालकाय गजराज अपने रण-कौशल से भूमि को प्रकम्पित करने लगे । समस्त रणभूमि लोहित हो उठी । रक्त की धार में अनेक आहत वीर मानो प्रवाहित होने लगे । अनेक शूरवीरों को मृत्यु की शरण लेनी पडी । वस्तुतः स्वामी के कार्य में तत्पर व्यक्ति निस्सार देह की ममता नहीं करते । इस महासंग्राम में प्रद्युम्न की मायावी सेना नष्ट होने लगी थी । किन्तु तत्काल ही कुमार के बलवान वीरो ने यादवों की सेना पर प्रचण्ड प्रत्याक्रमण किया । फलतः नारायण श्रीकृष्ण की सेना पलायन करने लगी । तब बलदेव एवं पाण्डवादि महावीरों ने मनोबल विहीन सेना को धैर्य बॅधाया एवं स्वयं प्रद्युम्न की सेना को विध्वस्त करने लगे । किन्तु उस समय भी कुमार ने अपना चातुर्य प्रदर्शित किया । उसने भी बलभद्र, पाण्डवादि के मायामय प्रतिरूपी शूरवीरों की रचना कर दी । एक ही नाम, एक ही रग-रूप, एक ही सामर्थ्य के वीर लड़ने लगे ।

संग्राम की भीषणता से मानो पृथ्वी एवं व्योम दोनों ही कॉप उठे । सुभटों के बाणों से खण्डित राजाओं के छत्र व्योम में नृत्य करते हुए ऐसे प्रतीत होते थे, मानो चन्द्रबिम्ब संग्राम-यज्ञ देखने आये हों । सुभट प्रतिस्पर्द्धी को ललकारते हुए कह रहे थे--'तू अब इतना भयभीत हो रहा है, तब युद्ध क्या करेगा? यह तो जानते ही हो कि युद्ध मे मरण से स्वर्ग-मोक्ष नहीं मिलते हैं । इसलिये अपनी चन्द्रमुखी भार्या के दर्शन करने हेतु शीघ्र ही यहॉ से पलायन करो ।' इस तरह परस्पर वाद-विवाद करते हुए मायावी एवं वास्तविक मित्र राजाओं ने तुमुल संग्राम किया । योद्धाओं के रुण्ड-मुण्ड से भूतल श्मशान तुल्य हो गया। पर्वताकार गजराजों एवं रथों के धराशायी होने से पथ अवरुद्ध हो गये । अन्य जन बड़ी कठिनता से ही वहॉ प्रवेश कर सकते थे । आभूषणों से अलकृत एवं आनन्द से नृत्य करते हुए व्यन्तरों से उस रण-भूमि

का दृश्य अति भयंकर एवं रौद्र प्रतीत होने लगा । कालान्तर में इस अत्यन्त दुर्द्धर युद्ध का परिणाम यह हुआ कि प्रद्युम्न की माया से पाण्डव तथा बलदेव समेत समग्र वीर निहत हुए । नारायण श्रीकृष्ण ने जब अपनी सेना की यह दुर्दशा देखी, तब वे अत्यन्त क्रोधित होकर रण हेतु सन्मुख आए । उत्तेजित होकर आते हुए श्रीकृष्ण को देखकर प्रद्युम्न भी अपना रथ धीरे-धीरे उनकी ओर बढ़ाने लगा । किन्तु उसी समय नारायण श्रीकृष्ण की दक्षिण (दाहिनी) भुजा एवं नेत्र फड़कने लगे, जिसका सामुद्रिक शास्त्र में अर्थ इष्ट-मिलन की सूचना था । महाराज श्रीकृष्ण की समझ में यह नहीं आया कि संग्राम में अजेय शत्रु के समक्ष उपस्थित होने पर यह शुभ शकुन कैसा हो रहा है ? क्या इसका यह अर्थ तो नहीं है कि रुक्मिणी मुझे प्राप्त होगी ? शत्रु सन्मुख आया तब श्रीकृष्ण का हृदय स्नेह से भर आया । वे कहने लगे--'हे रिपु ! यद्यपि तूने मेरी पत्नी का अपहरण किया है, फिर भी तुझे देखकर मेरा स्नेह बढ़ता है । इसलिये यही उत्तम होगा कि तू मेरी भार्या को मुझे सौंप दे । तब मैं तुझे जीवित ही छोड़ दूँगा ।' कुमार ने हँसते हुए कहा--'हे सुभट शिरोमणि ! इस रणभूमि में जहाँ प्रसन्नतापूर्वक मरण गर्व की वस्तु है, वहाँ स्नेह कैसा ? मैं आपकी भार्या का अपहरणकर्त्ता एवं आपके अग्रज का हन्ता हूँ । यह विचित्र संयोग है कि आप मुझसे स्नेह करने लगे हैं । यदि आपमें अब सामर्थ्य न हो, तो मुझ से अपनी भार्या की मुक्ति हेतु याचना करें ।' अब तो श्रीकृष्ण क्रोध में अग्निपुंज बन गये । वे धनुष चढ़ा कर शत्रु पर टूट पड़े । किन्तु शर-संधान के पूर्व ही कुमार ने उनके धनुष की प्रत्यंचा को भंग कर डाला । इस प्रकार जब-जब वे धनुष चढ़ा कर शर-संधान की चेष्टा करते, तब-तब कुमार धनुष की प्रत्यंचा को काट डालता था । उसने हँसते श्रीकृष्ण को चिढ़ाने के उद्देश्य से कहा--'आपको धनुष चलाने में ऐसी निपुणता कहाँ मिली ? आप तो अपनी विशाल सेना के नायक हैं । पर जिसे धनुष चलाना ही नहीं आता, वह नायक अथवा राजा कैसा? अतएव अपने बन्धुओं तथा अपनी भार्या का मोह त्याग कर स्वगृह को लौट जायें । इसी में आपकी कुशल है ।' मर्मस्थल बेधने वाली कुमार की गर्वोक्ति सुनकर श्रीकृष्ण का क्रोध दावानल-सा भड़क उठा । उन्होंने बाणों की अविरल वर्षा से प्रद्युम्न की समस्त मायावी सेना छिन्न-भिन्न कर दी । साथ ही कुमार के छत्र एवं रथ भी नष्ट हो गये, किन्तु यह तत्काल एक अन्य रथ पर आरूढ़ हो गया । तब उसने भी पिता के रथ एवं सारथी को नष्ट कर दिया । सत्य है, माया के बल से सब कुछ सम्भव है । नारायण श्रीकृष्ण

ने देखा कि यह दुर्जेय शत्रु तो इस तरह से पराजित नहीं हो सकता है । इसलिये उन्होंने अपनी उत्कृष्ट विद्या
का स्मरण कर अग्नि-बाण का प्रयोग किया, जिससे स्वयं प्रलयकाल की अग्नि प्रगट होकर प्रद्युम्न की
सेना को भस्म करने लगी । उसकी दहन-शक्ति से चारों दिशायें प्रकम्पित हो उठीं, किन्तु प्रचण्ड शरासन
धारी प्रद्युम्न कब मानने वाला था, उसने तत्काल ही वरुण-बाण का प्रयोग किया । फलतः मूसलाधार वृष्टि
होने लगी । अग्नि-बाण का समस्त प्रभाव नष्ट हो गया । इसके पश्चात् श्रीकृष्ण ने वायु-बाण का प्रयोग
किया, जिससे पदाति, अश्वारोही, गजारूढ़ एवं रथी समस्त तृणवत् व्योम में विचरण करने लगे । वायु
की प्रचण्ड गति अप्रतिहत करने के उद्देश्य से कुमार ने तामस-बाण का स्मरण किया, जिससे समस्त
रणभूमि अन्धकारमय हो गयी । इस प्रकार दोनों पिता-पुत्रों में विद्याधरों एवं देवों को भी आश्चर्य चकित
करने वाला महासंग्राम हुआ । श्रीकृष्ण ने जितने भी कठिन शस्त्र प्रयोग किये, वे सब व्यर्थ सिद्ध हुए ।
अपने अमोघ बाणों के व्यर्थ हो जाने से महाराज श्रीकृष्ण आश्चर्य में पड़ गये । उन्होंने सोचा--'यह अजेय
शत्रु बिना मल्ल-युद्ध के पराजित नहीं किया जा सकता । अतएव अब मल्ल-युद्ध ही करना चाहिये ।' ऐसा
निश्चय कर वे बाहु-युद्ध की कामना से रथ से नीचे कूद पड़े । उनके चरण प्रहार से पृथ्वी में गढ्ढे पड़
गये, पर्वतों की सन्धियाँ शिथिल पड़ गयीं । कुमार ने देखा कि महाराज श्रीकृष्ण मल्ल-युद्ध के लिए प्रस्तुत
हैं, तो वह भी रथ से उतर कर उनके सम्मुख आ गया । इन दोनों उद्भट योद्धाओं को मल्ल-युद्ध के लिए
प्रस्तुत देखकर रुक्मिणी ने नारद मुनि से कहा--हे प्रभु ! अब विलम्ब करना उचित नहीं होगा, क्योंकि
पिता-पुत्र के मल्ल-युद्ध से सर्वत्र बड़ी हानि होगी ।' तब नारद तत्काल ही विमान से भूमि पर उतर कर
युद्ध के लिए प्रस्तुत दोनों महावीरों के मध्य में आ पहुँचे । उन्होने कहा--'हे माधव (श्रीकृष्ण) ! अब तुम
अपने पुत्र के साथ ही युद्ध करने लगे ? इसने अपना अब तक का जीवन विद्याधर राजा कालसम्वर के
यहाँ बिताया है । अब यह षोडश लाभ एवं अनेक विद्यायें प्राप्त कर अपने पितगृह में स्वजनों से मिलाप
के लिए आया है । अतएव इसके साथ संग्राम करना कदापि उचित नहीं होगा ।' श्रीकृष्ण को समझाकर
नारद प्रद्युम्न से कहने लगे--'हे कुमार ! तुम अपने पिता के संग यह क्या व्यवहार कर रहे हो ? तुम्हें
समस्त कौतुक त्याग कर पुत्र के कर्तव्य का पालन करना चाहिये ।' नारद के हितोपदेश से श्रीकृष्ण
स्नेह-विह्वल होकर प्रद्युम्न की ओर अग्रसर हुए । पुत्र का सम्मिलन तथा सेना के विनाश से उनके हृदय

श्री प्रद्युम्न चरित्र

में हर्ष एवं शोक दोनों ही व्याप्त थे। फिर भी पुत्र के निकट पहुँच कर उन्होंने कहा--'हे पुत्र ! शीघ्र आओ एवं मुझे अपना प्रगाढ़ आलिंगन करने दो।' कुमार भी मायावी वेश त्याग कर जनक के चरणों में लोट गया। किन्तु श्रीकृष्ण ने तत्काल ही उसे उठाकर अपने वक्ष से लगा लिया। उस समय सुख-संयोग में कुछ काल तक दोनों के नेत्र भर आये। उन्हें देर तक ऐसी स्थिति में देख कर नारद ने कहा--'हे वीरों ! यहाँ बिना कार्य के क्यों व्यर्थ खड़े हो। अब द्वारिका चलो, जहाँ नगर के समस्त नर-नारी तुम्हारे दर्शन हेतु उत्सुक हो रहे होंगे। अतः यथाशीघ्र नगरी में प्रवेश करो।' तब श्रीकृष्ण ने विषादपूर्ण वाणी में कहा--'मैं तो सेना रहित हो चुका हूँ। यह उत्तम हुआ कि मेरा पुत्र से मिलन हो गया। अबतो नगर में दो ही व्यक्ति शेष रह गये हैं--मैं एवं तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ। अब आप ही बताइये कि नगर में कौन-सी शोभा होगी, न सेना रही, न छत्र रहा ?' श्रीकृष्ण का ऐसा विषादपूर्ण कथन सुनकर नारद कहने लगे--'हे नारायण ! प्रद्युम्न ने इस संग्राम में किसी का वध नहीं किया है। जिसे अपने शत्रु का वध करना भी प्रिय नहीं है, वह भला अपने पिता की सेना को कैसे विनष्ट करेगा ? आप सेना की मृत्यु का किंचित भी दुःख न करें। आप की समस्त सेना जीवित है।' श्रीकृष्ण को महान् आश्चर्य हुआ एवं उन्होंने जिज्ञासा की--'यह आप क्या कहते हैं ?' नारद ने इस प्रश्न का उत्तर न देकर प्रद्युम्न से कहा--'हे वत्स ! देखो, सदैव कौतुक प्रियकर नहीं होता है। अब अपने कौतुक का परित्याग कर सबको प्रसन्न करो।' कुमार ने वैसा ही किया। तब समस्त सेना चैतन्य हो उठी। उस समय ऐसा प्रतीत होता था, मानो वे निद्रा त्याग कर उठ रहे हों। वे सब वीर उठते ही कहने लगे--शत्रु को पराजित करो, तत्काल बन्दी बना लो।' श्रीकृष्ण ने हँसते हुए अपने वीरों से कहा--'बस करो, रहने दो। तुम्हारी समग्र वीरता की परीक्षा हो गयी। मेरे पुत्र प्रद्युम्न ने अकेले ही तुम सबको निहत कर डाला था।' नारायणश्रीकृष्ण का कथन सुनकर सबको घोर आश्चर्य हुआ। उन्हें चकित देखकर श्रीकृष्ण कहने लगे--'यह हमारा पुत्र विद्याधरों का नायक, विद्या-साधक एवं समस्त संसार को परास्त करने वाला है। इस समय यह हम से मिलने के लिए आया है।' नारायण के प्रिय वचन सुनकर भीम, अर्जुन आदि समस्त सुभट अपने-अपने रथ से उतर कर कुमार से मिले। उसने भी यथावत् सबका अभिवादन किया। तत्पश्चात् बलभद्र आदि गुरुजनों के चरणों में प्रणाम कर उन्हें सन्तुष्ट किया। अपने बन्धु-बांधवों से मिलकर कुमार को जो प्रसन्नता हुई, वह

वर्णनातीत है । सत्य है, परिजनों से मिलकर सबको प्रसन्नता होती है ।

इधर सम्मिलन का कार्य समाप्त भी नहीं होने पाया था कि भानुकुमार ने अपनी माता सत्यभामा से प्रद्युम्न के आगमन का समस्त वृत्तान्त कह सुनाया । अपने उद्यान का विनाश, उदधिकुमारी के अपहरण का संवाद सुनकर सत्यभामा अत्यंत संतप्त हुई, जिसका वर्णन उसके अतिरिक्त भला कौन कर सकता है ?'

स्नेह-विह्वल नारायण श्रीकृष्ण ने प्रद्युम्न को लक्ष्य कर कहा--'हे पुत्र ! अब तुम अपनी माता को यथाशीघ्र ले आओ ।' अभी कुमार संकोच में पड़ा था कि नारद मुनि विनोद में बोल उठे--'संसार में सबको अपनी भार्या प्रिय होती है । इसलिये यह क्यों नहीं कहते कि मेरी भार्या एवं अपनी भार्या को ले आओ ?' श्रीकृष्ण ने कहा--हे प्रभु ! अकस्मात् पुत्र-वधू कहाँ से प्राप्त हो गई ?' तब नारद ने स्पष्ट किया--'दुर्योधन ने अपनी जो कन्या (उदधिकुमारी) भानुकुमार के संग परिणय हेतु भेजी थी, प्रद्युम्न ने कौरवों को परास्त कर उसका अपहरण कर लिया है । वह विमान में रुक्मिणी के संग बैठी है ।' श्रीकृष्ण प्रसन्न हुए एवं उन्होने कहा--'एवमस्तु ! अपनी जननी एवं नव-वधू दोनों को ले आओ ।' कुमार ने पिता की आज्ञा के अनुसार विमान को भूतल पर उतारा, उस समय रुक्मिणी एवं उदधिकुमारी को सकुशल देख कर सब लोग प्रसन्न हुए । व्योम-रूपी ऑगन से उतर कर रुक्मिणी ने नव-वधू के साथ श्रीकृष्ण को प्रणाम किया । श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी को तत्काल ही आज्ञा दी कि पुत्र एवं वधू के नगर-प्रवेश महोत्सव को सम्पन्न कराने का आयोजन करो । तब रुक्मिणी अपने पार्षदों के संग नगरी में गयी एवं पुत्र के आगमन का महोत्सव सम्पन्न करने लगी । ध्वजा-तोरणादि से सुशोभित द्वारिका नगरी की अपूर्व शोभा की गई ।

मत्रियों ने जब सूचित किया कि द्वारावती का श्रृंगार हो चुका, तो वादित्रों एवं नर्त्तकों के साथ सब लोग नगर की ओर अग्रसर हुए । प्रवेश-द्वार पर नर-नारियों की विपुल संख्या अभ्यनार्थ एकत्रित हो गयी । कुमार के दर्शन की लालसा में उतावली हुई नारियों ने हड़बड़ी में अपने श्रृंगार विकृत कर लिये । यहॉ तक कि किसी-किसी ने मुख में काजल, नेत्रों में केशर तथा कर्णों में बिछुए एवं चरणों में कर्णफूल धारण कर लिये । कुमार के अनिन्द्य सौन्दर्य से तृप्त होकर कितनी ही नारियॉ परस्पर वार्तालाप करने लगीं ।

एक ने कहा--'हे सखी ! रुक्मिणी सदृश सुन्दरी नारी के लिए कुमार ही उपयुक्त पुत्र है ।' एक प्रौढ़ा

श्री प्रद्युम्न चरित्र

ने कहा--'यदि मेरे पुत्र हो, तो कुमार सदृश हो । रुक्मिणी एवं श्रीकृष्ण धन्य हैं, जिन्हें ऐसे पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई । वह विद्याधरी कनकमाला भी धन्य है, जिसने कुमार का लालन-पालन किया । उदधिकुमारी का सौभाग्य है कि उसे ऐसा पति मिला । द्वारावती का पुण्य भी किसी से लेशमात्र भी न्यून नहीं, जिसमें कुमार का शुभागमन हुआ है ।' एक कामिनी ने अपनी सखियों से कहा--'देखो सखी ! यह वही प्रद्युम्न है, जिसे दुष्ट दैत्य हरकर ले गया था एवं विद्याधर राजा ने जिसका पालन किया । अब यह षोडश लाभ एवं अनेक विद्यायें प्राप्त कर लौटा है । इसके पुण्य बल से शत्रु भी मित्र हो गये हैं ।' एक अन्य नारी तत्काल बोल उठी--'अरी मूर्खा ! तू क्या बारम्बार प्रशंसा करती है ? ये सब सिद्धियाँ तो पूर्व-पुण्य से प्राप्त होती हैं । इसने पूर्व-भव में घोर तप किया होगा, सत्पात्रों को दान दिया होगा, श्रीजिनेन्द्र भगवान की पूजा की होगी एवं निर्मल चरित्र धारण किया होगा, फलतः उसका ऐसा उत्कृष्ट पुण्योदय हुआ । यही कारण है कि उसे प्रद्युम्न का जन्म मिला, अन्यथा ऐसी विद्याएँ, वीरता एवं रमणीय लक्ष्मी सदृश वधू कैसे प्राप्त होती ?'

कुमार गजराज पर आरूढ़ था । उसके मस्तक पर श्वेत छत्र था एवं चँवर ढुल रहे थे । वह चन्द्रमा के सदृश दर्शनार्थी नारियों के नेत्ररूपी कुमुदनी को प्रफुल्लित करते हुए महल में जा पहुँचा । माता रुक्मिणी ने अर्घ, पात्र आदि से मंगल क्रिया की । केवल सत्यभामा एवं भानुकुमार ही उस उत्सव में सम्मिलित नहीं हुए । समस्त द्वारिका नगरी इस हर्षोत्सव में तन्मय हो गई । कुमार तथा अनेक मित्र राजा कितने ही दिवस पर्यंत रुक्मिणी के महल में ठहरे ।

एक दिन यादवों की सभा में महाराज श्रीकृष्ण ने मन्त्रियों से कहा--'मेरी अभिलाषा है कि कुमार का विवाह महोत्सवपूर्वक सम्पन्न हो ।' किन्तु कुमार ने प्रार्थना की कि महाराज कालसंवर एवं रानी कनकमाला की उपस्थिति में ही उसका विवाह होना चाहिये । तब दूत ने कालसम्वर के निकट कुमार की प्रतिज्ञा सुनाई कि आपकी अनुपस्थिति में वह विवाह नहीं करेगा । प्रथम तो कालसम्वर को आने में संकोच हुआ, किन्तु शीघ्र ही उसका विचार परिवर्तित हो गया । वह एक विशाल सेना के संग रानी कनकमाला एवं रतिकुमारी को उसके पिता के साथ लेकर द्वारावती में जा पहुँचा । अपने पालनकर्त्ता दम्पति का आगमन सुनकर कुमार स्वयं स्वागत के लिए गया । उसने आदरपूर्वक कालसम्वर तथा कनकमाला के

श्री प्रद्युम्न चरित्र

चरणों में नमस्कार किया । रुक्मिणी तथा श्रीकृष्ण भी उनसे आदरपूर्वक मिले । उन्हें वाद्यो के साथ नगर में प्रवेश कराया गया । नगर की सुन्दर सजावट हुई । मंगल वाद्यों की ध्वनि एवं स्त्रियों के मधुर गीतों से सम्पूर्ण द्वारावती की छटा बड़ी ही सुहावनी लगती थी । कहीं ध्वजा-तोरण आदि लटकते थे, तो कहीं गज-यूथ, रथसमूह तथा छत्र-वृन्द दृष्टिगत होते थे । रमणीक द्वारावती इन्द्रपुरी-सी प्रतीत होती थी ।

अष्ट प्रकार से विवाह की समस्त प्रस्तुति हो जाने पर प्रद्युम्न श्रीजिनेन्द्रदेव की पूजा कर मित्र राजाओं के समीप गया । अश्वारोहण के पूर्व ही उसने कहा--'पूर्व काल की प्रतिज्ञा के अनुसार विमाता सत्यभामा की वेणी पर पग धर कर ही मैं अश्व पर आरूढ़ होऊँगा । काका बलदेवजी के समक्ष यह प्रतिज्ञा हो चुकी है ।' तब रुक्मिणी ने आकर समझाया--'हे प्रिय पुत्र ! ऐसा आग्रह करना उचित नहीं । तेरे आगमन से ही सत्यभामा का समस्त दर्प भंग हो चुका है । अब उसका अधिक उपहास उचित नहीं । वह भी तेरे लिए माता तुल्य है ।' माता के कथनानुसार प्रद्युम्न ने अपना हठ त्याग दिया । वह कल्पवृक्ष की भाँति याचकों को इच्छानुसार दान करता हुआ अश्व पर आरूढ़ हुआ । कालसम्वर, बलदेव, श्रीकृष्ण आदि राजा उसे उद्यान में लेकर गये । उस प्रमुख उद्यान में प्रद्युम्न एवं रति का विवाह सम्पन्न हुआ । इसके अतिरिक्त उदधिकुमारी आदि पंच-शतक एवं अष्ट (५०८) रूपवती कन्याओं के संग भी प्रद्युम्न का विवाह हुआ। श्रीकृष्ण की आज्ञा के अनुसार विवाह का समस्त कार्य विद्याधरों ने ही सम्पन्न किया । द्वारिका में विद्याधरों का यथेष्ट सम्मान हुआ । वे अतिथि के रूप में कितने ही दिवस पर्यंत वहाँ रहे । एक दिन कालसम्वर ने नम्रतापूर्वक नारायण श्रीकृष्ण से प्रार्थना की कि यदि वे अनुमति दें, तो वह अपने स्वदेश को प्रत्यागमन करे । उसे उत्सुक देखकर श्रीकृष्ण कहने लगे--'हे राजन् ! प्रद्युम्न का विद्याध्ययन एवं लालन-पालन आप के महल में ही हुआ है । अतएव वह पहिले आपका पुत्र है, तत्पश्चात् उस पर मेरा अधिकार है । उसके सम्बन्ध आप जैसा उचित समझें करें ।' रुक्मिणी ने भी अपनी सम्मति व्यक्त कर दी । पर भला कालसम्वर क्या कह सकते थे ? अन्य के पुत्र को संग ले जाने की क्षमता तो उनमें थी नहीं। अन्त में श्रीकृष्ण ने राजा कालसम्वर के साथ आये समग्र विद्याधरों को उपहार-सम्मान से सन्तुष्ट कर विदा किया । कुछ दूर तक स्वयं उन्हें पहुँचा कर रुक्मिणी के साथ श्रीकृष्ण तो लौट आये, किन्तु प्रगाढ़ स्नेह में बँधे होने के कारण कुमार दूर तक गये एवं उनके समझाने पर ही लौटे ।

श्री प्रद्युम्न चरित्र

कुमार के विवाह से यदुवंशियों को जो प्रसन्नता हुई, उसका वर्णन करना लेखनी से परे की वस्तु है। रुक्मिणी, नारद आदि सभी सन्तुष्ट हुए । सत्यभामा का विषाद लक्ष्य कर नारद मन-ही-मन प्रसन्न हो रहे थे । विवाहादि कार्य समाप्त हो जाने पर वे अपने मनोनुकूल गन्तव्य को प्रस्थान कर गये । पितृ-भक्त कुमार देव-पूजादि षट् कर्मों में सदा तत्पर रहता था । अपनी पत्नियों के मुखरूपी कमलों पर गुन्जार करते हुए उसने कितना समय आनन्दपूर्वक बिताया, यह कहना कठिन है । हम पूर्व में ही उल्लेख कर चुके हैं कि कुमार के विवाह से सत्यभामा घोर अप्रसन्न हुई थी । उसने अपनी सान्त्वना के लिए भानुकुमार के विवाह का आयोजन किया । देश-विदेश से राज-कन्यायें आमन्त्रित की गयीं । उत्सव सहित भानुकुमार का विवाह सम्पन्न हुआ । वह प्रतिभावान एवं सर्वगुण-सम्पन्न राजकुमार भी सर्वप्रकार सुख भोगते हुए अपना समय व्यतीत करने लगा ।

समग्र भूतल पर प्रद्युम्न की कीर्ति-दुन्दुभी बजने लगी । नगर हो या हाट--चतुर्दिक उसी का गुणगान हो रहा था । कुमार को यह समस्त कीर्ति पुण्य के प्रभाव से प्राप्त हुई थी । वस्तुतः स्वजनों से सम्मिलन, पापरहित अर्थ की प्राप्ति, अनुचरों की सेवा प्राप्त होना--ये समस्त कार्य पुण्यरूपी वृक्ष के ही फल स्वरूप हैं । धर्म से समग्र सुखों का प्राप्त होना सम्भव है । धर्म से निर्मल कीर्ति, शत्रुओं का पराभव, विवेक आदि प्राप्त होते हैं । पवित्र धर्म ही एक ऐसी वस्तु है, जिससे संसार के समग्र ताप विनष्ट होते हैं । अतएव भव्य पुरुषों को उचित है कि श्रीजिनेन्द्र भगवान के निर्देशित धर्म का सदा तन-मन से पालन करें ।

द्वादश सर्ग

पूर्व में यह वर्णन किया जा चुका है कि प्रद्युम्न द्वारिका में सुखपूर्वक वैभव का उपभोग कर रहे थे । अब हम कीर्तिशाली शम्भुकुमार के दिव्य चरित्र का वर्णन करते हैं । प्रद्युम्न के पूर्व-भव के कैटभ नाम का अनुज षोडशवें स्वर्ग में इन्द्र हुआ था । एक दिन वह विमान में बैठा हुआ यह विचार करने लगा कि श्रीजिनेन्द्र भगवान की वन्दना करना चाहिये । ऐसा निश्चय कर वह विदेह क्षेत्र की पुण्डरीकिणी नामक प्रख्यात नगरी में गया । वहाँ के राजा का नाम पद्मनाभि था । वहाँ पहुँच कर उसने बड़ी भक्ति के साथ श्रीजिनेन्द्र भगवान की वन्दना की एवं उनके कथनानुसार धर्म के स्वरूप का अध्ययन किया ।

श्री प्रद्युम्न चरित्र

इसके पश्चात् उसने नमस्कार कर जिज्ञासा की--'हे जगत्पालक विश्वनाथ ! कृपा कर आप मेरे भवान्तरों का वर्णन कीजिये ।' तीर्थंकर भगवान ने उसके ब्राह्मण भव से लेकर इन्द्र भव तक का वर्णन किया, जैसा कि नारद से कहा था । अपने पूर्व-भवो का वर्णन सुनकर देवो का अधिपति वह इन्द्र कहने लगा--'हे भगवन् ! कृपया यह भी बतलाने की कृपा करे कि मेरे अग्रज मधु का जीव अब कहाँ है ?' तब भगवान सीमन्धर स्वामी ने बतलाया कि इस समय वह द्वारिका में नारायण श्रीकृष्ण की पत्नी रुक्मिणी के गर्भ से उत्पन्न हुआ है एव उसका नाम प्रद्युम्न है । उसके यह जिज्ञासा करने पर कि उसका मेरा पुनर्मिलन होगा अथवा नही ? भगवान ने कहा--'अवश्य होगा । शीघ्र ही तुम भी श्रीकृष्ण के पुत्र होगे ।' श्रीजिनेन्द्र देव की वाणी सुनकर देवराज प्रसन्नतापूर्वक द्वारिका नगरी को चल पड़ा ।

द्वारिका मे पहूँच कर वह नारायण श्रीकृष्ण की सभा में गया । उसने भक्तिपूर्वक नमस्कार कर उनसे सब वृत्तान्त कह सुनाया एवं निवेदन किया--'हे प्रभो ! आप अमुक पक्ष एवं अमुक रात्रि को महारानी के साथ शयन कीजियेगा ।' तत्पश्चात् उसने सूर्य-सा जाज्वल्यमान मणियों का एक हार भेंट में देते हुए श्रीकृष्ण से कहा--'यह हार मनुष्यों के लिए सर्वथा दुर्लभ है, इसे मेरी भावी माता को उसी समय दीजियेगा ।' इतना कहकर वह विमान में आरूढ़ होकर प्रस्थान कर गया ।

उसके गमन के उपरान्त महाराज श्रीकृष्ण को चिन्ता हुई कि गुणों के समुद्र कुमार के अनुज का किसके गर्भ में अवतरण कराया जाय । कुछ काल विचार करने के पश्चात् उन्होने निश्चय किया कि यदि सत्यभामा के गर्भ से उसका अवतार हो, तो पूर्व-भव का भ्राता होने के कारण कुमार से उसकी प्रीति अवश्यम्भावी है । साथ ही सत्यभामा एवं रुक्मिणी का विद्वेष भी तिरोहित हो जायेगा ।' किन्तु कुमार की अप्रसन्नता की आशंका से उन्होंने यह कामना किसी से प्रगट नहीं की । फिर भी दैवयोग से अपने अनुज के उत्पन्न होने का रहस्य कुमार से गुप्त न रह सका अर्थात् उसे ज्ञात हो ही गया । उसने अपनी माता से जाकर कहा--'मेरा पूर्व-भव का अनुज कैटभ षोडशवें स्वर्ग में इन्द्र के पद पर है । उसने पिता श्रीकृष्ण के पुत्र रूप में जन्म लेने की कामना की है । किन्तु पिताश्री वह पुत्र विमाता सत्यभामा को देना चाहते हैं । यदि आपकी कामना हो, तो आपके उदर से ही उसका अवतरण हो सकता है ।' रुक्मिणी ने कहा--'हे पुत्र ! यह कैसे सम्भव हो सकता है ?' कुमार कहने लगा--'जिस दिन सत्यभामा के सयोग की रात्रि

आयेगी, उस दिन मैं आपको कृत्रिम सत्यभामा बनाकर पिताश्री के समीप भेज दूँगा ।' किन्तु रुक्मिणी ने यह प्रस्ताव सर्वथा अस्वीकार कर दिया । वह कहने लगी--'मैं अब अन्य पुत्र नहीं चाहती । तू ही मेरे लिए पर्याप्त है । हाँ मेरी एक सौत जाम्बुवन्ती भी है, किन्तु दैववश उसका तेरे पिता के साथ विरोध भी है । यदि उसके गर्भ से उस देव का अवतार हो, तो उसके दुःख की निवृत्ति हो जायेगी ।' जननी की मनोकामना सुनकर वह उसी समय जाम्बुवन्ती के महल में गया । उसने समस्त वृत्तान्त जाम्बुवन्ती को सुना दिया । वह भी बड़ी प्रसन्न हुई । उसने कहा--'तू चतुर तो है ही, जो इच्छा हो सो कर ।' उसका स्वीकृति भरा उत्तर सुनकर प्रसन्न-वदन कुमार अपने महल में लौट आया ।

कुछ काल पश्चात् ही वसन्त का आगमन हुआ । वृक्ष पल्लवित होने लगे--आम्र-वृक्षों में बौरें लगने लगीं । कोयल की कुहूक एवं भ्रमरों की मधुर गुन्जार से उद्यानों की शोभा शताधिक गुणा बढ़ गई । चैत्र मास की दशमी तिथि आयी । पूर्व निश्चय के अनुसार महाराज श्रीकृष्ण सत्यभामा से आने का अनुरोध कर वनक्रीड़ा के लिए गये । वे रैवतक पर्वत पर पुत्र-जन्म की कामना से तीन दिवस पर्यन्त रहे । इधर कुमार ने जाम्बुवन्ती के महल में जाकर उसे एक विलक्षण मुद्रिका प्रदान की, जिसे धारण करने वाला मनोवाँछित रूप धर सकता था । फलतः उसने आश्चर्यजनक रूप से सत्यभामा का रूप धारण कर लिया। जब वह दर्पण के सम्मुख गयी, तब अपने को सत्यभामा के रूप में अवलोक कर बड़ी प्रसन्न हुई । कुमार ने कहा--'जब आपका कार्य हो जाय, तब यह मुद्रिका मुझे लौटा देना ।' तत्पश्चात् वह पालकी में आरूढ़ होकर श्रीकृष्ण के समीप वन में गयी । वे सत्यभामा की प्रतीक्षा में तो थे ही, एकाएक उसका आगमन जान कर बड़े प्रसन्न हुए । उन्होंने कहा--'हे देवी ! तुम्हारा आगमन अवश्य ही सफल होगा । प्रद्युम्न का अनुज तुम्हारी कोख से जन्म ग्रहण करेगा । यह तो उत्तम ही रहा कि कुमार को यह रहस्य ज्ञात न हो सका, अन्यथा वह कोई माया रच देता ।' इतना कह कर नारायण कृत्रिम सत्यभामा के साथ रति क्रीड़ा करने लगे । वह भी अपनी काम-चेष्टाओं से उन्हें विह्वल कर रमण करने लगी । इस प्रकार जाम्बुवन्ती का गर्भ स्थिर हो गया । श्रीकृष्ण ने वह दिव्य हार भी उसे पहिना दिया । किन्तु जाम्बुवन्ती ने जब अपनी मुद्रिका उतारी, तो उसका वास्तविक स्वरूप प्रकट हो गया । नारायण श्रीकृष्ण जाम्बुवन्ती को अवलोक कर अत्यन्त विस्मत हुए । उन्होंने जिज्ञासा की--'क्या यह प्रद्युम्न की माया है ?' जाम्बुवन्ती उनके चरणों पर

लोट गयी । वह विनती करने लगी--'हे नाथ ! अब पुरातन वैमनस्य का निवारण कीजिये ।' तब श्रीकृष्ण ने उसे क्षमा प्रदान की एवं सहास्य कहा--'आज से तू मेरी प्राणप्रिय रानी हुई । ' नारायण ने यह भी कहा कि उसके पुण्य के प्रभाव से शम्भुकुमार नाम का जगद्वन्द्य पुत्र उसके ही गर्भ से उत्पन्न होगा । इस प्रकार उसे सन्तुष्ट कर श्रीकृष्ण ने उसे महल में भेज दिया, परन्तु उन्हें यह भय बना रहा कि कहीं सत्यभामा न आ जाय ।

उधर दर्पयुक्त सत्यभामा भी स्नान-श्रृंगारादि कर वन में चली । उसकी पालकी का शताधिक सेवक अनुगमन कर रहे थे । पथ में सामने से आती हुई जाम्बुवन्ती की पालकी मिली । सत्यभामा ने जिज्ञासा की--'यह किसकी पालकी है ?' सेवकों ने बतलाया कि रानी जाम्बुवन्ती आ रही है । सत्यभामा के प्रश्नोत्तर में अधिक समय व्यर्थ करना उचित न समझा । वह शीघ्रता से पति के समीप जा पहुँची । श्रीकृष्ण भी रति-गृह में बैठे हुए प्रतीक्षा कर रहे थे ।

रति-क्रीड़ा समाप्त होने पर पुण्य-बल से सत्यभामा के गर्भ में भी एक देव आ गया । श्रीकृष्ण ने एक अन्य हार सत्यभामा को दे दिया, जिसे पहिन कर वह सन्तुष्ट हो गई । सत्य है, भाग्य ही सर्वत्र फलता है--जाम्बुवन्ती को देवदत्त हार मिला एवं सत्यभामा को सामान्य । इसके पश्चात् श्रीकृष्ण द्वारिका पधारे । नगर प्रवेश के समय बड़ा उत्सव सम्पन्न किया गया । जैसे-जैसे सत्यभामा एवं जाम्बुवन्ती के गर्भ की वृद्धि होने लगी, उसके साथ-साथ यादवों की धन-धान्य अर्थात् समृद्धि की वृद्धि हुई ।

एक दिन सत्यभामा को ज्ञात हो गया कि जाम्बुवन्ती गर्भवती है । उसने सोचा--'मेरे गर्भ में तो प्रद्युम्न का पूर्व-भव का अनुज आया है, उसके गर्भ में होगा कोई सामान्य जीव ।' जाम्बुवन्ती का गर्भ पूर्ण हो चुका था । एक दिवस शुभ मुहूर्त एवं शुभ लग्न में दैदीप्यमान मणि सदृश ओजस्वी पुत्र उसके उत्पन्न हुआ, जिसके सर्वांग नयनाभिराम थे । ठीक उसी समय सारथी पद्मनाभ के सुदारक, महामन्त्री वीर के बुद्धिसेन तथा गरुड़केतु नाम के सेनापति के जयसेन नाम के पुत्र उत्पन्न हुए । इन तीनों कुमारों के साथ जाम्बुवन्ती का पुत्र वृद्धि प्राप्त करने लगा । चतुर्दिक उल्लासपूर्ण आयोजन अनुष्ठित किये गये । जिन-मन्दिरों में पूजा की गयी तथा राज्य के समग्र बन्दी मुक्त कर दिए गये । स्वजनों ने मिलकर बालक का नामकरण शम्भुकुमार किया । इसके पश्चात् सत्यभामा के भी एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नामकरण सुभानु हुआ।

शुभ लक्षणों के धारक वे दोनों ही बालक क्रमानुसार वृद्धि पाने लगे । उनके सहास्य कौतुक, तोतली बोली एवं मधुर हाव-भाव से राज परिवार में कोलाहल मचा रहता था । वे भद्र-वेशियों की पत्नियों के लिए खिलौना बन गये थे । प्रद्युम्न अपने अनुज शम्भुकुमार को शिक्षा दिया करता था एवं भानुकुमार अपने अनुज सुभानु को कला-कौशल सिखलाता था । कालान्तर में वे दोनों बालक भी अपनी-अपनी बाल्यावस्था को पूर्ण कर युवा हो गये ।

एक दिन श्रीकृष्ण की सभा में एक विचित्र घटना हो गयी । अकस्मात् शम्भुकुमार एवं सुभानुकुमार का सभा में आगमन हुआ । वे सबका यथायोग्य अभिवादन कर अपने योग्य आसन पर जा विराजे । शम्भुकुमार प्रद्युम्न के निकट बैठा एवं सुभानुकुमार अपने अग्रज भानुकुमार के निकट बैठा । उन्हें देखकर समस्त सभा प्रसन्न हुई । लोग उनके मनोज्ञ व्यक्तित्व को देखने लगे । उस समय सभा के मध्य में द्यूत-क्रीड़ा चल रही थी । बलदेव पाण्डवों के साथ द्यूत (जुआ) खेल रहे थे । बलदेव ने इन नवागन्तुक कुमारों को भी द्यूत-क्रीड़ा में भाग लेने के लिए आमन्त्रित किया । किन्तु कुमारों ने यह कहकर विनम्रतापूर्वक अस्वीकार कर दिया कि आप सदृश पूज्य महानुभावों के साथ द्यूत-क्रीड़ा में हम अक्षम हैं । फिर भी यदुवंशियों का अनुरोध प्रबलतर होता गया, अन्त में यह निश्चित किया गया कि ये दोनों कुमार परस्पर ही द्यूत खेलें, इससे इनकी योग्यता की परीक्षा भी हो जायेगी । वे दोनों कुमार भी अब उत्सुक हो गये । श्रीकृष्ण को निर्णायक बना कर वे उनके समक्ष द्यूत खेलने लगे । प्रथम दाॅव एक कोटि मुद्राओं का लगा । जिसे शम्भुकुमार ने जीता । उस समय प्रद्युम्न ने कहा--'द्रव्य लेकर ही पुनः द्यूत का आरम्भ हो ।' भानुकुमार ने सत्यभामा के यहाॅ से एक कोटि मुद्रायें लाकर दे दीं अपने पुत्र की पराजय से सत्यभामा बड़ी लज्जित हुई । उसने अपना एक मुर्गा भेजा एवं यह कहलवाया कि यदि शम्भुकुमार इस मुर्गे को जीत ले, तो वह दण्ड स्वरूप उसे दो कोटि मुद्रायें देगी । शम्भुकुमार अपने अग्रज के निर्देश हेतु उसकी ओर देखने लगा । अनुज का अभिप्राय समझ कर प्रद्युम्न ने एक कृत्रिम मुर्गा बन दिया । वे दोनों मुर्गे परस्पर द्वन्द करने लगे । अन्त में शम्भुकुमार के मुर्गे ने सत्यभामा के मुर्गे को परास्त कर दिया । इस विजय में दो कोटि मुद्रायें मिलीं, जिन्हें प्रद्युम्न ने याचकों में बॅटवा दीं । अबकी बार क्रोधित होकर सत्यभामा ने एक दुर्लभ एवं सुगन्धित फल भेजा एवं संग ही कहलवाया कि जो इस फल को जीत लेगा,

श्री प्रद्युम्न चरित्र

उसे वह चार कोटि मुद्रायें देगी। प्रद्युम्न की सहायता से शम्भुकुमार ने वह फल भी जीत लिया।

यही नहीं सत्यभामा के भेजे हुए दो सुवर्ण-वस्त्र, हार, कुण्डल एवं कौस्तुभ मणि को भी शम्भुकुमार ने जीता, जिनके बदले में क्रमशः सत्यभामा को चार, आठ, सोलह, बत्तीस एवं चौंसठ कोटि मुद्रायें देनी पड़ीं। इधर प्रद्युम्न ने समस्त धन याचकों में वितरित करवा दिया। उसकी इस उदारता से शंभुकुमार की बड़ी कीर्ति फैली। अब यह भी सबका प्रिय बन गया। ठीक ही है, दाता किसको प्रिय नहीं होता? तत्पश्चात् सत्यभामा ने बहुत सोच-विचार कर १२८ कोटि मुद्राओं के संग अपना अश्व भेजा, पर प्रद्युम्न ने विद्याबल से मायामयी अश्व की रचना कर शंभुकुमार को विजय दिलवा दी। इस प्रकार बारम्बार पराजित होने पर सत्यभामा ने कहलवाया कि शंभुकुमार को मेरी मायामयी सेनाओं पर भी विजय प्राप्त करनी चाहिये। इससे शंभुकुमार ने अपनी मायामयी सेना की रचना कर ली, जिसमें रथ, अश्व, गज एवं शूरवीर इतनी अधिक संख्या में थे कि ऐसा प्रतीत होता था मानो सुभानुकुमार की सेना उसमें विलुप्त (छिप) जायेगी।

दोनों मायामयी सेनाओं में घोर युद्ध हुआ। इस बार भी विजयश्री ने शंभुकुमार का ही वरण किया। प्रद्युम्न के परामर्शानुसार २५६ कोटि मुद्रायें सत्यभामा से इस दॉव हारने की मॅगवाई गयीं। वे सब मुद्रायें शंभुकुमार को मिलीं। तत्पश्चात् बलभद्र, युधिष्ठिर आदि राजागण ने श्रीकृष्ण से प्रार्थना की कि शंभुकुमार के समस्त कृत्य अमानुषी हैं, अतएव इसे परिपक्क बनाइये। सब प्रियजनों का आग्रह देखकर श्रीकृष्ण ने एक मास के लिए शंभुकुमार को राजा बना दिया। फलतः वह दूसरे दिवस से ही सिंहासन पर विराजमान हुआ। तब बलभद्र, पाण्डव आदि राजाओं तथा भानु, प्रद्युम्न, सुभानु आदि भ्राताओं अर्थात् सबने उसे नमस्कार किया। वह तीन खण्ड पृथ्वी का स्वामी बन गया।

किन्तु शंभुकुमार ऐश्वर्य पाकर अपने पर नियन्त्रण न रख सका। वह इन्द्रिय सुख के लिए लम्पट बन गया। वह कुलीन स्त्रियों के घरों में प्रवेश कर बलात्कार करने लगा। उसके आचरण से सब लोग दुःखी हो गये। सबों ने जाकर नारायण श्रीकृष्ण से शंभुकुमार के दुष्कृत्यों का वर्णन किया। उन्होंने यहाँ तक कह डाला--'हे महाराज! यदि आप उपयुक्त न्याय-व्यवस्था नहीं करेंगे, तो हम लोग राज्य त्याग कर अन्यत्र चले जायेंगे।' श्रीकृष्ण ने सबको आश्वासन दिया--'अब उसके शासन-काल में मात्र स्वल्प दिवस

श्री प्रद्युम्न चरित्र

ही शेष रह गये हैं जिस दिन से मैं राजसभा में जाने लगूँगा, उसी दिन से आपके समस्त कष्टों का निवारण हो जायेगा ।'

मासावधि समाप्त होने पर श्रीकृष्ण राजसभा में जा पहुँचे । उन्होंने शंभुकुमार को प्रताड़ित कर कहा--'रे म्लेच्छ ! तुझे अब निमिष मात्र में मेरे राज्य से निकल जाना चाहिये एवं ऐसी जगह शरण लेनी चाहिये, जहाँ से तेरा नाम भी मुझे न सुनाई दे ?' श्रीकृष्ण ने उसे ताम्बूल के तीन बीड़े दिये, जिन्हें खाकर वह राजसभा से बर्हिगमन कर गया । उस समय प्रद्युम्न ने पिता से जिज्ञासा की--'हे तात ! शंभुकुमार का सभा में अब आगमन हो सकेगा अथवा नहीं ?' श्रीकृष्ण ने कहा--'अवश्य सम्भव है ! यदि सत्यभामा स्वयं हथिनी पर आरूढ़ होकर उसके समीप जाये एवं लिवा लाये, तब ही वह आ सकता है अन्यथा नहीं ।'

उधर शंभुकुमार राजसभा से सीधे अपनी माता जाम्बुवन्ती के समीप आया । प्रद्युम्न भी विमाता जाम्बुवन्ती के महल में पहुँच गये एवं पिता की आज्ञा सुना दी । तब कुमार की आज्ञा के अनुसार वह सत्यभामा के उद्यान में गया एवं एक अत्यन्त रूपवती नारी का वेश धारण कर एकान्त स्थान में बैठ गया । जब सत्यभामा उद्यान भ्रमण के लिए निकली एवं एक रूपवती युवती को देखा, तो उसे घोर आश्चर्य हुआ । वह उसके समीप जाकर कहने लगी--'हे पुत्री ! तू कौन है, इस निर्जन स्थान में क्यों बैठी है ?' युवती बोल उठी--'हे माता ! मैं एक राजकन्या हूँ । मैं अपने मातुल के यहाँ रहती थी । मेरे पिता मुझे लिवाने के हेतु आये हुए थे । एक बड़ी सेना के साथ मैं पालकी में आरूढ़ होकर आ रही थी । रात्रि को इसी स्थान पर शिविर स्थापित हुआ । जब समस्त संगी जन निद्रा की छाँव में सो गये, तब मैं भी पालकी से उतर कर भूतल पर आ लेटी । निरन्तर यात्रा की क्लान्ति के कारण मुझे प्रगाढ़ निद्रा आ गयी। फिर न जाने मेरे कहार कब पालकी उठा कर चलते बने । प्रातःकाल जब मेरी निद्रा भंग हुई, तो देखती हूँ कि न पिताजी हैं एवं न उनकी सेना । अब मैं विवश होकर यहाँ बैठी हूँ, इसके सिवाय भला कर भी क्या सकती हूँ ?' सत्यभामा उसके समीप बैठ गयी । वार्तालाप के सन्दर्भ में ज्ञात हुआ कि अभी वह कुमारी ही है । तब सत्यभामा बड़ी प्रसन्न हुई । वह सुभानुकुमार के साथ उसका विवाह करने के उद्देश्य से अपने महल में ले आई एवं यथासंभव उसकी देख-रेख करने लगी । उस नवागत राजकुमारी के लिए

सुख की समस्त सामग्रियाँ उपलब्ध की गयीं ।

कुछ काल के उपरान्त ऋतुराज वसन्त का आगमन हुआ । वृक्ष नवीन कोपलों एवं पुष्पो से पल्लवित हो गये । भ्रमरों के गुन्जन एवं कोयलों की कुहूक से विरहिणी स्त्रियाँ सन्तप्त होने लगीं । सुहागिनों की उन्मत्तता बढ चली । इस प्रकार सबको काम-पीड़ा सताने लगी । उसी वसन्त की मधुर वेला में सुभानुकुमार वन-क्रीडा के लिए निकल पडा । उद्यान में अनेक नारियाँ झूले में बैठ कर कामोद्दीपक गीत गा रही थीं । उनके सुरीले राग में मनोहर गीतों को सुनकर वह उन्मत्त हो गया एवं काम-पीड़ा से अचेत होकर वह भूमि पर गिर पड़ा । अपने स्वामी को ऐसी अवस्था में देखकर उसके सेवकगण उठा कर उसे महल में ले गये । सेवकों के वर्णन से सत्यभामा ने समस्त घटना समझ ली । उसे निश्चय हो गया कि पुत्र अब विवाह के योग्य हो गया है । उसने अपने पार्षदों को बुलवा कर कहा कि तुम लोग छद्म रूप से उपयुक्त वधू के अन्वेषण हेतु जाओ, पर यह प्रसंग किसी पर भी प्रकट न हो । सत्यभामा की आज्ञा पाकर उसके पार्षदगण वधू के सन्धान हेतु चतुर्दिक गये एवं कार्य सिद्ध कर शीघ्र ही लौट आये । इसके पश्चात् नगर में यह चर्चा प्रसारित कर दी गयी कि सुभानुकुमार का विवाह निश्चित हो गया है एवं महारानी के पार्षद चयन कर एक योग्य वधू लाये हैं । सत्यभामा ने उद्यान में प्राप्त हुई राजकन्या (शंभुकुमार मायावी वेश में) को गुप्त रूप से एक अन्य स्थान पर पहुँचा दिया एवं स्वयं हथिनी पर आरूढ़ हो कर उसे लेने के लिए गयी । एक विराट जुलूस के साथ वह कुमारी महल में लाई गयी एवं मांगलिक अनुष्ठान सम्पन्न होने लगे । लग्न का समय हो चुका था, फलतः सुभानुकुमार पाणिग्रहण के लिए जा पहुँचा । किन्तु ज्यों ही वह कन्या के निकट पहुँचा कि कन्या ने एक व्याघ्र का रूप धारण कर लिया एवं उस पर ऐसा झपटा कि वह मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा । विवाह में योग देनेवाले समस्त यदुंवशी भयभीत हो उठे । उपस्थित नारी समूह तो पलायन ही कर गया । इसके पश्चात् वह व्याघ्र शंभुकुमार के रूप मे परिणत हो गया एवं मुस्कराते हुए महाराज श्रीकृष्ण की सभा में जा पहुँचा । उसे देख कर श्रीकृष्ण को महान् आश्चर्य हुआ । तत्पश्चात् प्रद्यु की लीला ज्ञात होने पर उन्होंने शंभुकुमार को आसन देकर बैठाया । इस काण्ड ने सत्यभामा का समस्त दर्प विनष्ट हो गया । उसने दुःखी होकर अपने पिता के पास सन्देश भेजा । उसके विद्याधर पिता ने एक शतक सुन्दरी कन्याएँ भेज दीं, जिनके साथ सुभानुकुमार का विवाह हुआ । वह

अपनी पत्नियों के साथ क्रीड़ा में रत रहने लगा ।

शम्भुकुमार भी युवावस्था में पहुँच गया था । प्रद्युम्न ने उसके लिए अपने मामा से कन्याओं की याचना की, पर उसने अस्वीकार कर दिया । इससे प्रद्युम्न अपने मामा रूप्यकुमार पर क्रोधित हुआ । दोनों भ्राता चाण्डाल का वेश धारण कर कुण्डनपुर की राजसभा में जा पहुँचे । वे सुन्दर तो थे ही । उन्होंने पिनाकी लेकर गाना प्रारम्भ किया । उनका गायन इतना मधुर हुआ कि रूप्यकुमार तक सुन कर मोहित हो गया । उसने मनोवाँछित पुरस्कार देने की स्वीकृति दे दी । अभी समस्त राजसभा इनके गायन में तन्मय थी, इस अन्तराल में प्रद्युम्न ने अपनी विद्याओं को अन्तःपुर में भेज दिया । विद्याओं के द्वारा कन्याओं का अपहरण हो गया । पीछे प्रद्युम्न सभा से निकल कर बाहर आये एवं कन्याओं को संग लेकर आकाश में जा पहुँचे । वहाँ से रूप्यकुमार को सम्बोधित करते हुए कहा--'हे भीष्म-पुत्र ! मैं श्रीकृष्ण का पुत्र हूँ । मैने आपकी कन्याओं का अपहरण किया है । यदि आपमें बल हो, तो मुक्त करा लीजिये ।'

रूप्यकुमार समस्त सेना लेकर युद्ध के लिए प्रस्तुत हुआ । किन्तु बुद्धिमान मंत्रीगण उसे समझा-बुझाकर शीघ्र लौटा लाये । प्रद्युम्नकुमार एवं शम्भुकुमार उन कन्याओं को लेकर द्वारिका आ पहुँचे । प्रद्युम्न ने बड़े समारोहपूर्वक अनुष्ठानादि सम्पन्न कर शम्भुकुमार का विवाह करवाया । समस्त नगरी में बधाईयाँ बजीं । अनुज के विवाह से प्रद्युम्न को जो प्रसन्नता हुई, वह अपूर्व थी । होना भी ऐसा ही चाहिये था । कुछ काल के उपरान्त प्रद्युम्न को रति से अनिरुद्ध नाम का एक पुत्र उत्पन्न हुआ । वह क्रमशः बाल्यावस्था पूर्ण कर यौवनावस्था को प्राप्त हुआ । शम्भुकुमार के भी एक शतक पुत्र उत्पन्न हुए । कुमार अपने परिवार के साथ देवोपम सुख भोगने लगे । वह अपनी मनोकामना के अनुसार उद्यानादि स्थानों में अपनी पत्नियों के साथ क्रीडा करता था ।

प्रद्युम्न के सुख का वर्णन नहीं किया जा सकता । विभिन्न ऋतुओं में वह विभिन्न प्रकार से आनन्द का उपभोग करता था । हेमन्त में कर्पूरादि सुगन्धित द्रव्यों के उष्ण धूम्र में आनन्द क्रीडा कर दर्शको पर अपना पुण्य-फल प्रकट करता था, शिविर मे उन्मत्त कामिनियों के संस्पर्श से शीत का निवारण करता था। जब वसन्त ऋतु उसके स्वागत के लिए आती थी, तब वह सुगन्धित जल से परिपूर्ण वापिकाओं में अपनी प्रिय पत्नियों के साथ विहार करता था । इसी प्रकार ग्रीष्म एवं वर्षा मे भी वह ऋतु के अनुकूल विहार

श्री प्रद्युम्न चरित्र

करता था, तो कभी शरद ऋतु में पत्नियों के संग चन्द्र-ज्योत्सना का सेवन कर पुण्य-फल दर्शाता था। तात्पर्य यह कि प्रत्येक ऋतु मे प्रत्येक दिन उसे सुख ही उपलब्ध था। उसके मस्तक पर सदैव छत्र तना रहता था। पार्श्व से भृत्यगण चॅवर ढुराते रहते थे। विद्वान, देव, विद्याधर तथा भूमिगोचरी राजा उसकी सेवा में तत्पर रहते थे। बन्दीजन स्तुतिमय वाक्यों एवं मांगलिक शब्दों से उसकी जय-जयकार मनाते थे।

इसलिये सत्पुरुषों को चाहिये कि वे पुण्य-फल का प्रभाव देख कर धर्म का संग्रह करें। धर्म का ही प्रभाव था कि प्रद्युम्न को समस्त निधियॉ उपलब्ध हो गयीं। विश्व की समग्र विभूतियॉ धर्म पालन से प्राप्त हो सकती हैं। पाप तो दुःख का कारण है। उससे रात्रि-दिवस चिन्ता बनी रहती है। पाप में प्रवृत्त मनुष्य सदा रोग-शोक से सन्तप्त रहता है। उसे स्थान-स्थान पर पर तिरस्कार भी सहना पड़ता है।

पूर्वोपार्जित पुण्य के फल से कुमार प्रद्युम्न ने इन्द्रियजन्य सुखों का जो अनुभव किया, उसका वर्णन करना बृहस्पति के लिए भी कठिन है। अतएव भव्यजनों को पुण्य-संचय के लिए जैन-धर्म का निरन्तर तन-मन से पालन करना चाहिये।

त्रयोदश सर्ग

नारायण श्रीकृष्ण द्वारिका में निष्कण्टक राज्य कर रहे थे। कौरवों एवं पाण्डवों का महाभारत भी समाप्त हो चुका था। प्रतिनारायण जरासन्ध का वध कर श्रीकृष्ण ने सुदर्शन चक्र प्राप्त कर लिया था। उपरोक्त घटनाओं के पश्चात् उनके शासन काल में जो प्रमुख घटनायें घटीं, उनका वर्णन हम कर सकते हैं--

एक दिवस की कथा है, यादवों के मध्य श्रीकृष्ण राजसभा में विराजमान थे। बलदेव तथा प्रद्युम्न भी सभा में उपस्थित थे। उसी समय श्री नेमिनाथ अपने मित्रों के साथ पधारे। उनके सम्मान में समस्त सभा खडी हो गयी। श्रीकृष्ण ने उन्हे उत्कृष्ट सिंहासन दिया। सब लोग क्रम से अपने-अपने स्थान पर बैठ गए। प्रसंगवश सुभटों के बल की चर्चा छिड गयी। किसी ने वसुदेव की शक्ति का वर्णन किया, तो किसी ने पाण्डवो की। एक ने कहा--'कुमार प्रद्युम्न ही सबसे अधिक शक्तिशाली है।' किसी ने

शम्भुकुमार एवं भानुकुमार की कीर्ति गायी, किसी ने श्रीकृष्ण की, किसी ने बलदेव की प्रशंसा की। तात्पर्य यह कि सबने अपने-अपने मन की बात कहीं। किन्तु बलदेव ने असहमति में शीश डुलाते हुए कहा--'अरे अल्पज्ञ ! तुम सब किनकी प्रशंसा कर रहे हो ? जहाँ भावी तीर्थंकर भगवान श्री नेमिनाथ विराजमान हों, वहाँ अन्य वीरों की प्रशंसा कदापि वाँछनीय नहीं है। अन्य शूरवीरों में एवं इनमें राई-पर्वत तुल्य अन्तर है।' बलदेव द्वारा अपनी प्रशंसा सुनकर श्रीनेमिनाथ मुस्करा रहे थे। उन्हें मुस्कराते देखकर श्रीकृष्ण ने उनसे कहा--'आइये, हम दोनों यही मल्ल-युद्ध करें।' श्री नेमिनाथ ने कहा--'यह प्रस्ताव उचित नहीं। किन्तु इस सिंहासन पर रखे हुए मेरे पग को उठाकर आप उससे पृथक् कर दें, तो मैं समझ लूँगा कि मल्ल-युद्ध में आपसे परास्त हो गया।' नारायण श्रीकृष्ण कटि कसकर उन वीर शिरोमणि का पग हटाने लगे। लक्षाधिक प्रयत्न करने पर भी पग तिल-मात्र भी न हट सका। जब समस्त शक्ति लगाने पर भी असफल रहे, तब श्रीकृष्ण खेद-खिन्न हो गये। उन्हें क्रोध भी आया, पर उसे शमित कर वह कहने लगे--'देखा, आप लोगों ने हमारे भ्राता की अपूर्व शक्ति। इनके बल का थाह नहीं लगता।' इतना कह कर श्रीकृष्ण अपने महल में चले गये। तत्पश्चात् श्री नेमिनाथ ने भी अपनी मित्र-मण्डली के साथ वहाँ से प्रस्थान किया।

महल में आने पर श्रीकृष्ण की चिन्ता अत्यधिक बढ़ गई। वे सोचने लगे जब श्री नेमिनाथ में इतनी शक्ति है, तो वे किसी-न-किसी दिन मेरा राज्य भी हस्तगत कर लेंगे। श्रीकृष्ण ने तत्काल एक ज्योतिषी को बुलवाया एवं श्री नेमिनाथ का वृत्तान्त पूछा। ज्योतिषी ने बतलाया कि आप की चिन्ता निरर्थक है। श्री नेमिनाथ को राज्य का लोभ नहीं है। वे राज्य का परित्याग कर दीक्षा लेंगे एवं गिरनार पर्वत पर जाकर मोक्ष प्राप्त करेंगे। वसन्त का आगमन हो चुका था। उद्यान में कोयल की कूक सुनाई देने लगी थी। श्रीकृष्ण वन-क्रीड़ा के लिए प्रस्तुत हुए, किन्तु प्रस्थान के पूर्व उन्होंने अपनी रानियों को श्रीनेमिनाथ के सम्बन्ध में कुछ समझाया। तत्पश्चात् वे गज पर आरूढ़ होकर अपने सेवकों के साथ उद्यान में चले गये।

कुछ घड़ी उपरान्त रुक्मिणी, सत्यभामा आदि रानियाँ श्री नेमिनाथ के समीप पहुँची। उन्होंने कहा--'हे जिनराज ! आपके भ्राता कब के वन-क्रीड़ा के लिए गये हैं, आपको भी चलना चाहिये।' श्री

नेमिनाथ की अनिच्छा रहते हुए भी भावजें उन्हें वन में लेकर गईं । तब तक श्रीकृष्ण क्रीड़ा कर चुके थे। जब उन्होंने देखा कि श्री नेमिनाथ के आगमन का समय हो गया है, तब वे किसी अन्य उद्यान में चले गये। उनके प्रस्थान के उपरान्त रानियाँ श्री नेमिनाथ के संग क्रीड़ा करने लगीं । केशर चन्दन आदि की पिचकारियाँ चलीं । सुन्दरी भावजों ने अपने प्रेमालाप से देवर श्री नेमिनाथ का चित्त हर्षित कर दिया । तत्पश्चात् श्रीकृष्ण की उन रानियों ने दीर्घावधि तक जल-क्रीड़ा की । श्री नेमिनाथ जब वापिका से बाहर आये, तब उन्होने अपनी गीली धोती निचोड़ने के लिए जाम्बुवन्ती से अनुरोध किया । किन्तु वह व्यंग के संग कहने लगी--'मैं नारायण श्रीकृष्ण की रानी हूँ । वे तीन लोक के स्वामी एवं सुदर्शनधारी हैं । एक बार उन्होंने सारंग नामक धनुष खींचकर उसे गोलाकार बना दिया था एवं नाग-शैय्या पर आरूढ़ होकर पाँचजन्य नामक शंख बजाने में समर्थ हुए थे । ऐसे महान् पराक्रमी का तो साहस होता नहीं कि ऐसे निकृष्ट कार्य की मुझे आज्ञा दें । फिर भी यदि आपको आज्ञा-पालन करवाने की प्रबल आकांक्षा है, तो किसी राजकन्या से विवाह क्यों नहीं करते ?' जाम्बुवन्ती का कथन श्री नेमिनाथ को शर-प्रहार सदृश लगा, पर रुक्मिणी ने स्थिति को सम्भाल लिया । उसने कहा--'क्यो व्यर्थ में वाद-विवाद करती हो । श्री नेमिनाथ के समकक्ष कोई वीर तो त्रिलोक में भी नहीं है ।' फिर भी श्रीनेमिनाथ का आवेश शान्त न हुआ। वे आयुधशाला मे जा पहुँचे । वहाँ सुदर्शन चक्र लेकर वे नाग-शैय्या पर आरूढ़ हो गये । उन्होने सारंग धनुष को चढ़ाकर उसे गोलाकार बना दिया । तत्पश्चात् चक्र को घुमा कर नागों का मान-मर्दन करते हुए नासिका से शंख नाद किया । शंख के प्रचण्ड घोष को सुनकर स्वयं श्रीकृष्ण दौड़ते हुए वहाँ आ पहुँचे। श्री नेमिनाथ को इस अवस्था में देखकर वे कहने लगे--'एक नारी के कथनमात्र से रुष्ट होकर आप यह क्या कर रहे हो ? उठो तथा क्रोध का परित्याग करो ।' इस प्रकार नारायण श्रीकृष्ण उन्हे सन्तुष्ट कर महल में लेकर गये । इसके उपरान्त श्रीकृष्ण को एक अन्य चिन्ता सताने लगी । उन्होंने माता शिवादेवी से जाकर कहा--'हे मातुश्री ! श्री नेमिनाथ विवाह करने योग्य हो गये हैं । अतएव उनका विवाह कर देना अब आवश्यक है ।' शिवादेवी ने उत्तर दिया--'इसके लिए मेरी आज्ञा की क्या आवश्यकता है ? तुम जैसा उचित समझो, वैसा ही करो ।'

श्रीकृष्ण ने बलदेव से परामर्श किया । तत्काल ही राजा उग्रसेन के यहाँ कन्या की याचना की गयी।

श्री प्रद्युम्न चरित्र

द्वारिका में श्री नेमिनाथ के विवाह का उत्सव होने लगा । यदुवंशी एवं भोजवंशी राजागण अपनी रानियों के साथ द्वारिका आ पहुँचे । स्थान-स्थान पर बन्दनवार बँधे, घर-घर मंगल गान होने लगे । महाराज उग्रसेन के यहाँ भी उत्सव की तैयारियाँ हुईं । जूनागढ़ में उनके बन्धु-बान्धव एकत्रित हुए । दोनों ओर आनन्द-ही-आनन्द परिलक्षित होने लगा । उस विवाह के उत्सव की प्रशंसा ही क्या की जा सकती है, जिसमें स्वयं भावी तीर्थंकर श्री नेमिनाथ वर हों एवं त्रिलोक सुन्दरी राजमती सदृश वधु हो ?

वर को लाने के लिए उग्रसेन ने उत्तम-उत्तम सवारियाँ भेजी थीं । रथ पर आरूढ़ होने के पूर्व, शिवादेवी, देवकी, रोहिणी, सत्यभामा, रुक्मिणी आदि रानियों ने मंगल-विधान सम्पन्न किये । किन्तु जब शिवादेवी आरती उतारने लगीं, तब दीपक की लौ से उनका वस्त्र जलने लगा । शायद इस महोत्सव को रोकने के लिए वह जल उठा हो । श्री नेमिनाथ के रथ पर आरूढ़ होने के पश्चात् एक बिल्ली उनका मार्ग काट गयी, फिर भी बरात रुकी नहीं, आगे बढ़ गयी । बरात के साथ समुद्रविजय, वसुदेव, श्रीकृष्ण, प्रद्युम्न, भानु, सुभानु आदि सब राजागण चले । बरात राजा उग्रसेन के राजमहल के द्वार पर जा पहुँची, तब झरोखे में बैठी हुई वधू राजमती ने वर श्री नेमिनाथ के दर्शन किये । उन पर छत्र, चँवर आदि ढुर रहे थे ।

जब श्री नेमिनाथ का रथ तोरण के समीप आ पहुँचा, तो उन्हें दीन पशुओं का करुण आर्त्तनाद सुनायी दिया । उन्होंने रथ पर से देखा कि तोरण के निकट ही एक बाड़े में पशु घिरे हुए हैं । करुणा की मूर्ति श्री नेमिनाथ ने सारथी से जिज्ञासा की--'यह पशुओं का समूह किसलिये यहाँ एकत्रित किया गया है ?' सारथी कहने लगा--'हे नाथ ! ये पशु आपके विवाह के लिए ही एकत्रित किये गये हैं । आज मध्य रात्रि में इन सब का वध किया जायेगा एवं बरात में जो माँसाहारी अतिथि आये हुए हैं, उनके लिए भोजन इनके माँस से प्रस्तुत किया जायेगा । यह कार्य महाराज श्रीकृष्ण की आज्ञा के अनुसार ही हुआ है ।' सारथी के कथन से श्री नेमिनाथ का हृदय क्षुब्ध हो उठा । उन्होंने सोचा--'गृह-बन्धन पाप का कारण है । निरपराध पशुओं के वध से कितना घोर पाप लगेगा ? प्राणियों का वध करने वाले नरकगामी होंगे । जो काँटा गड़ने के भय से चरण में पादुका पहिनते हैं, वे दया रहित होकर पशुओं का वध कैसे करेंगे ? इससे यह सिद्ध हो रहा है कि विवाह-फल संसार की वृद्धि है एवं संसार वृद्धि से पाप का बन्ध होता है ।' ऐसा

चिन्तवन कर श्री नेमिनाथ ने रथ को आगे बढ़वाया एवं बाड़े में जितने पशु घिरे थे, उन्हें मुक्त कर दिया। फिर वे स्वयं वर के वेश का परित्याग कर बिना विवाह किये ही लौट पड़े । उन्हें इस प्रकार जाते हुए देखकर सबको अपार आश्चर्य हुआ--गहन व्याकुलता हुई ।

श्री नेमिनाथ लौकान्तिक देवों के साथ द्वारिका जा पहुँचे । वे देवगण अपने नियोग की पूर्ति के लिए वहाँ आ गये थे । भगवान के वन जाते समय नारायण श्रीकृष्ण ने भी उन्हें बहुत रोका । माता-पिता ने भी रोका, पर अब उनके समझाने का कुछ भी फल न हुआ । उन्होने सबको सम्बोधित किया एवं अपने लिए देव-प्रदत्त सिंहासन पर जा बैठे । उनके वैराग्य-धारण से इन्द्रों का सिंहासन प्रकम्पित हो उठा । वे सब सदल-बल द्वारिका आ पहुँचे एवं बड़े उत्सव के साथ भगवान का अभिषेक किया । कल्पवृक्ष के पारिजातादि पुष्पों से पूजित एवं शताधिक स्तुतियों से वन्दित भगवान श्रीजिनेन्द्र पालकी पर आरूढ़ हुए। राजागण स्वयं पालकी उठा कर सात पैंड़ तक चले । पुनः देवगण उन्हें आकाश-मार्ग से ले गये । द्वारिका के नर-नारी तथा विद्याधर सब-के-सब शिविका के पीछे दूर तक गये । जब वधू राजमती को यह सम्वाद मिला, तो वह भी विलाप करती हुई शिविका का अनुगमन करने लगी । श्री जिन भगवान ने सहस्रार वन में जाकर मस्तक के समस्त केशों का मात्र पंचमुष्टिका से लोंच कर लिया । उन्होने 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः कह कर समस्त आभरणादिक का त्याग किया । उस समय 'धन्य-धन्य' कह कर उपस्थित समस्त सुर एवं असुर उनकी स्तुति करने लगे । श्री जिनेन्द्रदेव मुनीन्द्र होकर ध्यान में स्थित हो गये । उनके साथ एक हजार राजाओं ने भी दीक्षा ले ली अर्थात् वे भी मुनि होकर तप करने लगे । इन्द्र ने भगवान के उखाड़े हुए केशों को क्षीरसागर में प्रवाहित कर दिया तथा तृतीय (तप) कल्याणक पूर्ण कर वह अपने स्थान को लौट गया। तीसरे दिवस श्री जिन भगवान ध्यान से उठे । उन्होंने द्वारिका में आकर ब्रह्मदत के यहाँ विधिपूर्वक पारणा की । देवों ने ब्रह्मदत्त के घर पंच-आश्चर्यों की वर्षा की । योगिराज नेमिनाथ पुनः रैवतक पर्वत पर लौट आये । राजमती भी विलाप करती हुई घर लौट गयी । उसने जब देखा कि श्रीनेमिनाथ दीक्षित हो गये हैं, तो उसने भी संयम से रहने का व्रत ले लिया । पिता ने समझाया--'ऐसा मत करो । मैं किसी अन्य योग्य राजपुत्र के संग तुम्हारा पाणिग्रहण करवा दूँगा ।' किन्तु राजमती कहने लगी--'हे पिताश्री ! श्री नेमिनाथ के अतिरिक्त अब अन्य सभी पुरुष मेरे लिए पिता तुल्य हैं ।' पुत्री का ऐसा निश्चय सुनकर राजा उग्रसेन

मौन रह गये । राजमती श्री नेमिनाथ का अहर्निश ध्यान करने लगी । श्री नेमिनाथ ने आत्म-ध्यान के प्रभाव से घातिया कर्मो का विनाश किया । वे ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय एवं अन्तराय कर्मो को नष्ट कर केवलज्ञानी हुए--यह महान् कल्याणक ध्यानस्थ होने के छप्पन दिवस उपरान्त हुआ । केवलज्ञान के प्रभाव से इन्द्रों का आसन कम्पायमान हो उठा । वे देव-देवांगनाओं के संग पुष्प -वर्षा करते हुए रैवतक पर्वत पर आये । कुबेर ने समवशरण की रचना की । उसने पृथ्वी से पाँच हजार धनुष के ऊपर एक लम्बी-चौड़ी पीठिका प्रस्तुत की, जिसकी भूमि वज्र की बनी हुई थी तथा उसके चतुर्दिक २० हजार सीढ़ियाँ बनी हुईं थीं । उस पर सुवर्ण आदि से निर्मित तीन कोट एवं चार मानस्तम्भ थे । इसके अतिरिक्त नाट्यशाला, वन, वेदिका तथा सरोवर की रचना थी । पीठिका के मध्य में तीन सिंहासनोंवाला कल्याण रूप सिंहासन था, जो कि कल्पवृक्षों से सुशोभित था । श्रावक तथा निर्ग्रन्थ मुनियों से सुशोभित द्वादश प्रकोष्ठ थे, जहाँ की भूमि रत्नमयी थी । सिंहासन पर अधर में भगवान श्री जिनेन्द्र विराजमान थे । सुर-असुर उनकी वन्दना करते थे । मस्तक पर तीन छत्र शोभित थे एवं ६४ चँवर ढुरते थे । उनके वरदत्त आदि ग्यारह गणधर थे। इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने ऐसे अनुपम समवशरण की रचना की थी ।

द्वारावती के जन-साधारण को जब ज्ञात हुआ कि श्री नेमिनाथ भगवान को केवलज्ञान प्राप्त हुआ है, तब समग्र नगर-निवासी उनकी वन्दना के लिए आये । श्रीकृष्ण, समुद्रविजय आदि यादवश्रेष्ठ, शिवादेवी, देवकी, सत्यभामा, रुक्मिणी, आदि रानियाँ, उग्रसेनादि राजा वृन्द भी आये । समवशरण की रचना को अवलोक कर वे सब-के-सब आश्चर्यचकित रह गये । वे लोग तीन प्रदक्षिणा देकर एवं विधिपूर्वक पूजा कर मनुष्यों के लिए निर्धारित प्रकोष्ठ में बैठे । राजमती भी पाँच हजार रमणियों के संग समवशरण में पहुँची एवं भगवान को नमस्कार कर दीक्षित हुई । उस समय जितनी नारियाँ आर्यिका हुई, राजमती उन सबकी अधिष्ठात्री बनी ।

कुछ काल पश्चात् श्री वरदत्त गणधर ने श्री जिनेन्द्र भगवान से प्रार्थना की--'हे प्रभो ! प्राणी-मात्र अनादि काल से मिथ्यात्व की तृषा से पीड़ित है । इनकी तृप्ति के लिए आप धर्म-रूपी मेघ को प्रकट कीजिये ।' उस समय श्री जिनेन्द्र भगवान भव्य जीवों के कल्याण के लिए धर्म के स्वरूप का वर्णन करने लगे । उनकी मधुर वाणी में चारों अनुयोग, द्वादश अंग रत्नत्रय तथा सप्ततत्वों का सार था ।

श्री प्रद्युम्न चरित्र

भगवान ने बतलाया--'संसार ताप को विनष्ट करनेवाले धर्म के दो भेद है--एक मुनियो का धर्म होता है एवं दूसरा गृहस्थों का । दिगम्बर मुनियों का चारित्र त्रयोदश प्रकार का होता है--पंच महाव्रत, पच समिति एवं त्रि-गुप्ति । इसके अतिरिक्त अठ्ठाईस मूलगुण, ८४ लाख उत्तर गुण तथा प्रति दिन षट् आवश्यक कर्म हैं । इस निर्मल चारित्र का पालन कर मुनि लोग शाश्वत सुख प्राप्त करते है । पॉच अणुव्रत, तीन गुणव्रत एवं चार शिक्षाव्रत--ये द्वादश चारित्र गृहस्थो के हैं । सत्पुरुषों को श्रावकाचार, सम्यग्दर्शन, सम्यकज्ञान, एवं सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय का निरन्तर पालन करना चाहिये । मुनियों के सदृश गृहस्थों के भी मूलगुण होते है, वे हैं--मद्य, मॉस, मधु एवं पंच प्रकार के उदम्बर फलों का त्याग करना। हाट-बाजार का आटा, कन्दमूलादि तथा मक्खन का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये । अहिंसा का पालन गृहस्थ का श्रेष्ठ कर्तव्य है । श्रावकों को चाहिये कि चर्म से निर्मित पात्र में रखे हुए घृत, तैल, जल आदि को ग्रहण न करें । उसी जल का पान करना चाहिये, जो ताजा, स्वच्छ एवं छाना हुआ हो । मिथ्यात्व एवं सप्त व्यसनों को दूर से ही त्याग दें । रात्रि-भोजन एवं दिवस-मैथुन भी त्याज्य हैं । कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र एवं कुधर्म की ओर भूल कर दृष्टिपात न करें । देव-पूजा, गुरु-सेवा, स्वाध्याय, संयम, तप एवं दान--ये षट् कर्म प्रति दिन करें । जिनशासन द्वारा वर्णित धर्म त्रैलोक्य में दुर्लभ है ।' भगवान का धर्मोपदेश सुनकर देव, मनुष्य सब सन्तुष्ट हुए । वादित्रों का घोष एवं गीतों की मधुर-ध्वनि होनें लगी । कितने ही भव्य जीवो ने दीक्षा ले ली । किसी ने मौन, किसी ने सम्यक्त्व एवं किसी ने अणुव्रत ग्रहण किये । भगवान के उक्त उपदेश का जनमानस पर ऐसा गहरा प्रभाव पड़ा कि मानव, देव एवं असुर (कुमार जाति के देव) परस्पर मैत्री-सूत्र मे बँध गये । वे सब लोग उन्हें नमस्कार कर अपने-अपने स्थान को लौट गये । इस प्रकार भगवान को अगणित जीव नमस्कार करने आते थे एवं अपने जीवन को सार्थक करते थे ।

कुछ दिवसों के उपरान्त तीर्थकर भगवान विहार करते हेतु रैवतक पर्वत से नीचे उतरे । उनके संग-सग देव एव असुरों का समूह भी चला । भगवान की भक्ति से प्रेरित होकर वायुनन्दन तृण उड़ाते थे एवं मेघकुमार गन्धोदक की वर्षा करते थे । जिन स्थानों पर भगवान के चरण पडते थे, वहॉ देवगण कमलो की रचना कर देते । भगवान के गमन-स्थान से आठ सौ कोस पर्यंत तक सुभिक्ष रहता । वहॉ किसी का घात नहीं होता एव न वर्षा या आताप से किसी प्राणी को कष्ट पहुँचता । वहॉ की पृथ्वी शस्य-श्यामला

रहती थी । दिशाये निर्मल थी एवं मन्द सुगन्ध शीतल समीर (वायु) प्रवाहित हो रही थी । इन्द्र की आज्ञा से समग्र देवगण श्री जिनेन्द्र भगवान की वन्दना करने के लिए उन्हें बुलाते थे । भगवान के विहार के समय आगे-आगे मिथ्यात्व को विनष्ट करनेवाला धर्मचक्र चला करता था ।

श्री जिनेन्द्र भगवान का समग्र विश्व में विहार हुआ । वे कल्याणकारी उपदेश देते जाते थे । वे महाराष्ट्र, तैलंग, कर्नाटक, द्रविड़, अंग-बंग, कलिंग, शूरसेन, मगध, कन्नौज, कोंकण, सौराष्ट्र गुजरात, पालन आदि प्रान्त में विहार करते हुए भद्दिलपुर में जा पहुँचे । वहाँ पर अलका के घर में वसुदेव के उन छः ज्येष्ठ पुत्रों का पालन हो रहा था, जिन्हें कंस के भय से देव रख आये थे । वे सब भगवान के समवशरण में पधारे । भगवान के उपदेश से उन्हें वैराग्य हो गया । बत्तीस पत्नियों के रहते हुए भी उन्होंने जिन-दीक्षा ले ली । वे षष्ठ भ्रातागण पठन-पाठन, ध्यान-योग, पारणा-प्रोषध, आदि कार्य साथ-साथ ही करते थे ।

श्री जिन भगवान पुनः रैवतक पर्वत पर पहुँचे । श्रीकृष्ण आदि यदुवंशी तथा सत्यभामा आदि नारियाँ भी समवशरण में जा पहुँचीं । भगवान को नमस्कार कर सब लोग यथास्थान बैठे । तब भगवान ने धर्म के स्वरूप का निरूपण किया । अवसर पाकर महारानी देवकी ने भगवान से प्रार्थना की--'हे भगवन् ! एक घटना से मैं विस्मित हो रही हूँ । आज मेरे घर दो मुनि आहार के लिए पधारे थे । उन्होने विधिपूर्वक कई बार आहार लिया । मैं ने उन्हें वात्सल्य वश तीनों बार भोजन करा दिया । क्या दिगम्बर मुनि लोग दिन में कई बार आहार लेते हैं ?' उत्तर में भगवान ने कहा--'दिगम्बर मुनि बारम्बार भोजन नही करते । वे छहों तुम्हारे ही पुत्र हैं, उन्हें जन्म के समय ले जाकर देवों ने उनकी रक्षा की थी ।' भगवान की अमृतमयी वाणी सुनकर देवकी को बड़ी प्रसन्नता हुई । उसका समस्त संशय जाता रहा । तब माता तथा षट्-पुत्रों का परस्पर वार्तालाप प्रारम्भ हुआ । श्रीकृष्ण के सगे भ्राताओं के सम्मिलन से सब यादवों को बड़ी प्रसन्नता हुई ।

श्रीकृष्ण की सत्यभामा आदि पटरानियों ने भी अपने पूर्व-भवों के वृत्तान्त पूछे, जिन्हे सुनकर यादवो को बडा सन्तोष हुआ । भगवानः पुन विहार के लिए निकल पडे । तत्पश्चात् वे सुपात्रों को जिन-दीक्षा देने में तत्पर हुए ।

श्री प्रद्युम्न चरित्र

श्री जिनेन्द्र नेमिनाथ भगवान के इस चरित्र मे उनके विवाहादि महोत्सवो की चर्चा तथा वैराग्य,
दीक्षा, ध्यान, केवलज्ञान, उपदेश, आदि का वर्णन है । जो भव्य-जीव इस निर्मल चरित्र का अध्ययन या
श्रवण करते है, वे निश्चय ही विद्वान तथा चतुर होते हैं ।

चतुर्दश सर्ग

विभिन्न देशों में विहार करते हुए श्रीनेमिनाथ भगवान गिरनार पर्वत पर आ पहुँचे । तीर्थंकर के
आगमन पर इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने वहाॅ समवशरण की रचना की । फिर शीघ्र ही सेवा में इन्द्र उपस्थित
हुए । भगवान की वन्दना के लिए नारायण श्रीकृष्ण भी गये । उन्होने नगर में घोषणा कर दी कि भगवान
का आगमन हुआ है । प्रद्युम्नकुमार, शम्भुकुमार, भानुकुमार, आदि समग्र यदुवंशी राजा तथा सत्यभामा
आदि रानियाॅ भी समवशरण में आईं ।

जिस समय द्वारावती से नारायण श्रीकृष्ण गिरनार पर्वत को चले, उस समय की शोभा अवर्णनीय है।
गजराजो के मद जल से भूतल प्लावित हो रहा था । अश्वों की टापों से उड़ती हुई धूल चारों दिशाओं
में व्याप्त हो गयी । बन्दीजनों की विरद्-ध्वनि से एवं तुरही के शब्दों से एक विचित्र कोलाहल मचा हुआ
था । नारायण श्रीकृष्ण ने जब दूर ही से गिरनार पर्वत का दर्शन किया, तब पर्वत की शोभा अत्यन्त
आकर्षक एवं दर्शनीय लगी । कोयलों की कूक एवं फल-पुष्पों के भार से लदे वृक्ष ऐसे प्रतीत होते थे,
मानो भगवान को नमस्कार करने के लिए अवनत हों । नारायण श्रीकृष्ण ने दूर ही से अपने गज, अश्व,
रथ तथा राज्य-चिन्ह त्याग दिये । वे अन्य राजाओं को साथ लेकर समवशरण में जा पहुॅचे । वह
समवशरण मानस्तम्भों, सरोवरो, नाट्यशालाओं एवं पुष्प-मालाओं से सुशोभित हो रहा था । उच्च सिंहासन
पर बैठे हुए भगवान की सब लोगों ने तीन प्रदक्षिणायें दीं । उनकी विधिपूर्वक पूजा कर नारायण श्रीकृष्ण
निम्न स्तवन करने लगे--

'हे भगवन् ! आप समस्त चराचर के विभु हैं । आप विज्ञानी, दयाशील एवं तृष्णा रहित हैं । आपका
सर्वांग क्षमा, श्री, ह्री, धृति एवं कीर्ति से समुज्ज्वल है । विद्याधर, भूमिगोचरी आदि सदैव आपकी वन्दना
करते हैं । हे विभो ! हममें कहाँ इतनी शक्ति है कि आपके चरणों की भी वन्दना कर सकें ? फिर भी

अपनी स्वार्थ-सिद्धि के हेतु हम वन्दना कर रहे हैं । आपने संसार-बन्धन का परित्याग कर केवलज्ञान प्राप्त किया है । आपने राजमती आदि प्रियजनों तथा राज्यादि भोगों का परित्याग कर काम-क्रोधादि शत्रुओं पर विजय प्राप्त की है । आप विश्व को प्रकाशित करने वाले सूर्य एवं निष्कलंक चन्द्र सदृश भासित हैं । आपको निर्मल आत्म-ज्ञान प्राप्त है । आप अज्ञानान्धकार को नष्ट करने वाले एवं संसाररूपी सागर से पार उतारने वाले हैं । हे भगवन् ! हे त्रैलोक्य के गुरु ! हम आपको बारम्बार नमस्कार करते हैं ।'

इस प्रकार स्तुति कर नारायण श्रीकृष्ण ने भगवान श्री नेमिनाथ से धर्म का स्वरूप पूछा । तब भगवान ने बतलाया कि धर्म के दो स्वरूप हैं--एक तपस्वियों के लिए एवं दूसरा गृहस्थों के लिए । जैन-धर्म में जीव, अजीव, आस्रव आदि सप्त तत्व कहे गये हैं । इनमें पुण्य एवं पाप संयुक्त कर देने से नव पदार्थ हो जाते हैं । ये ही नव पदार्थ संसार में विख्यात एवं मानने योग्य हैं । जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल--ये षट्-द्रव्य होते हैं । इनमें काल के अतिरिक्त अन्य को अस्तिकाय कहते हैं । आत्मा भिन्न है एवं काया (देह) भिन्न है, किन्तु यह आत्मा संसार के बन्धन में जकड़ जाती है । इस आवरण से उसकी सत्य-असत्य जानने की शक्ति उसी प्रकार लुप्त हो जाती है, जिस प्रकार राहु एवं केतु के आवरण (ढँकने) से चन्द्रमा एवं सूर्य की शक्ति क्षीण हो जाती है । लेश्या भी षट् प्रकार वर्णित है । पीत, पद्म एवं शुक्ल--ये शुभ लेश्या हैं तथा कृष्ण, नील, कापोत--ये अशुभ लेश्या हैं । ये सब लेश्यायें जीवों के विशेष भावों के अनुसार होती हैं । ध्यान चार प्रकार के, मार्गणा चतुर्दश प्रकार की, धर्म दश प्रकार के, अन्तरंग एवं बहिरंग के योग से तप के द्वादश प्रकार हैं ।

भगवान द्वारा धर्म का स्वरूप सुनकर नारायण श्रीकृष्ण ने त्रेसठ शलाका पुरुषों का चरित्र पूछा । भगवान ने पाँचों कल्याणकों के नाम, स्वर्ग से चय कर आनेवालों के नाम, नगर, माता-पिता, नक्षत्र, वर्ण, ऊँचाई, वंश, राज्य काल, तप, ज्ञान, निर्वाण-स्थान तथा कितने राजाओं के संग उन्होंने दीक्षा ली आदि छियालीस ज्ञातव्य तथ्य प्रत्येक तीर्थंकर के विषय में बतलायें । इसके उपरान्त् षट्-खण्ड पृथ्वी के अधिपति द्वादश चक्रवर्तियों, नव-नारायणों, नव-प्रतिनारायणों एवं नव-बलभद्रों के नगर, वंश, एवं तीर्थंकरों के तीर्थ-काल में उत्पन्न हुए प्रमुख व्यक्तियों की उत्पत्ति, वृद्धि, निधन आदि विषयों का सम्यक् प्रतिपादन किया । भगवान की अमृतमयी वाणी सुनकर समस्त सभा विमुग्ध हो गयी । फलतः सब लोग वैराग्य की

ओर आकर्षित हुए ।

समवशरण-सभा में श्रीकृष्ण का भ्राता गजकुमार भी उपस्थित था । उसे अकस्मात् वैराग्य उत्पन्न हो गया । तब वह तीर्थंकर भगवान से दीक्षित होकर पर्वत के शिखर पर चला गया एवं वहाँ अपना केशलोंच कर ध्यानस्थ हो गया । गजकुमार का सोमशर्मा नाम का क्रोधी श्वसुर था । जब उसे जामाता की दीक्षा का संवाद मिला, तो वह उसके समीप आया । उसने मुनि गजकुमार से घर लौट चलने के लिए अनुरोध किया । किन्तु जब उसके आग्रह से मुनि प्रभावित नहीं हुए, तो उसने उनके शीश पर अग्निमयी दीग्धका (कुण्डी) रख दी, जिससे मुनि की काया जलने लगी । फिर भी वे अपने ध्यान से रंचमात्र भी च्युत नहीं हुए, फलस्वरूप उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ । तत्पश्चात् उन्हें मोक्ष (निर्वाण) की प्राप्ति हुई ।

यह सम्वाद समवशरण में उपस्थित देवों को भी मिला, तब वे सब गजकुमार की ओर चले । श्रीकृष्ण ने तत्काल भगवान से प्रश्न किया--'हे प्रभु ! देवगण जय-जयकार करते हुए कहाँ जा रहे हैं ?' भगवान ने बतलाया कि गजकुमार को मोक्ष की प्राप्ति हुई है, अतः ये देव एवं मनुष्य समुदाय वहीं जा रहा है ।' सबको महान आश्चर्य हुआ । वे समवशरण में ही गजकुमार को ढूँढ़ने लगे । किन्तु जब भगवान ने समस्त वृत्तान्त सुना दिया, तो वे अत्यन्त प्रभावित हुए । कुछ ने भगवान से जिन-दीक्षा ले ली, कुछ ने अणुव्रत लिए तथा कई व्यक्तियों ने गृहस्थों के षट्-कर्म पालन के व्रत लिये । भगवान की वाणी से सभी सन्तुष्ट हुए, कुछ को सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई । नारायण श्रीकृष्ण को भी संसार की असारता समझ में आ गई। उन्होंने सोचा कि जितने त्रेसठ शलाका पुरुष हुए थे, वे सब विनाश को प्राप्त हो गये । इसी प्रकार बलदेव ने भी अपने चित्त की जिज्ञासा भगवान से पूछी । वे कहने लगे--'हे नाथ ! जो वस्तु अनादि है, अकृत्रिम है, उसके विनाश की तो कल्पना ही नहीं है । पर जो पदार्थ उत्पन्न हुए हैं, उनका विनाश तो सम्भव है। अतएव कृपया यह बतलाइये कि इस द्वारिका का कब विनाश होगा एवं श्रीकृष्ण क्या सदैव जीवित रहेगा?' भगवान ने कहा--द्वादश (बारह) वर्ष पश्चात् द्वीपायन मुनि के शाप के प्रकोप से द्वारिका नष्ट हो जायेगी तथा उनके क्रोध का मूल कारण मद्य होगा । श्रीकृष्ण की मृत्यु का कारण जरत्कुमार होगा । वह आखेट के लिए वन में जाकर शर-सन्धान करेगा तथा उसी शर से श्रीकृष्ण की मृत्यु हो जायेगी ।' भगवान का कथन सुनकर सब श्रोतागण शोक-सन्तप्त हो गये । आसन्न भविष्य में द्वारिका के नष्ट होने

तथा श्रीकृष्ण की मृत्यु की बात सुनकर कितने ही नगर-निवासियों ने द्वारिका त्याग दी । कुछ लोग सर्वज्ञ देव की शरण में जाकर दीक्षित हो गये । जरत्कुमार भी यह विचार कर निर्जन वन में चला गया कि जब सर्वजन पूजित श्रीकृष्ण उसके द्वारा निहत होंगे, तो उसका वहॉं नहीं रहना ही उपयुक्त होगा । तत्पश्चात् श्रीकृष्ण ने द्वारिका नष्ट होने के भय से नगर में मुनादी करा दी कि मद्य पान करनेवाले व्यक्ति मद्य का सर्वथा त्याग कर दें । साथ ही यह भी प्रकट किया कि उनके सम्बन्धी, स्त्री-पुत्र आदि जो भी जिन-दीक्षा लेना चाहें, तो उन पर कोई निषेध या प्रतिबन्ध नहीं है ।

द्वारिकापुरी के भावी विनाश से व्याकुल सूर्य ने अपने को अस्ताचल में छिपा लिया । कमलिनी मुख मलीन कर रुदन करने लगे । रक्त वर्ण संध्या नष्ट होने लगी । संध्या के बीत जाने पर चतुर्दिक अन्धकार छा गया । क्रम से तारागण के दर्शन होने लगे । कुछ काल पश्चात् कुमुदिनी को प्रफुल्लित करते हुए चन्द्रदेव प्रकट हुए । पर जिन रमणियों के पतिदेव विदेश में थे, उनके लिए वह रात्रि बड़ी विकट थी । संयोगिनी स्त्रियों ने श्रृंगार करना, पति के अपराध से कोप धारण करना तथा सम्वाद-प्रेषक दासियों को भेजना--ये कार्य आरम्भ कर दिये । क्रम से रति-क्रीड़ा आरम्भ हुई । कुछ लोग क्रीड़ामें संलग्न हुए वं कुछ लोग नि:सार समझ कर विरक्त हुए । अनेक लोगों की विरक्ति का कारण यह भी था कि जब साक्षात् कुबेरपुरी सदृश द्वारिका ही नष्ट हो रही है, तो भला कौन-सा सांसारिक सुख स्थायी होगा ? क्या कंस, जरासंध सदृश प्रचण्ड वीरों को निहत करनेवाले नारायण श्रीकृष्ण की द्वारावती भस्मीभूत हो जायेगी ? यह आश्चर्य की वस्तु नहीं तो और क्या है । सत्य है, संसार का वैभव जल के बुदबुदे तथा इन्द्रजाल के सदृश है । मानव देह रोगों का निवास है, नारियॉं दोषों से पूर्ण हैं, धन अनर्थ का कारण होता है । मित्रता का स्थिर होना कदापि सम्भव नहीं, संयोग के पश्चात् वियोग निश्चित है । यह समझ कर मनुष्यों को तपोनिधियों की सेवा करनी चाहिये एवं दीक्षा ग्रहण कर मुनि हो जाना चाहिये । चन्द्रदेव ने भी रात्रि से सम्बन्ध त्यागा । सूर्य के उदय के संग रात्रि समाप्त हुई एवं चन्द्रमा अस्त हो गया ।

कुक्कटों ने प्रभात के आगमन की सूचना दी । गन्धर्वों ने गान प्रारम्भ किया तथा बन्दीजनों की जय-ध्वनि होने लगी । एक विराट कोलाहल से सबकी निद्रा भंग हुई । अन्धकार को चीर कर सूर्यदेव उदयाचल पर आ गये थे । पर्वत के ऊपरी भाग पर सिन्दूर वर्ण तथा सौम्य रूप बाल सूर्य ऐसा प्रतीत हो

श्री प्रद्युम्न चरित्र

रहा था, मानो वह भविष्य मे होनेवाली दुर्घटना से आशकित हो ।

पंचदश सर्ग

एक दिवस यादवो की सभा बैठी थी । नारायण श्रीकृष्ण सिहासन पर विराजमान थे । सामन्तो, मन्त्रीगण, विद्याधरो तथा बलभद्रादि राजाओं से घिरे हुए श्रीकृष्ण सूर्य सम तेजस्वी हो रहे थे । उनकी आभरण युक्त देहयष्टि की शोभा अवर्णनीय हो रही थी । उनके हृदय-पटल पर कौस्तुभ मणि शोभा पा रही थी एव मस्तक पर छत्र सुशोभित था । विभिन्न प्रकार की कला तथा विनोद से कलाकार उनका मनोरंजन कर रहे थे । फिर भी उनके हृदय मे शका की छाया दृष्टिगोचर हो रही थी । अकस्मात् सभा में उनके विद्या-विशारद पुत्र कुमार प्रद्युम्न का आगमन हुआ । वह अपने पिता तथा स्वजनों को नमस्कार कर योग्य सिंहासन पर बैठा । उसका चित्त विषय-वासनाओं से विरक्त हो रहा था । जब अन्यान्य चर्चाये समाप्त हो गयीं, तो कुमार ने करबद्ध निवेदन कर अभयदान की प्रार्थना की । उसने कहा--'हे पूज्य पिताश्री ! आपकी कृपा से मुझे भोगोपभोग की समस्त सामग्रियाँ उपलब्ध हैं, किन्तु ये समग्र वस्तुएँ नश्वर हैं । इसलिए आप प्रसन्नतापूर्वक आज्ञा दें, जिससे मै इस दु.ख के कारणभूत ससार-भ्रमण से मुक्त होने हेतु जिनेन्द्र भगवान से दीक्षा ले लूँ ।'

प्रद्युम्न की अभिलाषा सुनकर समस्त सभा शोकमग्न हो गयी । गुरु जन मूर्च्छित हो गये । सचेत होने पर उन्होने स्नेह से समझाया--'हे पुत्र ! क्या तुम इतने कठोर हो गये हो ? बन्धुवर्गो को सत्रस्त करने वाले ऐसे वचन तुम्हारे मुख से कैसे निकलते है ? हे वीर ! अभी तुम युवा हो । तुम्हे भोगों को भोगना चाहिये। यह सत्य संयम का नहीं है, तुम दीक्षा के योग्य नहीं हो । यद्यपि श्री जिनेन्द्र भगवान ने कहा है, फिर भी तुम्हें व्यर्थ मे भयभीत नहीं होना चाहिये । तुम विद्वान, चतुर एव श्रेष्ठ हो । इसलिये तुम्हारा दीक्षा ग्रहण करना युक्तियुक्त नहीं होगा ।'

बन्धुओ का मलीन मुख देख एव उन्हें विषादयुक्त लक्ष कर प्रद्युम्न ने कहा--'हे पूज्य वर्ग ! केवली भगवान के वाक्य कभी मिथ्या नहीं हो सकते, पर उस हेतु मुझे किचित् भी भय नहीं है । कारण अपने कर्मो के बन्ध के अतिरिक्त मनुष्य को भय किस वस्तु का ? ससार मे शत्रु-मित्र कोई अपना नहीं है ।

श्री प्रद्युम्न चरित्र

अगणित भवों में अगणित मित्र हो जाते हैं । इस अवस्था में किन बन्धुओं के साथ स्नेह किया जाय ? इसलिये आप महानुभावों को दुःख नहीं करना चाहिये ।' प्रद्युम्न की ऐसी मार्मिक तत्व विवेचना से श्रीकृष्ण का कण्ठ भर आया । तब गुणी प्रद्युम्न ने कहा--'हे तात ! आप उपदेष्टा होकर क्यों शोक करते हैं ? क्या आपको भी बताने की आवश्यकता पड़ेगी कि आयु क्षीण होने पर मृत्यु जीव का भक्षण कर लेती है--उसके लिए कुमार, युवा, वृद्ध, मूर्ख, पण्डित, कुरूप एवं सुन्दर सब समतुल्य हैं । क्या युवा एवं चतुर होने के कारण मृत्यु से मुझे त्राण मिल जायेगा ? यदि ऐसा ही है तो आप कृपया बतलायें कि भरत चक्रवर्ती का पुत्र एवं सुलोचना का पति मेघेश्वर, आदिनाथ भगवान का प्रतापी पुत्र भरत चक्रवर्ती तथा आदित्यकीर्ति आदि कहाँ चले गये ?' ऐसे ही वैराग्य युक्त वचनों से पिता को समझा कर तथा अपने राजपद पर प्रिय अनुज शम्भुकुमार को नियुक्त करवा कर प्रद्युम्न अपनी माता के महल में गया ।

माता को साष्टांग प्रणाम कर प्रद्युम्न ने कहा--'हे माता ! अपने बाल्यकाल से अब तक के किये हुए अपराधों की मैं क्षमा माँगने आया हूँ । मैं पुत्र हूँ ! क्षमा करना आपका कर्तव्य है । आज से मैं दिगम्बरी मुनियों के व्रत ग्रहण करने जा रहा हूँ । वे व्रत काम रूपी ईंधन को भस्म करने के लिए दावानल के सदृश हैं । हे माता ! आपको प्रसन्नतापूर्वक आज्ञा देनी चाहिये ' प्रद्युम्न के वचन सुनकर रुक्मिणी मूर्च्छित होकर गिर पड़ी । जब सचेत हुई, तो उसने कहा--'क्या इस दुःखिनी माता का त्याग कर तेरा प्रस्थान उचित है? यदि तू दीक्षा के लिए उद्यत है, तो अपनी माता को क्यों दुःखी करता है ?' माता को दुःखी देखकर प्रद्युम्न कहने लगा--'हे प्रिय जननी ! आप इस अनित्य संसार को स्थायी समझ रही हैं । किन्तु क्या यह नहीं ज्ञात है कि जीव को अकेले ही अपने कर्म फल भोगने पड़ते हैं । इसलिये विवेकी पुरुष किसी के विच्छेद से शोक नहीं करते । यह मोह ही दारुण दुःख का प्रदाता है । जन्म के उपरान्त मृत्यु, यौवन के उपरान्त वृद्धावस्था, स्नेह के उपरान्त दुःख निश्चित है । इन्द्रियों के विषय-भोग विष के सदृश दुःखदायी हैं । इसलिये सुकृत करने का यत्न करनेवाले व्यक्ति का निषेध करना, उसक साथ शत्रुता है । अतः हे मातृश्री ! आप अब शोक त्याग कर मुझे दीक्षा लेने के लिए अपनी आज्ञा प्रदान करें ।' पुत्र के वचन सुन कर रुक्मिणी का मोह विनष्ट हो गया । उसने कहा--'हे पुत्र ! मैं पुत्र-वधू एवं पुत्र के मोह से भ्रमित थी। अब मेरा मोह तिरोहित हो गया है । इस विषय में तुम मेरे गुरु के समतुल्य हो । अब मुझे भी ज्ञात हो

श्री प्रद्युम्न चरित्र

गया कि समस्त सासारिक पदार्थ क्षणभगुर है । तप तथा सयम ही संसार में ध्रुव सत्य है । विषयों की प्रीति अवश्य ही विनाशक की ओर ले जाने वाली है । यदि सासारिक षिषयों में लेशमात्र भी तत्व होता, तो श्री आदिनाथ तीर्थंकर आदि महापुरुष उससे विरक्त ही क्यों होते ? यदि कुटुम्बीजनों का संग शाश्वत होता, तो सम्राट भरत तपस्या के लिए क्यो प्रस्तुत होते ? अवश्य ही तुझे मोक्ष का सुख प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए । मै अब तेरा निषेध नहीं कर रही, वरन् स्वयं भी दीक्षा लेने का विचार कर रही हूँ ।'

माता के कथन से कुमार को अपूर्व प्रसन्नता हुई । फिर उसने अपनी पत्नियों को समझाया--'यह जीव संसार में चिरकाल तक भ्रमण कर मानव जन्म पाता है एवं श्रेष्ठ कुल में जन्म पाना अत्यधिक कठिन है। इसके उपरान्त राज्य एवं वैभव का भी प्राप्त होना तो अत्यन्त दुर्लभ है । ये समग्र दुर्लभ वस्तुएँ मुझे अनायास प्राप्त हुईं । किन्तु अब मानव जीवन का जो यथार्थ कर्तव्य है, उसकी पूर्ति करना चाहिये । इस प्राणी को नारियो के लिए सब कुछ करना पड़ता है । सदैव विषयों में अनुरक्त रह कर काल के गाल में तक जाना पड़ता है । नारियों के लिए धन की आवश्यकता होती है तथा धन के लिए युद्ध आदि कार्य करने पड़ते हैं । तात्पर्य यह कि ऐसा एक भी उसका कार्य नहीं, जिसे मनुष्य नारी-संयोग के लिए नहीं करता । तुम लोगो के संग भी भोग भोगते हुए मेरी कामतृष्णा की तृप्ति नहीं हुई, वरन् वह उग्रतर ही हुई है । इसलिये मेरा गृहस्थी में रहना अब उचित नहीं, अतएव तुम सबको मेरे प्रति क्षमाभाव धारण करना चाहिये ।'

प्रद्युम्न के वैराग्य-जन्य वचनों से रति आदि उसकी रानियाँ दुःख से व्याकुल हो गयीं । उन्होंने करबद्ध विनती कर कहा--'हे नाथ ! हमारे आश्रय तो आप ही हैं । हम सब आपकी शरण में हैं । जब हम आपके संग भोग में सम्मिलित रहीं, तो अब दीक्षा लेकर आपके संग तपश्चरण भी करेंगी । अतएव आप प्रसन्नतापूर्वक जिन-दीक्षा ग्रहण करें । हम सब भी भगवान के बतलाये हुए व्रत ग्रहण करेंगी एवं उनकी वन्दना करेंगी । आप भी संसार का त्याग करें एवं हम भी आर्यिका राजमती के समीप दीक्षा व्रत धारण कर उत्कृष्ट तप करेंगी ।' अपनी पत्नियों के ऐसे वैराग्य-युक्त वचन सुनकर कुमार को हार्दिक प्रसन्नता हुई । उसने यह समझा कि उसे संसार रूपी कारावास से मुक्ति मिल गई हो । प्रद्युम्न अपनी संगियों के

साथ गजराज पर आरूढ़ होकर घर से बाहर निकला । नगर-निवासियों ने उसकी यथेष्ट प्रशंसा की । किसी ने कहा--'नारायण श्रीकृष्ण स्वयं जिसके पिता, त्रैलोक्य सुन्दरी रुक्मिणी जिसकी माता, कलासंयुक्ता एवं सुलक्षणा जिसकी पत्नियाँ हों, जब वह भी तपस्या के लिए प्रस्तुत हो, तब भला इससे श्रेष्ठ संयोग क्या हो सकता है ?' एक चतुर पुरुष बोल उठा--'सम्पूर्ण शास्त्र-पारंगत प्रद्युम्न सांसारिक सुखों को ठुकरा कर मोक्ष प्राप्ति की आकांक्षा से तपस्या के लिए उद्यत हुआ है, उसका दयालु हृदय वैराग्य से परिपूर्ण हो रहा है ।' इस तरह वार्तालाप करते हुए वे नागरिक-वृन्द भी उदासीन-चित्त प्रद्युम्न से कहने लगे--'हे गुणों के समुद्र ! आपकी कीर्ति संसार में व्याप्त हो । आप संसार की असारता को स्मरण करते हुए आत्म-कल्याण करते रहें ।' जन-सामान्य से आशीर्वाद प्राप्त करते हुए प्रद्युम्न गिरनार पर्वत पर जा पहुँचा। समवशरण तक पहुँचने के पूर्व ही कुमार गजराज से उतर गया तथा राज्य विभूतियाँ त्याग दीं । पूर्व के प्राप्त षोडश लाभों तथा श्रेष्ठ विद्याओं का भी उसने परित्याग कर दिया । वह समग्र इष्टजनों को नमस्कार कर समवशरण में जा पहुँचा । समवशरण में आते हुए असुरों की विपुल संख्या थी। प्रद्युम्न ने भगवान को नमस्कार करते हुए कहा--'हे नाथ ! आप भव समुद्र से पार लगाने वाले हैं, आपके द्वारा भक्तों के कष्ट दूर होते हैं । अतएव जन्म-जरा-मृत्यु को विनष्ट करने वाली दीक्षा मुझे प्रदान कीजिये ।' प्रद्युम्न ने अपने समस्त आभूषण उतार दिये तथा केशों का लोंच कर लिया, समस्त लौकिक परिग्रह त्याग कर अनेक राजाओं के साथ दीक्षा ली । अब वह सर्वगुण-सम्पन्न प्रद्युम्न संसार-मोह से अत्यन्त विरक्त हुआ । भानुकुमार के विरक्ति से समस्त विभूतियों का परित्याग कर दीक्षा ले ली । भानुकुमार के अकस्मात् दीक्षित हो जाने से कुटुम्बीजनों को गहन विषाद हुआ ।

तत्पश्चात् सत्यभामा, रुक्मिणी, जाम्बुवन्ती आदि रानियों ने भगवान की सभा में उपस्थित होकर राजमती आर्यिका के समीप दीक्षा ली । वे अपने हृदय के राग का प्रक्षालन कर घोर तप करने लगीं । इधर प्रद्युम्न भी उत्कृष्ट तप में संलग्न हुआ । फलस्वरूप उसके गुणों की चर्चा सर्वत्र होने लगी ।

षोडश सर्ग

मुनि प्रद्युम्न ने घोर तप किया । उन्होंने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र संयुक्त होकर देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति करते हुए अनेक लब्धियाँ प्राप्त कर लीं । वे एक दिवस से प्रारम्भ कर मास पर्यंत तक के उपवास करते थे । उनके

श्री प्रद्युम्न चरित्र

राग-द्वेष, क्रोधादिक कषाय नष्ट हो गये । जिनागम मे मुनियो के आहार के लिए ३२ ग्रास कहे गये हैं । वे उन्हे घटाते हुए ऊनोदर तप करते थे । इनके अतिरिक्त जैन शास्त्रो मे सिह विक्रीडत, हारबन्ध, वज्रबन्ध, धर्मचक्र, बाल आदि विभिन्न प्रकार के काय-क्लेश तप कहे गये हैं, उन्हे भी वे करते थे । वे घृत, गुड, तैल, दही, शक्कर, नमक आदि षटरस का त्याग कर देह (काया) रक्षा की दृष्टि से शुद्ध आहार लेते थे । प्रद्युम्न ने जैसा दुर्द्धर तप किया, उसका वर्णन हमारी तुच्छ लेखनी द्वारा कदापि सम्भव नहीं है ।

मृगादि जीवो से रहित प्रासुक्त स्थान मे मुनि प्रद्युम्न 'विविक्त शैय्यासन' नामक तप करते थे । वे वर्षा काल मे वृक्ष के नीचे योग धारण कर लेते थे । शरद काल मे नदी के तट पर एव ग्रीष्म काल मे पर्वतो की शिलाओ पर आसन जमा कर तप किया करते थे । इस प्रकार पापातिचार रोकने के लिए मुनीश्वर प्रद्युम्न ने बाह्य काय-क्लेशादि योग से घोर तपश्चरण किया । उन्होंने श्री जिनेन्द्र भगवान द्वारा वर्णित द्वादशाग श्रुतज्ञान का भक्तिपूर्वक अध्ययन किया । वे देह से उदासीन हो गये । रौद्रादि ध्यानो का परित्याग कर वे धर्मध्यान एव शुक्ल-ध्यान मे लीन हो गये । प्रतिक्रमण, वन्दना, आदि नियमो का विधिपूर्वक पालन करते थे । ताडना आक्षेप एव अपमान से उनका क्षमा-शील हृदय किंचित् भी विचलित नहीं होता था । मुनिराज प्रद्युम्न उत्कृष्ट मार्दव गुण को धारण कर अतुलनीय शोभित हुए । प्रचण्ड पराक्रमी एव महान् योगी वृन्द उनकी वन्दना करते थे । वे तीर्थंकर भगवान के उपदेशानुसार उत्तम शौच, उत्तम सयम, तप, त्याग, निर्लोभ आदि धर्मो का पालन करते थे, जो मोक्ष-मार्ग के लिए सोपान एव ससार-समुद्र के शोषक हैं । जिस प्रकार उन्होंने अपने राज्यकाल में शत्रुओं को परास्त किया, उसी प्रकार उनके द्वारा क्षुधा-तृषादि परीषह परास्त हुए, जिन पर विजय प्राप्ति सर्वसाधारण के लिए सरल नहीं है।

पहिले जिस प्रद्युम्न के लिए पुष्पों की कोमल शैय्या बिछाई जाती थी, वे अब मुनि अवस्था मे तृण (घास) एव कक्कड पर शयन करने लगे । जिनकी आताप (उष्णता) निवारण के लिए छत्र एव चन्दनादि शीतलोपचार का उपयोग होता था, वे पर्वत के शिखर पर सूर्य की तीव्र किरणो का ताप सहन करने लगे। जिसका षट्रस भोजन कामनियो के कोमल करो (हाथो) से प्रस्तुत होता था, उन्हे उपवासो को सहन करते देख भला किसे आश्चर्य न होगा ? जिसकी सेवा मे राजागण सलग्न रहते थे, वे राज्य-लक्ष्मी का परित्याग कर तपोवन मे मुनियों के साथ विहार करने लगे । जिसने विद्याधर एव भूमिगोचरी राजाओं की कन्याओ के सग दीर्घकाल तक सासारिक भोगो का उपभोग किया, उसने उनको त्याग कर दीक्षा ले ली । आचार्य का कथन है कि यह सब देखकर हमे महान् आश्चर्य

श्री प्रद्युम्न चरित्र

होता है । यह कल्पना भी नहीं की जा सकती कि जो रसिक कुमार षोडश आभरण धारण करता था, वे द्वादशांग रूपी आभरण से युक्त वीतरागी बने। नर्तकियों के नृत्य-गीतों में जिससे अपना समय व्यतीत किया हो, वह हिंसक पशुओं के मध्य धर्म-ध्यान में मग्न हो गये । कहाँ कुमार का रथों पर विचरण एवं कहाँ आत्म-ध्यान में लीन निर्ग्रन्थ तपस्वी का पृथ्वी पर विहार ? जिसने कामिनियों के संग मधुर सम्भाषण किया हो, वह दयालु होकर सर्व जीव हितकारी उपदेश देने लगे । पूर्व में जिसका कार्य बलपूर्वक अन्य की कन्याएँ अपहरण करना था, वे इस मुनि अवस्था में पर-धन तथा पर-नारी को क्रमशः तृण एवं माता के समतुल्य समझने लगे ।

इस प्रकार मुनि प्रद्युम्न ने दुःसह तप एवं चरित्र का पालन किया । यह कार्य धीर-वीर तथा बुद्धिमानों का है, कायरों का नहीं । वे शुद्ध बुद्ध पापरहित योगीन्द्र गिरनार पर्वत में एक ध्यान के योग्य वन में जा पहुँचे । उन्होंने सम्यग्दर्शन की शक्ति से मोहनीय कर्मो का विनाश किया । वे आम्र-वृक्ष के तले जन्तु-रहित शिला पर आसीन हुए तथा चित्त का निरोध कर ध्यान में मग्न हो गये । मुनिराज का धर्म-ध्यान स्थिर होता गया । क्रम-क्रम से उनकी कर्म-शुद्धि होती गयी । वे प्रमत्तादि गुण स्थानों से मुक्त होकर एवं चित्त का निरोध कर ऊपर की श्रेणी में जा पहुँचे। अष्टम अपूर्वकरण गुणस्थान का परित्याग कर अनिवृत्तिकरण में स्थिर हुए । उन्होंने षोडश कर्म प्रवृत्तियों का क्षय किया--द्वितीय भाग में प्रत्याख्यानावरणी--क्रोध, मान, माया, लोभ तथा अप्रत्याख्यानावरणी--क्रोध, मान, माया, लोभ उक्त आठ प्रकृतियों का घात किया, तृतीय में नपुंसक वेद प्रकृति का, चतुर्थ में स्त्री-वेद प्रकृति का, पंचम में हास्य-रति-अरति-शोक-भय-जुगुप्सा तथा पुरुष-वेद का, एवं षष्ठ, सप्तम, अष्टम में क्रम से संज्वलन-क्रोध -मान-माया का उन्होंने विनाश किया । तत्पश्चात् सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में संज्वलन लोभ प्रकृति का घात किया तथा द्वादश क्षीण कषाय गुणस्थान में सम्पूर्ण घातिया कर्म विनष्ट हो गये । तदनन्तर आदि-अन्त रहित अज्ञान हीन तथा सर्वांग मनोज्ञ त्रयोदश गुणस्थान में प्रवेश किया, जिसका कभी विनाश सम्भव नहीं । मुनि प्रद्युम्न ने लोकालोक को प्रकाशित करनेवाले सर्वोत्तम केवलज्ञान का लाभ किया । यह ज्ञान आत्म-हितचिन्तक तथा इन्द्रिय अगोचर सुख का कारण है । केवलज्ञानरूपी सूर्य के उदय होते ही एक छत्र, दो चॅवर तथा एक मनोहर सिंहासन--ये वस्तुएँ प्रगट हुईं । कुबेर ने पूर्ण भक्तिभाव से ज्ञान-कल्याणक के लिए गन्धकुटी का निर्माण किया ।

मुनिराज प्रद्युम्न के केवलज्ञानी होने का सुसम्वाद चतुर्दिक विस्तारित हो गया । उनके दर्शन के लिए असुर जाति के देव, इन्द्रादि विमानवासी देव, सूर्य आदि ज्योतिषीदेव, किन्नर, व्यंतरदेव आदि गिरनार पर्वत पर जा पहुँचे।

श्री प्रद्युम्न चरित्र

श्रीकृष्ण आदि यदुवशी तथा उनके संग अनेक विद्याधर तथा भूमिगोचरी राजा आये। सबने आनन्दपूर्वक केवली भगवान को नमस्कार किया । अक्षतादि गंध, धूप, नैवेद्य, मनोहर, फलादि तथा नृत्य, गीत, वीणा, बॉसुरी, मृदंग आदि का वादन कर भगवान की पूजा की गयी । तत्पश्चात् सब लोग धर्म का श्रवण कर अपने-अपने स्थान को लौट गये ।

योगिराज प्रद्युम्न तीर्थंकर भगवान श्री नेमिनाथ के संग विहार के लिए निकले । वे विहार करते हुए वल्लभ देश मे जा पहुँचे । आर्यिका संघ भी राजमती के नेतृत्व में उसी देश में आ पहुँचा । इस प्रकार भगवान श्री नेमिनाथ एक बड़े संग के साथ विहार करने लगे । यहॉ एक अन्य कथा प्रारम्भ होती है--

द्वीपायन मुनि का प्रसंग पूर्व में आ चुका है । उन्होंने द्वारिका के नष्ट होने की अवधि द्वादश वर्ष बतलाई थी। यदुवशी परस्पर यह कहने लगे कि द्वादश वर्ष समाप्त प्रायः हैं एवं अब भय करने का कोई कारण नहीं-मुनि ने शायद भूल से ही कहा होगा । द्वारिका नष्ट होने की अवधि अभी शेष थी । गीष्म की ऋतु थी । अपने तप का परीक्षण करने के लिए द्वीपायन मुनि नगर के बाहर एक शिला पर आसीन हुए । संयोग से उसी समय शम्भुकुमार, सुभानुकुमार आदि यादव कुमार वन-क्रीड़ा के लिए गये । प्रचण्ड ग्रीष्म के कारण उन्हें तीव्र पिपासा लगी । वे जल के सधान में यत्र-तत्र विचरण करने लगे । अकस्मात् पर्वत की कन्दरा में रखे हुए कुछ पात्रो पर उनकी दृष्टि पडी, जो जल से परिपूर्ण थे । यहॉ यह बतला देना आवश्यक है कि ये सब पात्र मद्य के थे, जिन्हे श्री नेमिनाथ भगवान के मुख से द्वारिका नष्ट होने की वाणी सुनकर नगर-निवासी पर्वत की कन्दरा में रख आये थे । वर्षा में जल एवं वायु के झकोरों से उनमे पुष्प-पत्तियॉ पड़ा करती थीं । इसलिये उन बर्तनों का जल मद्य (शराब) सदृश उन्मत्त करनेवाला हो गया था । पिपासु राजपुत्रों ने वही जल पी लिया । उनके नेत्र रक्तवर्णी हो गये । वे उन्मत्त होकर परस्पर कलह करने लगे । जब ये राजकुमार द्वारिका नगर के द्वार पर जा पहुँचे, तो उनकी दृष्टि एक क्षीणकाय मुनिराज पर पड़ी । मुनिराज को देखकर वे बड़े क्रोधित हुए । उन्हें स्मरण हो आया कि इसी द्वीपायन मुनि द्वारा द्वारिका भस्म होगी । इसलिये इसका वध कर डालना चाहिये । वे राजकुमार मुनि को पत्थर मारने लगे । वे तब तक पत्थर मारते रहे, जब तक द्वीपायन मुनि भूमि पर नहीं गिर पडे । फिर भी मुनि को क्रोध नहीं आया । वे धीर-वीर समस्त उपसर्ग मौन रह कर सहन करते रहे । यहॉ तक कि उन्मत्त राजकुमारों ने मुनि के मस्तक पर मातंग (चाण्डाल) से मूत्र तक डलवाया । तब इस नीच कृत्य से मुनि को कुछ क्रोध अवश्य उत्पन्न हुआ । वे कठिन

प्रहार से भूतल पर गिरे हुए तो थे ही । उधर वे अविवेकी राजकुमार द्वारावती में लौट आये ।

इस दुर्घटना का सम्वाद जब श्रीकृष्ण एवं बलभद्र को मिला, तो वे तत्काल मुनि के समीप जा पहुँचे । उन्होंने मुनि से प्रार्थना की--'हे प्रभो! आप योगीन्द्र हैं। अविवेकी युवकों का अपराध क्षमा कीजिये।' तब मुनि ने क्रोधित होकर उनकी ओर देखा एवं इंगित से स्पष्ट किया कि केवल तुम दोनों (श्रीकृष्ण-बलदेव) के अतिरिक्त समस्त द्वारिका भस्म हो जायेगी । मुनि के वाक्य को ध्रुव सत्य समझ कर नारायण एवं बलदेव नगर में गये । उन्होंने सबसे कहा--'चलो कहीं प्राण-रक्षा की जाय । यदि यहाँ कोई रहेगा, तो उसका विनाश अवश्यम्भावी है ।' यह सुनकर शम्भुकुमार, सुभानुकुमार एवं प्रद्युम्न-पुत्र अनिरुद्धकुमार गिरनार पर्वत पर चले गये । अपने हाथ से अपने शीश का केशलोंच कर तथा अपने वस्त्राभूषणों का परित्याग कर उन्होंने वैराग्यपूर्ण उज्ज्वल चारित्र धारण कर लिया।

तत्पश्चात् द्वीपायन मुनि की तैजस देह से द्वारिका का भस्म होना एवं जरत्कुमार के शर-सन्धान से नारायण श्रीकृष्ण की मृत्यु की कथा 'हरिवंश पुराण' में विस्तार से वर्णित है । इस कथा को दुःखान्त समझ कर नहीं लिखा गया । शम्भुकुमार आदि तप करने में संलग्न थे । उन्होंने आर्त-ध्यान तथा रौद्र-ध्यान का परित्याग कर शुक्ल-ध्यान ग्रहण किया था । उसी समय पर्वत पर श्री नेमिनाथ भगवान का पवित्र आगमन हुआ । तीनों राजकुमारों ने उनसे दीक्षा ग्रहण की । वे पुनः षट् प्रकार के तप करने लगे । उनका तप दुर्द्धर था ।

हेमन्त में उन्मत्त पवन में एवं ग्रीष्म में पर्वत के शिखर पर उनका योग धारण होने लगा । वर्षा काल में वृक्ष के तले बैठ कर तप करते उन्हें किंचित् मात्र कष्ट नहीं होता था । चतुर्दश वर्षों तक कठिन तप करने के पश्चात् उनके घातिया-कर्म समूह नष्ट हुए । समस्त संसार को प्रकाशित करनेवाला केवलज्ञान उन्हें प्राप्त हुआ । वे तीनों केवलज्ञानी मुनि श्री नेमिनाथ भगवान के साथ विहार करने लगे । भगवान श्री नेमिनाथ ने जैन धर्म का प्रसार कर संसार के भव्य-जीवों का मंगल साधन किया । उनकी चरण-रज से सुर-असुर तथा मनुष्यों के स्थान पवित्र हुए। विद्याधर, चक्रवर्ती, देवेन्द्र आदि पग-पग पर उनकी वन्दना करते थे । भगवान पुनः गिरनार की सिद्ध-शिला पर आसीन हुए । उन्होंने पर्यंकाशन योग से अघातिया-कर्म एवं उनकी प्रकृतियाँ नष्ट कीं । वे जन्म-जरा-मृत्यु रहित सिद्धस्वरूप को प्राप्त हो गये । साथ ही शम्भुकुमार, भानुकुमार एवं अनिरुद्धकुमार को भी मोक्ष की प्राप्ति हुई ।

गिरनार के पवित्र तीन शिखरों पर क्रम से प्रद्युम्नकुमार, शम्भुकुमार एवं अनिरुद्धकुमार का निर्वाण हुआ । मुनियों के मोक्ष होने के दिवस से ही गिरनार की प्रसिद्धि 'सिद्धक्षेत्र' के नाम से हुई । सुर-असुर दोनों उनकी पूजा

कर. लगे । भगवान श्री नेमिनाथ एवं प्रद्युम्नकुमार के मुक्त होनेवाले स्थान पर इन्द्रादि देवो का आगमन हुआ । तत्पश्चात् देवों ने नृत्य-गीतादि का आयोजन कर मोक्ष-कल्याणक का उत्सव सम्पन्न किया । सिद्ध भगवान की श्रद्धापूर्वक पूजा कर वे अपने-अपने स्थान को चले गये । जिन्होंने निर्मल सिद्धि प्राप्त की, जिन्हें क्षुधा-तृषा-रोग-शोक आदि दोषो ने स्पर्श तक नहीं किया, जो जन्म-जरा-मृत्यु-वियोग-त्रास आदि से सर्वथा मुक्त हैं, देवगण जिनकी चरण-वन्दना करते हैं, वे केवलज्ञानी भगवान मगलपूर्वक हमारे पापों का क्षय करे । जहाँ नारी-बन्धु की कल्पना नहीं, जहाँ रूप-वर्ण-स्थूल-सूक्ष्म की कल्पना नहीं, उस स्थान पर (मोक्ष स्थान) आश्रय ग्रहण करनेवाले मुनिगणों के आशीर्वाद से हमें सर्वदा सुख की उपलब्धि हो । यदुवंश के श्रृगार, श्री नेमिनाथ भगवान, जिन्होंने तीर्थंकर पद लाभ किया, हमें शान्ति प्रदान करे । मोक्षगामी प्रद्युम्नकुमार हमारी अभिवृद्धि करें । मोक्ष लाभ करनेवाले शम्भुकुमार तथा प्रद्युम्नकुमार के पुत्र अनिरुद्धकुमार भी, जिन्होंने अपने उत्कृष्ट गुणों के कारण अक्षय कीर्ति सम्पादित की, हमें अनिर्वचनीय आनन्द प्रदान करें ।

निवेदन--मैं व्याकरण, काव्य, तर्क, अलंकार तथा अलंकृत छन्दो से सर्वथा अनभिज्ञ हूँ । इस चरित्र की रचना मैंने कीर्ति सम्पादन की आकांक्षा से नहीं की, अपितु पाप क्षय होने के उददेश्य से की है । मेरा शास्त्र-पारंगत विद्वानों एवं परोपकारी भव्य पुरुषों से निवेदन है कि वे मुझ सदृश अल्प-बुद्धि के द्वारा रचनाबद्ध किये हुए गुण-समुद्र कुमार प्रद्युम्न के पवित्र चरित्र को संशोधित कर सर्वसाधारण में विख्यात करें ।

परिचय--श्रीरामसेन नामक आचार्य काष्टा संघ नदी तट नामक पवित्र स्थान में उत्पन्न हुए थे । उनके पद को सुशोभित करने वाले रत्नकीर्ति आचार्य हुए । शिष्य परम्परा के अनुसार श्री लक्ष्मणसेन तथा गुणी भीमसेन सूरि हुए । उन्हीं की चरण-कृपा से सोमकीर्ति सूरि ने इस रमणीक चरित्र की रचना की । भव्यजीवों को चाहिये कि वे भक्तिभाव से इसका अध्ययन करें ।

इस शास्त्र का रचना-काल पौष शुक्ल त्रयोदशी बुधवार सम्वत् १५३१ है । जब तक पृथ्वी एवं सुमेरु पर्वत की स्थिति है, सूर्यमण्डल-ग्रहादि तारे हैं एवं जब तक सज्जनों में पवित्र भावनाये हैं, तब तक श्री शान्तिनाथ जिनेन्द्र के चैत्यालय में भक्तिपूर्वक निर्मित सुखदायक एवं पवित्र यह शास्त्र स्थिर रहे । सर्वज्ञ देव के आशीर्वाद से 'प्रद्युम्न चरित्र' सदैव लोक-रंजक एवं धर्म-विजय का सेतु सिद्ध हो ।

श्री प्रद्युम्न चरित्र